वैदिक उपमा-कोष

ओ३म्

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

ओ३म्

कविं कवीनामुपमश्रवस्तम् (ऋग्० २/२३/१)

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्व. १०/८/२)

कविं काव्येनासि विश्ववित् (ऋग्० १०/६१/३)

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।

रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।। (श्रीमदप्पयदीक्षित, चि० मी०)

वैदिक उपमा-कोष

(A Dictionary of Vedic-Similes)

(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की बृहद् शोध-परियोजना
F.5-253/97 के अन्तर्गत निर्मित कोष का
संशोधित और परिवर्धित संस्करण)

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री डी.लिट्.
रीडर
वेदविभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार—249 404 (उत्तराञ्चल)
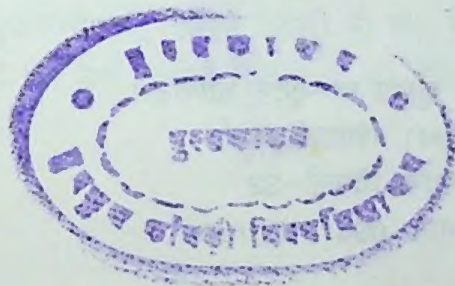
सत्यम् पब्लिशिंग हाउस,
नई दिल्ली-110059

ISBN : 81-88134-29-5

प्रकाशक : **आर. डी. पाण्डेय**
सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
एन–3/25, मोहन गार्डन,
नई दिल्ली–110059
दूरभाष: 25358642

मूल्य : 700.00

प्रथम संस्करण : 2005

शब्द संयोजक : **श्री कृष्णा कम्प्यूटर ग्राफिक्स**
1/6941, शिवाजी पार्क,
शाहदरा, दिल्ली–32
दूरभाष: 09818778738

मुद्रक : **बालाजी ऑफसेट**
शाहदरा, दिल्ली

समर्पण

- मातृमान्–पितृमान् की साक्षात् मूर्ति अपने माता–पिता स्व. श्रीमती पिश्तो देवी एवं स्व. श्री जयप्रकाश को, जिनसे प्राप्त लेखक का यह नश्वर शरीर वेद–कार्य में सम्पृक्त हो सका।
- वेदमनीषी श्रीयुत डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार जी को, जिनसे लेखक को प्रस्तुत विषय पर लिखने की सर्वप्रथम प्रेरणा प्राप्त हुई।
- सज्जनता की प्रतिमूर्ति, महान् वैयाकरण, आर्ष–ज्योति के संवाहक, **'वैदिक कोष'** के प्रणेता आचार्य राजवीर शास्त्री को, जिनका व्यक्तित्व और चरित्र बाल–काल से ही मेरा मूक प्रेरक और आदर्श रहा है।
- गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्वकुलपति, योगनिष्ठ प्रो. सुभाष विद्यालङ्कार को, जिनका व्यक्तित्त्व मुझे निरन्तर प्रेरणा देता रहता है।
- उन समस्त गुरुजनों को, जिनसे किसी भी रूप में आज तक ज्ञानकण की प्राप्ति हुई है। उन समस्त हितैषियों को, जिनकी सद्भावनाएं मेरे साथ हैं।

ओ३म्

आशीर्वाद

अलंकार सम्प्रदाय के भामह, दण्डी प्रभृति आचार्यों ने अलंकार को ही काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार किया है। इतर सम्प्रदाय भी काव्य के अंगीरूप में न सही अंगरूप में अलंकारों को मान्यता देते ही हैं। अलंकारों का प्रयोग प्राग्वर्ती वैदिक एवं लौकिक साहित्य में पहले ही विद्यमान था नामकरण आचार्यो द्वारा बाद में किया गया। काव्यशास्त्रियों में सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। इनमें यमक शब्दालंकार तथा शेष तीनों अर्थालंकार हैं। शनैः–शनैः अलंकारों की संख्या बढती गई, यहां तक कि अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द में यह संख्या १२५ तक पहुंचा दी। लगभग ६५ अलंकारों को तो आज भी मान्यता प्राप्त है।

वेद परमदेव का अजर अमर काव्य है—**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति,** अथर्व, १०.८.३२। यह इतना रमणीय है कि शत–शत बार पठन–मनन करने पर भी नित्य नवीनता की ही अनुभूति होती है—**क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।** वेदों में काव्य के अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, शब्दालंकार, अर्थालंकार, प्रसादादि गुण, रस, भाव प्रभृति समग्र व्यापार पूर्ण औचित्य के साथ विद्यमान है। रसों में वीर और शान्त रस एवं भक्तिभाव की छवि विशेष हृदयावर्जिनी है। शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा अर्थालंकारों में उपमा का चमत्कार दर्शनीय है। वेद संहिताओं में उपमालंकार का प्रयोग पदे–पदे हुआ है, ऋग्वेद के कुछ सूक्त तो ऐसे हैं जिनमें उपमा की झड़ी लग गई है।

डा. दिनेशचन्द्र शास्त्री ने प्रस्तुत 'वैदिक उपमा कोष' में वेदों की चार सहस्र से अधिक उपमाओं का संकलन किया है। उपमाभेदों पर प्रकाश डालते हुए वेदों में प्रयुक्त श्रौती पूर्णोपमा, एकदेशविवर्तिनी साङ्ग उपमा, द्विगुणित उपमा, वाक्यगा–समासगा–तद्धितगा उपमा, लुप्तोपमा आदि भेदों का निरूपण भी सफलता के साथ किया है। इस कोष में वेद से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के उपमा अलंकार के उद्भव एवं विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। उपमाओं से परिलक्षित वैदिक संस्कृति को भी उद्घाटित किया गया है।

वेदविषयक इस उत्कृष्ट कोष के प्रणयन पर मैं इन्हें हार्दिक वर्धापन, साधुवाद और आशीर्वाद देते हुए आशा करता हूँ कि भविष्य में भी इनकी लेखनी से वैदिक ग्रन्थरत्न प्रसूत होते रहेंगे।

रामनाथ वेदालङ्कार

गणतन्त्रदिवस, २००५
वेदमन्दिर, ज्वालापुर, (हरिद्वार)

आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालंकार
सामवेदभाष्यकार, राष्ट्रपति–संमानित

ओम्

PADMA SHREE
DR. KAPIL DEVA DVIVEDI
EX-VICE CHANCELLOR :
Gurukul M.V Jwalapur (Haridwar)
Director :
Vishva-Bharati Research Institute, Gyanpur (Bhadohi)

Ph.: 05414-250250
SHANTI-NIKETAN
GYANPUR-221 304
(BHADOHI), U.P., INDIA

दो शब्द

डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री (हरिद्वार) द्वारा लिखित **'वैदिक उपमा-कोष'** नामक शोध ग्रन्थ देखने का शुभ अवसर मिला है। यह शोधग्रन्थ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त अनुदान–राशि से लिखा गया है। यह ग्रन्थ लेखक के गहन अध्ययन और कठोर परिश्रम का परिचायक है।

लेखक ने इस ग्रन्थ को दो भागों में विभक्त किया है–पूर्वभाग और उत्तर भाग। पूर्वभाग में उपमा अलंकार के उद्भव और विकास का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसमें वेद, ब्राह्मण, उपनिषदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के मन्तव्यों का विशद वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में उपमा के स्वरूप और वेदों में प्राप्य उपमा के भेदों का विवेचन है। तृतीय अध्याय में वैदिक उपमानों का विस्तृत विवेचन दिया गया है। इसमें देवी–देवता, माता–पिता, सामाजिक व्यक्ति, पशु–पक्षी एवं प्राकृतिक पदार्थों आदि का भी सर्वांगीण संकलन प्रस्तुत किया गया है। उत्तर भाग में चारों वेदों में प्राप्य उपमाओं का देवता आदि भेदों के अनुसार सन्दर्भ–सहित मंत्र–भागों का संकलन है। अन्त में उपसंहार दिया गया है। इसके साथ ही दो परिशिष्टों में उपमाविषयक अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत की गयी है।

वस्तुतः यह ग्रन्थ वैदिक वाङ्मय का साहित्यिक अनुशीलन हैं। साहित्य की एक विधा अलंकार और उसमें भी एक अलंकार उपमा का ही यह सर्वांगीण विवेचन है। साहित्य, विज्ञान और दर्शन की विविध विधाओं को लेकर इस प्रकार के शोधग्रन्थ प्रस्तुत किए जाने की आवश्यकता है।

मैं इस शोधग्रन्थ के लिए लेखक को साधुवाद देता हूँ और इसके प्रचार–प्रसार की कामना करता हूँ।

उपमा-कोश-ग्रन्थोऽयं, वैदिक-वाङ्मयाऽऽश्रितः।

श्रेयसे भूयसे भूयाद्, विदुषां प्रीतिमावहन्।।

क. दे. द्विवेदी

प्राक्कथन

वेद भारत–यूरोपीय भाषा–कुल के ही नहीं अपितु, संसार के प्राचीनतम साहित्यिक ग्रन्थ हैं। धार्मिक परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण प्राचीन काल में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से ही इनका अध्ययन किया जाता था।

आधुनिक युग में पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान वेदों की ओर आकृष्ट हुआ। उनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप एक नवीन विचारधारा सम्मुख आई और भाषा–शास्त्रीय दृष्टि से भी इनका अध्ययन किया जाने लगा।

वेदों का काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी अध्ययन होना चाहिए, कारण इनमें बहुत से तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के सुन्दर उदाहरण के रूप में गृहीत किया जा सकता है। इन तत्त्वों से केवल काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर ही पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता अपितु, इनसे जहाँ वैदिक संस्कृति का विशुद्ध परिष्कृत उज्ज्वल रूप आविष्कृत होता है वहीं वेदों का वैज्ञानिक स्वरूप भी उद्घाटित होता है। इसके साथ ही इनसे कतिपय इतिहास सम्बन्धी अलीक मान्यताएँ भी खण्डित होती हैं। ऐसे तत्वों में अलंकारशिरोरत्नभूत **'उपमा'** मुख्यतम है।

मन्त्रगत उपमा अर्थ को प्रभावित करती है। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

१. मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव (ऋ. १०/१६६/५)

२. उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायुररतमिवेज्जरिमाणं जगम्याम् (ऋ. १/११६/२५)

३. मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योनावभारुखा (यजु. १२/६१)

४. अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः। (ऋ. १०/७५/४)

उपर्युक्त प्रथम मन्त्र का ऋषि **ऋषभो वैराजः** देवता **सपत्नघ्नम्**, छन्द **महापङ्क्तिः** है। इस मन्त्र में आपाततः पुनरुक्ति प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः दोनों उपमान वाक्यों में अपनी–अपनी विशेषता है। प्रथम वाक्य में **मण्डूका** पर बल है, क्योंकि उपमावाची पद उसी के साथ है। अभिप्राय यह है कि मेरे नीचे रहते हुए तुम प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही बोल सकते हो जैसे जल में मेंढक बोलते हैं। दूसरे वाक्य में **उदकात्** पर बल है, अर्थात् जैसे मेंढक जल में ही बोलते हैं। वैसे ही तुम्हें बोलने का अधिकार तभी तक है जब तक तुम मेरे अनुशासन में हो। विद्रोही बनते ही यह अधिकार छिन जायेगा।

दूसरे मन्त्र का ऋषि **कक्षीवान् दैर्घतमस् औशिजः**, देवता **अश्विनौ**, छन्द **त्रिष्टुप्** है। इस मन्त्र में ऋषि बुढ़ापे में घर के समान ही प्रविष्ट होने की कामना

करता है। यहाँ उपमान के द्वारा कष्टरहित अभिलषित वार्धक्य की व्यञ्जना हुई है। दुर्बलता देनेवाली होने के कारण वृद्धावस्था की कोई कामना नहीं करता है किन्तु यदि सुख–समृद्धि से वीर सपूतों से वा सुपुत्रियों से (सन्तति से) तथा अन्य सुखदायक साधनों की प्राप्ति से इस दोष की निवृत्ति हो गई हो तो यह वृद्धावस्था भी अपने घर के समान स्वागत के योग्य होती है। ऋषि ऐसे ही सौख्य से संयुक्त वार्धक्य में प्रवेश करने की इच्छा करता है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में कौटुम्बिक व्यवस्था पूर्णरूप से समुचित रूप में विकसित थी।

तीसरा मन्त्र यजुर्वेद के १२ वें अध्याय से सम्बन्धित है। इसमें उपमा के माध्यम से बताया गया है कि पृथिवी में प्राकृतिक गैस है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र को गोद में रखती है, उसी प्रकार पृथिवी पुरीष्य अग्नि (प्राकृतिक गैस) को अपने अन्दर धारण करती है।' ऐसी और भी अन्य अनेक उपमाएं हैं जिनसे वैज्ञानिक बातों का पता चलता है।

चतुर्थ मन्त्र का ऋषि **सिन्धुक्षित्** और देवता **नद्यः** है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार सम्बन्धित मन्त्र का सूक्त **'सप्तसिन्धु'** नाम से प्रसिद्ध है। इसके आधार पर मैक्समूलर–सम्प्रदाय की मान्यता है कि–"आर्य लोग सिन्धु नदी पार करके भारत में आए। सिन्धु नदी सबसे पहले पड़ती थी, अतः वे मध्य एशिया से भारत की ओर आए।" उक्त सूक्त के चौथे मन्त्र **अभि त्वा.....** में आता है कि कल–कल छल–छल करती हुई नदियाँ समुद्र की ओर उसी प्रकार दौड़ती हैं, जिस प्रकार माताएँ शिशु की ओर जाती हैं। इस मन्त्र में उपमा 'पयसा इव धेनवः' है। इसका आशय है कि जिस प्रकार बढ़े हुए दूध वाली माताएं शिशु को दूध पिलाने के लिए जाती हैं। यहाँ पर 'मातृ' शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भी वेद में आया है कि हमें पानी से तृप्त करती हुई नदी वैसे आवे जैसे शिशु को दूध पिलाती हुई पीनपयोधर वाली स्त्री आती है–शिशुं न पिप्युषीव वेति सिन्धुः (ऋग्. १/१८६/५)। वैसे भी नदियाँ समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की तरफ गति करती हैं न कि उल्टी विपरीत दिशा में–निम्नं न यन्ति सिन्धवोऽभि प्रयः (ऋग्. ५/५१/७)। इसी तरह के संकेत अन्य अनेक मन्त्रों में भी उपमा के माध्यम से आये हैं, जैसे–समुद्रायेव सिन्धवः (ऋग्. ८/४४/२५), यथा सिन्धुर्नदीनाम् (अथर्व. १४/१/४३), सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन् (ऋग्. १०/१११/१०) आदि। ऐसी उपमाएं किसी विशेषार्थ की संकेतक हैं। यहाँ 'सिन्धु' का सिन्धु नामक नदी अर्थ नहीं हैं। यह व्यक्तिवाचक (Proper name) न होकर सामान्य नाम (Common) है। जिसका अर्थ यहां समुद्र है। वैसे वेदों में 'सिन्धु' सामान्य नदी–अर्थ में भी आता है। पर यहाँ ऐसा नहीं है। उक्त मन्त्र में उपमा के माध्यम से पठित वेद के हृदयगत आशय की यथार्थता को न समझकर मैक्समूलर सम्प्रदाय की आधार शिला खड़ी है। यदि हम इस उपमा को हृदयंगम कर 'सिन्धु'

का तन्नामक नदी–अर्थ न कर समुद्र अर्थ करें तो जहाँ मन्त्रार्थ की सही संगति लगेगी वहीं भारतीय भूगोल एवं इतिहास–सम्बन्धी सारी अलीक मान्यताएं भी परिवर्तित हो जायेंगी। अतएव उपमा के ऐसे महत्त्व को समझकर ही हमने प्रस्तुत कोष के माध्यम से चारों वेदों में आयीं कई सहस्र उपमाओं का यथासामर्थ्य संकलनात्मक और कुछ–कुछ विवेचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है।

यह कोष **पूर्व** और **उत्तर** दो भागों में विभक्त है। **पूर्वार्द्ध** के अन्तर्गत पाँच अध्यायों में जहाँ वेदों की उपमाओं का विवेचनात्मक विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है वहीं उपमा के उद्भव और विकास पर भी प्रकाश डाला गया है।

उत्तरार्द्ध में चारों वेदों के क्रमानुसार उपमा वाचक निपातों को आधार बनाकर उपमाओं का संकलन प्रस्तुत किया गया है।

पूर्वार्द्ध में **प्रथम अध्याय** उपमा अलंकार के उद्भव एवं क्रमिक विकास पर आधारित है, इसमें वेद से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के उपमा–विकास को दर्शाया गया है। जबकि **द्वितीय अध्याय** वेदों में उपमा के स्वरूप को आधार बनाकर लिखा गया है। जिनमें क्रमशः वेदों में सादृश्यवाचक शब्द, वाचक पद–चयन के नियम और उपमा–भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय वेदों के उपमानों पर आधारित है। जिनमें लगभग आठ–नौ क्षेत्रों से लिये गये उपमानों का सोदाहरण वर्णन है।

उत्तरार्द्ध में **प्रथम अध्याय** ऋग्वेद के उपमा–संकलन से सम्बन्धित है। जिसमें इव, न, वत्, यथा, चित्, आ, था, रूप, वर्ण आदि वाचक शब्दों के द्वारा पृथक्–पृथक् कई हजार उपमाऐं वर्णित हैं जिनका कि देवतानुसारी विभाजन किया गया है। इस अध्याय में वाचक शब्द **'इव'** द्वारा वर्णित ७७६ उपमाओं का संकलन है। जिसमें अग्नि, सोम, इन्द्र, अदिति–आदित्य, मित्र–मित्रावरुणौ, उषा, आयुर्वेद, मरुत् देवों से सम्बन्धित उपमाऐं है। वाचक शब्द 'न' द्वारा वर्णित अग्नि, इन्द्र, सोम, मरुत्, अश्विनौ, आयुर्वेद, रुद्र, उषा, पूषा, विष्णु देवताओं से सम्बन्धी १०६७ उपमाओं का भी संकलन है। इसमें **'वत्'** द्वारा इन्द्र, सोम, मरुत्, अश्विनौ, आयुर्वेद, उषा, पूषा, मित्र, अग्नि, विश्वेदेवाः देवों की उपमाएं भी संकलित हैं एवं **'यथा'** द्वारा अग्नि, सोम, मरुत् और अश्विनौ देवता की उपमाओं को भी लिया गया है। इन उपर्युक्त इंगित वाचक शब्दों से अतिरिक्त **चित्, आ, नु, था, वर्ण, रूप** आदि शब्दों द्वारा वर्णित उपमाओं को भी एकत्रित किया गया है। जिनमें **'चित्'** ऋग्वेद में ७८६ बार अपि, एव, पूजा, अवकुत्सित, पदपूर्ति, प्रतिषेध आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इनमें १५ बार उपमा अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। **द्वितीय अध्याय** यजुर्वेद संहिता में उपलब्ध उपमाओं के संकलन वाला है। इसमें ३२६ उपमाओं का पृथक्–पृथक्

वाचक शब्दों के आधार पर वर्णन न होकर अपितु, उत्तरोत्तर अध्यायों में यथोपलब्ध उपमाओं का सकलन है। इसी प्रकार सामवेद संहिता से सम्बन्धित **तृतीय अध्याय** में पृथक्–पृथक् वाचक शब्दों के आधार पर सकलन न होकर एक साथ ही है। इसमें ४१७ उपमाओं की प्रविष्टियां हैं, जो कि आग्नेय काण्ड, ऐन्द्र काण्ड, पवमान काण्ड, महानाम्न्यार्चिक, उत्तरार्चिक शीर्षकों के अन्तर्गत प्रदर्शित हैं। सामवेदीय मंत्रों का विभाजन प्रायः आर्चिक, अध्याय, खण्ड और मन्त्र के अनुसार है। हमने यहां सुविधा की दृष्टि से इनको न दिखाते हुये केवल मन्त्र संख्या ही सन्दर्भ ज्ञान के लिये दी है। **चतुर्थ अध्याय** अथर्ववेद की उपमाओं पर आधारित है। इसमें ५६४ उपमाओं की प्रविष्टियां है। इस अध्याय में जहां वाचक शब्दों के आधार पर उपमायें दी गयी हैं वहीं लुप्तोपमाओं का भी संकलन किया गया है। अथर्ववेद में इव, न, यथा, रूप, अथ, आ आदि उपमावाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस वेद में उपमावाचक पदों के अन्तर्गत **'इव'** शब्द का प्रयोग ज्यादा हुआ है और बहुत से मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें एक से अधिक बार भी **'इव'** शब्द देखा जाता है। ४३ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें दो बार, चार मन्त्र ऐसे हैं जिनमें तीन बार **'इव'** शब्द का प्रयोग हुआ है। ११० मन्त्रों में **'यथा'** शब्द और ६० मन्त्रों में **'न'** का उपमावाचक के रूप में प्रयोग हुआ है। सात मन्त्रों में दो वार और एक मन्त्र में तीन बार **'न'** शब्द उपमावाचक रूप में आया है। प्रत्यक्ष रूप में **'वत्'** शब्द भी उपमावाचक रूप में गृहीत है। अथर्ववेद में चार मन्त्र ऐसे हैं जिनमें **'वत्'** का प्रयोग देखा जाता है। एक मन्त्र में तो यह दो बार आया है। **सम, रूप, अथ** आदि शब्दों का प्रयोग प्रायशः एक–एक मन्त्रों में ही देखा जाता है। **'उपसंहृतिः'** में जहाँ सम्पूर्ण कोष पर एक विहंगम दृष्टि डाली गयी है वहीं दो परिशिष्टों में क्रमशः **वेदों में उपमा अलंकार के विभिन्न भेद** एवं **वैदिक उपमाओं से परिलक्षित संस्कृति** विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में **निर्देशिका** (Index) के अन्तर्गत अकारादिक्रम से नामों की सूची भी दी गयी है।

वैदिक संहिताओं में, अर्थालङ्कारों में उपमा अलङ्कार का सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण प्रयोग हुआ है। लौकिक संस्कृत साहित्य में उपमा–क्षेत्र में कवि कुलगुरु कालिदास ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की है। वैदिक संहिताएं उससे भी अधिक ख्याति की पात्र हैं। अन्तर केवल इतना है कि कालिदास के उपमान व्यापक हैं और विविध क्षेत्रों का अवलम्बन लेकर प्रयुक्त किये गये हैं, वैदिक उपमानों का क्षेत्र वैसा व्यापक नहीं है। पुनरपि सौन्दर्य की दृष्टि से वैदिक उपमाएँ हृदय को छूनेवाली हैं। वैदिक संहिताओं में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के उपमानों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उपमा अलंकार से सम्बन्धित अन्य वैदिक उपमाओं का भी बहुत अधिक महत्त्व है। वेद तो हैं ही उपमामय, इसमें कोई दो मत नहीं। उपमा तो वैदिक कवि का बहुत प्यारा अलंकार है जिसकी लड़ी पर

लड़ी बड़ी चारुता के साथ विन्यस्त की गई है। सहस्रों ऐसे स्थल हैं जिनमें उपमालंकार विषयक काव्य सौन्दर्य विद्यमान है। यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों का ध्येय काव्य–ग्रन्थों का निर्माण करना नहीं था। वे नाना भणिति भङ्गी उपमाएं तो उनके समुच्छ्वास रूप हैं जो कि विभिन्न देवताओं के स्वरूप-प्रतिपादन में अथवा किसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में जहाँ महर्षि भावातिरेक की स्थिति में आ गये वहाँ उनके मुख से प्रकारान्तर से स्वतन्त्र रूप में प्रस्फुटित हो गयी हैं। मैंने यथासंभव जैसा मैं कार्य कर सकता था, इस कोष में उन सभी उपमाओं का संकलन किया है जिनसे वेदों की अलंकारात्मक शैली पर प्रकाश पड़ता है। मुझे ऐसा विश्वास है कि वैदिक साहित्य के क्षेत्र में यह कार्य मील का पत्थर सिद्ध होगा। इससे जहाँ वैदिक देवों के स्वरूप–निर्धारण में सहयोग मिलेगा वहीं वेदों की वास्तविक व्याख्या में भी सहायता मिलेगी। इस कोष से निम्न अन्य लाभ भी होगे–

(i) अलंकार शास्त्र की अनुपम काव्य–परम्परा में योगदान मिलेगा एवं मन्त्र में निहित मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य के साथ–साथ काव्य–सौन्दर्य का भी दर्शन होगा।

(ii) इस कोष के आधार पर परवर्ती शोधार्थी वैदिक परिप्रेक्ष्य में उपमा के साथ–साथ अन्य अलंकारों का भी विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकेंगे।

(iii) वाच्यार्थ के साथ व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी होगी, जिससे वेदों का स्वरूप निखरकर हमारे सामने आयेगा।

(iv) उपर्युक्त संहिताओं में पठित मन्त्रों के स्थान–स्थान पर वाचक लुप्तोपमा आदि की सूचनाओं को दृष्टि में रखकर सरल अर्थ तथा उपमा के बल से प्राप्त पक्षान्तरों में नाना प्रकार के श्लेषमूलक अर्थ किये जा सकेंगे। जिससे वेद के हृद्गत आशय का ज्ञान एवं उसका मूल्यांकन, अनेक असंगत तथा विपरीतार्थाभिधायक प्रतीत होने वाले प्रकरणों की सुसंगत व्याख्या भी हो सकेगी।

(v) वेद के सामान्य अथवा विशिष्ट तत्त्व की हस्तामलकवत् प्रत्यक्षानुभूति एवं दुर्ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान हो सकेगा।

(vi) वेद विविध विज्ञानों की निधि है–इस रहस्य के उद्घाटित होने के साथ–साथ यह भी पता चलेगा कि इनमें अलंकारशास्त्र का मूल भी निहित है।

प्रस्तुत **वैदिक उपमा-कोष** में वैदिक संहिताओं में दृग्गोचर होने वाले उपमाओं के अपार पारावार का संकलनात्मक एवं विवेचनात्मक उभयविध अध्ययन

प्रस्तुत किया गया है।। इसमें चार सहस्र से अधिक उपमाओं का सकलन है। इस प्रकार इस कोष में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वेदों के एक विशिष्ट पहलू के अध्ययन का अल्प प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत कोष के निर्माण में **ऋग्वेद-संहिता सायण भाष्य**, चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार कृत **ऋग्वेद भाषा-भाष्य** और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर सम्पादित **दैवत संहिता, ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता, अथर्ववेद संहिता** नामक ग्रन्थो से सर्वाधिक सहायता ली गई हैं। मन्त्रार्थों में जहां सायणभाष्य को ही प्रमुख आधार बनाया गया है वहीं आवश्यकतानुसार उव्वट, महर्षि दयानन्द, प्रो. विश्वनाथ, आचार्य वैद्यनाथ, पं० रामनाथ वेदालंकार और पंडित क्षेमकरणदास त्रिवेदी आदि के भाष्यों से भी सहायता ली गयी है। अतः हम इनके अत्यन्त आभारी हैं। इनके अतिरिक्त डॉ० प्रह्लाद कुमार के "**ऋग्वेदेऽलंकाराः**", डॉ० हेमलता सिंह के "**ऋग्वेद के अग्निसूक्तों की उपमाओं का अध्ययन**", हरिदामोदर वेलणकर के "**सिमिलीज ऑफ वामदेवज, सिमिलीज ऑफ दि अत्रिज**", डॉ० सोमपाल के '**अथर्ववेदे उपमालंकारः**', डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री के '**ऋग्वेद में उपमा**' आदि प्रबन्धों को भी आधार बनाया गया है, परन्तु इनके और हमारे इस कार्य में अन्तर यह है कि इनका कार्य सीमित है, हमारा कार्य सभी वेदों पर आश्रित होने स तथा उपमाओं का विवेचनात्मक एवं संकलनात्मक उभयविध अनुसंध ान होने से अत्यन्त व्यापक है।

हमारी यह आर्ष मान्यता है कि वेदों में अनित्य इतिहास नहीं है। फिर भी यदि कहीं किसी स्थल पर अनित्य इतिहास प्रतीत होता है तो वह सायणभाष्य की देन है। उससे हमारा सहमत होना आवश्यक नहीं।[1] हमारा मुख्य ध्येय या प्रयास तो उपमा का विवेचन कर वेदों की अलंकारात्मक शैली को प्रदर्शित करना रहा है। डॉ. प्रह्लाद कुमार ने भी अपने प्रबन्ध में प्रमुख रूप से सायण भाष्य को ही आधार बनाया है।

मेरा यह शोधकार्य समय पर पूरा न हो पाता यदि परमधार्मिक मेरी धर्मपत्नी

---

1. यद्यपि सायणभाष्य वेद में प्रवेश पाने के लिए अनिवार्य–सा है। यह एक आवश्यक कूदने का तख्ता है या एक सीढ़ी है जिसका हमें प्रवेश करने के लिए उपयोग करना पडता है। ऐसी योगी अरविन्द की मान्यता है। यदि हमें मन्त्र के आन्तरिक अर्थ की गहराई में जाना है तो अलग से प्रयत्न करना पडेगा। वेदों की भाषा रहस्यमय है। विभिन्न व्यक्ति उससे अपने–अपने स्तर के आशय गृहीत कर सकते हैं।

   देखो 'ब्राह्मण की गौ' आचार्य अभय विद्यालंकार, पृ.226, अरविन्द निकेतन चरथावल, मु.नगर (उ.प्र)

श्रीमती मृदुला का सहयोग न मिलता। इन्होंने गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वो से मुक्त कर जो सहयोग दिया है, वह अविस्मरणीय है। वास्तव में लेखक की उन्नति में उसकी धर्मपत्नी का सहयोग न मिले तो लेखक अपने कार्य को पूर्ण कर ही नहीं सकता। शोधकार्य करते समय क्लान्त मन की क्लान्ति दूर कर अपनी ललित बाल–चेष्टाओं से मुझे प्रसन्न कर देने वाले प्रिय **रमण** और **साची** को किन शब्दों में हृदय का प्यार दूं ? ये सदा प्रसन्न और सुखी रहें, यही मंगलकामना है।

मेरे इस अनुसन्धान–कार्यकाल में जिनका अहर्निश हार्दिक सहयोग और आशीर्वाद पारिवारिक उत्तरदायित्वों को वहन करने में रहा ऐसे महान् कर्मयोगी श्री भुवनेन्दुभूषण सिंघल जी (Retd. DGM. BHEL-BHOPAL) को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ ? परमात्मा से प्रार्थना है कि ऐसे सत्पुरुष शतायु और नीरोगी हों।

मेरा यह कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की वृहद् शोध परियोजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था। अतः इस संस्था के संबंधित मान्य अधिकारियों का आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस शोध परियोजना को मूर्त्तरूप देने के लिए आर्थिक सहयोग दिया।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मान्य अधिकारियों का यदि सहयोग न मिलता तो वेद भगवान् का यह कार्य बिल्कुल भी पूरा न हो पाता। आज जब यह पुनीत कार्य विद्वानों के हाथों में जा रहा है तब मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय के भूतपूर्व और वर्तमान दोनों प्रशासन का भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। स्वर्गीय जयसिंह गुप्ता जी जो उस समय वित्ताधिकारी थे, आज इस दुनिया में नहीं हैं। उनका आशीर्वाद मुझे इस कोष–निर्माण के समय मिला है। भगवान् उनकी आत्मा को सद्गति प्रदान करें। यही कामना है। तत्कालीन कुल सचिव डॉ. जयदेव वेदालंकार, डॉ० एस० एन० सिंह, डॉ. महावीर अग्रवाल इन सभी महानुभावों का भी सहयोग अनेक रूपों में इस शोध परियोजना को पूरा करने में रहा है। उसको कैसे भुलाया जा सकता है?

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के साधु स्वभाव, सज्जनता की प्रतिमूर्ति वर्तमान कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी जो कि आर्य समाज के गौरव हैं, की स्नेहिल दृष्टि और आशीर्वाद से मैं सदा आह्लादित रहकर वेद–सेवा के कार्य में लगा रहता हूँ। अतः इस अवसर पर उनके स्नेह और आशीर्वाद को श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य एवं उपकुलपति साहित्य मर्मज्ञ प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री जी का आशीर्वाद इस कोष के निर्माण–काल में प्राप्त हुआ है। इनका तो मैं प्रत्यक्ष विद्यार्थी रहा हूँ। अतः इस अवसर पर आपका भी सश्रद्ध स्मरण

करता हुआ कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के विशाल पुस्तकालय से भी बहुत सहायता ली गयी है। अतः इसके अध्यक्ष और समस्त कर्मचारियों का भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

मेरा यह कार्य अनुसंधान के तत्त्वों पर कितना आधारित है? कितना सफल रहा है? इससे वेदों की विशिष्ट अलंकारात्मक शैली की कितनी प्रस्तुति हुई है एवं इससे वैदिक साहित्य के अध्ययन को कितना आयाम मिला है? इसका निर्णय तो नीर क्षीर विवेकी सहृदय विद्वज्जन ही करेंगे। इसमें जो त्रुटियां हैं वे मेरी हैं और जो अच्छाइयाँ हैं वे गुरुजनों का प्रसादमात्र हैं। ऐसा सोचता हुआ मैं अपने इस शोधात्मक परिणाम को परमेश्वर के श्रीचरणों में अर्पण करने से पूर्व अपने माता–पिता एवं समस्त आदरणीय गुरुजनों के चरणों में नमन करता हूँ। मेरी जन्मदात्री माँ और पिता आज इस संसार में नहीं हैं यदि आज वे होते तो इस प्रकाशित कार्य को देखकर बहुत खुश होते। परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

मेरे इस कार्य के मूलप्रेरक पितृतुल्य आचार्यप्रवर पं. रामनाथ वेदालंकार जी रहे हैं। आपका किन शब्दों में आभार व्यक्त करुँ? मेरे पास शब्द नहीं हैं। आपके ऋण से तो मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। वेदमाता की सेवा में निरन्तर लगा हुआ आपका रूप अहर्निश मेरा प्रेरक रहा है। परमात्मा आपको उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करे जिससे आपका ऋषि–तुल्य चिन्तन वेदाध्ययन को इसी प्रकार नवीन दिशा देता रहे। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् प्रो. मानसिंह जी, प्रो. वी.के. वर्मा जी, गुरुवर प्रो. भवानीलाल भारतीय जी, प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी, प्रो. बी.बी. चौबे जी, आचार्य राजवीर शास्त्री जी, स्व. पं. सत्यव्रत 'अजेय' जी, प्रो. सुभाष विद्यालंकार जी, (पूर्वकुलपति), प्रो. पुष्पेन्द्र कुमारजी, प्रो. लेखराम शर्मा जी, डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालंकार जी, डॉ. श्रीकृष्ण सेमवाल जी, प्रो. भारतभूषण विद्यालंकार जी, आचार्य सत्यव्रत राजेश जी, डॉ. मनुदेव बन्धु जी, आचार्य हरिकृष्ण शास्त्री जी का भी धन्यवाद इस अवसर पर करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ कि जिनका आशीर्वाद कोष–निर्माण के समय मिला। पद्मश्री डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने इस कोष के संबंध में **'दो शब्द'** लिखकर इस कोष की महत्ता बढ़ाकर अपना आशीर्वाद दिया है। विद्वद्वर वेदमनीषी डॉ. रामनाथ वेदालंकार ने **'आशीर्वाद'** के रूप में जो शब्द लिख दिये हैं, वे अतीव मूल्यवान् हैं। अतः इन दोनों महानुभावों को तो धन्यवाद देना कोरी औपचारिकता होगी, वेद के शब्दों में–

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।

स इद् देवेषु गच्छति। (ऋ. १/१/४)

प्रो. कृष्णकुमार अग्रवाल, प्रो. आर.पी. तिवारी एवं अत्तराञ्चल संस्कृत अकादमी के सम्मानित सदस्य प्रो. महावीर अग्रवाल ने प्रस्तुत कोष के विषय में अपनी सम्मति देकर हमें अनुगृहीत किया है। सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली के मालिक श्री आर. डी. पाण्डेय का भी आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने प्रकाशन का उत्तरदायित्व स्वीकार कर बडी सजगता एवं तत्परता से शब्द संयोजन का कार्य प्रिय अचिन्त्य द्वारा कराके मुद्रण कार्य सम्पन्न कर सुधी पाठकों के स्नेहिल कर कमलों में पुस्तक उपलब्ध कराने में अपना अमूल्य सहयोग दिया।

बसन्त पंचमी, वि.सं. २०६१ — विनयावनत

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, — **दिनेशचन्द्र शास्त्री**

हरिद्वार

संक्षेप-सूची (Abbreviations)

अ०	अष्टाध्यायी
अ०पु०	अग्निपुराण
अ०स०	अलंकार सर्वस्व
अ०शे०	अलंकारशेखर
ई०	ईस्वी
ऋ०, ऋक्०	ऋग्वेद
काव्य० सू०	काव्यालंकार–सूत्रवृत्ति
का०	काव्यालंकार
का०सा०सं०	काव्यालंकार सार–संग्रह
काव्या०	काव्यानुशासन
कु०	कुवलयानन्द
काव्या०	काव्यानुशासन
चि०मी०	चित्रमीमांसा
द्र०	द्रष्टव्य
नाट्य	नाट्यशास्त्र
प्रश्न०	प्रश्नोपनिषद्
प्र०रु०य०	प्रतापरुद्रयशोभूषण
ब्र०सू०भा०	ब्रह्मसूत्रभाष्य
मनु०	मनुस्मृति
म०भा०	महाभाष्य
मुण्ड०	मुण्डकोपनिषद्
रस०गं०	रसगंगाधर
ल०	लगभग
व०जी०	वक्रोक्तिजीवितम्
वा०	वाग्भटालंकार
वि०ध०पु०	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
स०क०	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा०द०	साहित्यदर्पण
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शो० प्र०	शोध प्रबन्ध

विषयानुक्रमणिका

वैदिक उपमा-कोष

(उत्तरार्द्ध)

उपमा संकलन

पूर्वार्द्ध

प्रथम अध्याय

(उपमा अलंकार : उद्भव और विकास)

अलंकार : स्वरूप एवं भेद :

'अलंकार' शब्द अलम् उपसर्गपूर्वक कृञ् धातु से करणार्थक घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है और 'सौन्दर्य के कारण' अथवा 'सौन्दर्य के साधन' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अलंकार के स्वरूप का निर्णय करते हुए आचार्य दण्डी ने इसे काव्य की शोभा बढ़ानेवाला धर्म कहा है:

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।।[1]

वस्तुतः अलंकार का धातुगत अर्थ भी होता है। आचार्य वामन ने काव्य के शोभाकारक धर्म को गुण एवं गुणों का उत्कर्ष करने वाले तत्वों को अलंकार कहा है :

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः।

तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा।।[2]

आचार्य मम्मट के अनुसार 'अलंकार' काव्य के मुख्य अर्थ रस का यदा–कदा उपकार करने वाले तत्त्व हैं। काव्य–शरीर में इनकी स्थिति हारादि अलंकारों के समान है। ये काव्य में रह भी सकते हैं और नहीं भी रह सकते हैं। गुणों के समान इनकी स्थिति नियत नहीं है। गुण काव्य में नियत रूप से रहकर रस का उपकार करते हैं जबकि अलंकार काव्य में विद्यमान रहने वाले रस का उपकार करते हैं और कभी–कभी नहीं भी करते हैं (सन्तमपि नोपकुर्वन्ति)। इसीलिए अलंकार को अस्थिर धर्म कहा है, जो स्थिर तथा नियत धर्म से सर्वथा भिन्न होता है।

अलंकार के ३ भेद हैं–१. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार और ३. उभयालंकार। शब्दालंकार में शब्द प्रधान रहता है अर्थात् जिन शब्दों के द्वारा चमत्कार उत्पन्न

होता है उनको हटाकर यदि पर्यायवाची शब्दों को रख दिया जाय तो वहाँ चमत्कार नष्ट हो जाता है। शब्द की प्रधानता के कारण ही यह शब्दालंकार कहलाता है।

अर्थालंकार में शब्द-परिवर्तन की क्षमता होती है। इसका चमत्कार अर्थ में निहित रहता है अर्थात् शब्द में परिवर्तन करने पर भी अलंकार की सत्ता विद्यमान रहती है।

उभयालंकार में पूर्वोक्त दोनों विशेषताएं मिलती हैं। अर्थात् पद्य के कुछ शब्द पर्याय के रूप में परिवर्तित किये जा सकते हैं (अर्थालंकार) और कुछ अपरिवर्तनशील होते हैं (शब्दालंकार)। अपनी इसी विशेषता के कारण यह उभयालंकार कहलाता है।

शब्दालंकारों की संख्या १० है, जिनमें चार ही अधिक प्रसिद्ध है–अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति।

अर्थालंकारों के लगभग १०० भेद हैं।

उभयालंकार दो प्रकार का होता है–संकर और संसृष्टि।

अर्थालंकारों का विभाजन निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है–सादृश्यगर्भ, विरोध-गर्भ, शृंखला-बन्ध, तर्कन्यायमूल, लोकन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल तथा गूढार्थ-प्रतीतिमूल।

सादृश्यगर्भ अलंकार सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते हैं। किसी अज्ञात वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य द्वारा हम किसी अनजान विषय का ज्ञान किसी भी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वर्ग के अलंकारों में प्रमुख उपमा अलंकार है।

उपमा अलंकारः व्युत्पत्ति एवं महत्त्वः

उपमा का शाब्दिक अर्थ सादृश्य या समानता है। यह उप और मा–इन दो शब्दों के योग से बना है, जिनका अर्थ (उप) समीप, (मा) मान या माप है। 'उप सामीप्यात् मानम् इत्युपमा'। अथवा 'उप समीपे मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्ता उपमेयं कर्म) अनयेत्युपमा।' अर्थात् समीपता के कारण किया गया मान उपमा है।

यह सादृश्यमूलक अलंकार है। इसमें सादृश्य के कारण जो सौन्दर्यानुभूति होती है, उसी की प्रधानता होती है। अतः सादृश्य उपमा का प्राण है।

दो पदार्थों में समानता दिखलाना ही उपमा है, किन्तु समानता में चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए। जिस सादृश्य के कारण सहृदयों का चित्त आनन्दित हो उठे, वही उपमा होती है, अन्यथा उसके अभाव में इसका अस्तित्व संभव नहीं है।

उपमा का चमत्कार केवल काव्यशास्त्र या साहित्य में ही नहीं देखा जाता,

अपितु लोक में भी इसका महत्त्व स्वीकार किया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी इसकी महत्ता असंदिग्ध है। यह मन की अति सरल प्रक्रिया है। सहजता एवं सरलता के कारण ही सभी सादृश्यमूलक अलंकारों में यह सर्वाधिक लोकप्रिय है। सरलता के कारण ही इसे व्यापक क्षेत्र प्राप्त हुआ है। कवि भाव को उद्दीप्त करने के लिए दो पदार्थो मे समानता स्थापित करता है तथा उपमा के द्वारा असादृश्य में भी सादृश्य ला देता है। उपमा की इसी सहज एवं व्यापक प्रक्रिया के कारण आलंकारिकों ने उपमा को अर्थालंकारो में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। वस्तुतः उपमा आलंकारिक शैली का हृदय है। कविता के उदय के साथ ही इसका उदय होता है। उस काव्ययुग की कल्पना ही नही की जा सकती है, जिसमें उपमा अपने चमत्कार का प्रदर्शन नहीं करती ओर उपमा के द्वारा सोन्दर्य का विकास नहीं होता। कविता का तो यह प्राण ही है।

उद्भव एवं विकास

वेदः

विकास–क्रम की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में उपमा का शास्त्रीय विवेचन तो नही मिलता, किन्तु उसके भव्य एवं रमणीय उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।[3]

भ्रातृविहीन स्त्री जैसे पीछे हटकर (वापस) अपने पितादि के पास जाती है, धन–प्राप्ति के लिए कोई स्त्री जैसे न्यायालय में जाती है, पति की कामना करने वाली स्त्री उत्तम वस्त्र धारण कर जैसे पति के पास जाती है, उसी प्रकार यह उषा हँसती हुई स्त्री के समान अपनी सुन्दरता को प्रकट करती है।

उषा से सम्बद्ध इस ऋचा में एक साथ ही चार उपमाओं का प्रयोग हुआ है।

परा ही मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये।

वयो न वसतीरुप।।[4]

जिस तरह पक्षी अपने घोंसलों की ओर जाते हैं, उसी प्रकार मेरी विशेष उत्साहित बुद्धियाँ धन–प्राप्ति के लिए दूर–दूर दौड़ रही हैं।

यहाँ बुद्धि की उपमा पक्षी से दी गई है।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनःशिवसंकल्पमस्तु।।[5]

जिस प्रकार सारथि वेगवान् घोड़ों को बागडोर के द्वारा जहाँ–तहाँ ले जाता

है, उसी प्रकार जो मनुष्यों को जहाँ-तहाँ ले जाता है, जो हृदय में स्थित है, सबका चालक है और अत्यन्त वेगवान् है, वह मेरा मन मंगल-विचारयुक्त हो।

ओ३म् भूर्भुवः स्वद्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे।[6]

परमेश्वर सबका आधार, सबमें व्यापक, सुख-स्वरूप है। वह संसार के लिए बहुत्व के कारण अर्थात् सब लोकों को धारण करने से आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथ्वी के समान है। हे पृथिवि ! जो तू देवताओं का यज्ञस्थान है, उस तेरी पीठ पर हव्य-ग्रहीता भौतिक अग्नि को भोज्य अन्न की प्राप्ति के लिए मै स्थापित करता हूँ।

यहाँ परब्रह्म की उपमा आकाश और पृथ्वी से दी गई है।

इस प्रकार के उदाहरण पर्याप्त रूप में चारों वेदों में उपलब्ध होते हैं।

ऋग्वेद मे उपमा अलंकार के अतिरिक्त उपमा-वाचक शब्द भी मिलते हैं; जैसे-

सोपमा दिवः।।[7]
इयुषीणामुपमा शाश्वतीनाम्।।[8]
यद्विष्णोरुपमं निधायि।।[9]
इन्द्रोपमातयः पूर्वीरुत।।[10]

किन्तु उपमा के इन उदाहरणों को देखकर हम वेदों में अलंकार के सिद्धान्त निरूपण की कल्पना नही कर सकते। वस्तुतः अलंकार ही नही, साहित्यशास्त्र के अन्य अंगों के भी व्यावहारिक प्रयोग वेदों में दृष्टिगत होते हैं, किन्तु उनके शास्त्रीय विवेचन का रूप वहाँ नहीं मिलता।

ब्राह्मण :

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर उपमा अलंकार और उपमा वाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण में उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है:

तदप्युपमास्ति।।[11]

किन्तु यहाँ भी अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया गया है।

उपनिषद् :

उपनिषदों में उपमा के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध होते हैं। मुण्डकोपनिषद् में उपमा के द्वारा बताया गया है कि जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि से आरे

सम्बद्ध रहते है, उसी प्रकार हृदय से नाडियाँ सम्बद्ध रहती हैं :

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः।[१२]

प्रश्नोपनिषद् में भी प्राण की उपमा आरे से दी गई है :

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।।[१३]

ब्रह्मसूत्र-भाष्य :

ब्रह्मसूत्र–भाष्य में उपमा–वाचक शब्द का प्रयोग निम्नांकित प्रकार मिलता है :

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्।।[१४]

उपर्युक्त सभी उदाहरणों का व्यावहारिक मूल्य ही अधिक है, सैद्धान्तिक नहीं। यास्क एवं पाणिनि के ग्रन्थों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि उपमाओं के प्रयोग के द्वारा वैदिक भाषा एवं स्वर या ध्वनियाँ निश्चित रूप से प्रभावित हुई हैं, किन्तु इससे वैदिक युग मे काव्यशास्त्र या अलंकारों के सिद्धान्त–निरूपण की बात नहीं आती।

वेदांग में भी अलंकारों का विवेचन किया गया है, किन्तु वहां भी इसका स्वरूप स्वतंत्र अलंकारशास्त्र के रूप में नहीं ढाला गया है। निघण्टु एवं निरुक्त में भी उपमाओ का प्रयोग भाषाशास्त्रीय महत्त्व को ही अधिक प्रकट करता है, काव्यशास्त्रीय विवेचन को नहीं।

गार्ग्य :

उपमा का सर्वप्रथम शास्त्रीय विवेचन यास्क के पूर्ववर्त्ती आचार्य गार्ग्य ने करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नही है। केवल उनकी उपमा की परिभाषा यास्ककृत निरुक्त में मिलती है :

यदतत्तत्सदृशम् इति गार्ग्यस्तदासां कर्म।।[१५]

जो 'अतत्' अर्थात् उपमान से भिन्न होकर 'तत्सदृशम्' उपमान के समान हो 'तदासां कर्म' वह इन उपमाओं का विषय होता है अर्थात् उपमान से भिन्न होकर भी जो उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य है उसे उपमा कहते हैं।

यास्क (लगभग ७०० ई० पू०)

निघण्टु में उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले लगभग १२ शब्दों का निर्देश है--(१) इदमिव, (२) इदं यथा, (३) अग्निर्नये, (४) चतुरश्चिद्ददमानात्, (५) ब्राह्मणा व्रतचारिणः, (६) वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः, (७) जार आ भगम्, (८) मेषो भूतोऽभियन्नयः, (९) तद्रूपः, (१०) तद्वर्णः, (११) तद्वत् (१२) तथा इत्युपमा.।

निरुक्त मे उपमा का विवेचन यास्क ने निम्नांकित प्रकार किया हैः

अथात उपमाः। यदतत्तत्सदृशम् इति गार्ग्यः तदासां कर्म। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं या उपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गूरशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।[१६]

कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः

को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य न योषा कृणुते सधरथ आ।।[१७]

यथेति कर्मोपमा।

. यथावातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।[१८]

भ्राजन्तो अग्नयो यथा[१९]

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा नि धातोः।

न दुरुक्ताय स्पृहयेत्।।[२०]

आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातोऽथाप्युपमार्थे दृश्यते।।

जार आ भगम्।।[२१]

मेष इति भूतोपमा।

मेषो भूतोऽभियन्नयः।।[२२]

अग्निरिति रूपोपमा।

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपांनपात्सेदु हिरण्यवर्णः।।[२३]

था इति च।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।।[२४]

वदिति सिद्धोपमा।

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।

अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्।।[२५]

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते सिंहो व्याघ्र इति पूजायां

श्वा काक इति कुत्सायाम्।।[२६]

इस प्रकार निरुक्त के तृतीय अध्याय के तीसरे पाद के बीच से उपमा का विवेचन प्रारम्भ करके चौथे पाद में ४–५ पंक्तियों तक विस्तृत वर्णन कर समाप्त कर दिया है। उन्होंने गार्ग्यकृत उपमा–लक्षण को ही स्वीकार किया है। उपमा में उपमान उपमेय की अपेक्षा प्रायः अधिक गुणवाला या अधिक प्रसिद्ध होता है। उपमेय

की अपेक्षा यदि हीन या अप्रसिद्ध उपमान का प्रयोग किया जाय तो लौकिक अलंकारों में उसे हीनत्व–दोष माना जाता है, किन्तु यास्क ने उपमा के ये दोनों ही प्रकार दिखलाये हैं अर्थात् वेद में हीनोपमा और अधिकोपमा–दोनों प्रकार की उपमाओं के उदाहरण मिलते हैं।

निघण्टु में १२ उपमा–प्रतिपादक पदो का नहीं, अपितु वाक्यांशों का संग्रह किया गया है, जिनमें से प्रथम उपमावाचक वाक्याश के विवेचन के पश्चात् निरुक्तकार ने **'अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः'** यह एक पंक्ति और जोड दी है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में निपातों के वर्णन में भी वे (१) इव, (२) न, (३) चित्, (४) नु–इन चार उपमावाचक पदो की व्याख्या कर चुके है। उपमा–निरूपण के इस प्रसंग में भी उनका स्मरण दिलाने के लिए बीच में 'अथ निपाताः' इत्यादि लिखा गया है।

यास्क ने आर्थी उपमा के प्रयोजक तुल्यादिपदों का परिगणन नहीं किया है, अतः सभी पद या वाक्यांश यहाँ श्रौती उपमा के ही वाचक हैं, आर्थी उपमा के नहीं। 'इदमिव' तथा 'इदं यथा'–इन दोनों में सूक्ष्म भेद दिखाया गया है। 'इदं यथा' वाले भेद की व्याख्या करते हुए उन्होंने 'यथेति कर्मोपमा' लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि 'यथा' इस पद से कर्म अर्थात् क्रियाओं की उपमा दी जाती है। इव को द्रव्य का सादृश्यबोधक होने से उन्होंने द्रव्योपमा माना है। **'मेषो भूतोऽभियन्नयः'**–इस उपमावाचक पद को यास्क ने **'मेष इति भूतोपमा'** कहा है। इसी प्रकार 'तद्रूपः' को रूपोपमा और 'तद्वर्णः' को वर्णोपमा माना है। वति प्रत्यय द्वारा **'वदिति सिद्धोपमा'** लिखकर क्रिया से भिन्न सिद्ध पदार्थो की उपमा का प्रतिपादन किया है।

उपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द–इन चार तत्त्वों का होना आवश्यक होता है। जहाँ इन चारों की उपस्थिति रहती है उसको पूर्णोपमा कहते हैं। कहीं–कहीं उपमा में इन चारों में से किसी एक, दो या तीन का लोप भी हो जाता है। उस अवस्था में वह लुप्तोपमा कहलाती है। सामान्य रूप से वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, उपमानलुप्ता आदि लुप्तोपमा के भेद होते हैं। उपमा–प्रसंग में निरुक्तकार ने जो लुप्तोपमा का वर्णन किया है, वह इस प्रकार का विस्तृत वर्णन न होकर केवल संकेत मात्र है। इस विषय का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने प्रशंसापरक और निन्दापरक दो प्रकार की लुप्तोपमा मानी है।

यास्क का उपमा–विवेचन शाब्दिक अर्थों पर ही अधिक अवलम्बित है। शास्त्रीय विवेचन अर्थात् काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त की मीमांसा की दृष्टि से उसका महत्त्व गौण है, तथापि निरुक्तकार का उपमा–विवेचन इस तथ्य का द्योतक है कि इनके पूर्व ही अलंकारों के शास्त्रीय विवेचन का श्रीगणेश हो चुका था। यास्क के पहले ही गार्ग्य आदि आचार्यों ने उपमा का विवेचन किया था तथा उपमा की व्याख्या

भी वेद–मन्त्रों के अर्थों में प्रारम्भ हो गई थी।

पाणिनि (लगभग ४०० ई०पू०):

पाणिनि की अष्टाध्यायी में निरुक्त से भी अधिक स्पष्ट रूप में उपमा का निरूपण किया गया है। उन्होंने उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य आदि अलंकार शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी में उपमा के चारों अंगों का उल्लेख निम्नांकित प्रकार है :

उपमानादाचारे।।[२७]

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां
तृतीयाऽन्यतरस्याम्।।[२८]

उपमानानि सामान्यवचनैः।।[२९]

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।।[३०]

उपमा के आर्थी एवं श्रौती भेद जो आगे चलकर अलंकारशास्त्रियों द्वारा गृहीत हुए हैं, उनका भी सर्वप्रथम विवेचन पाणिनि ने ही निम्न प्रकार किया है:

तत्र तस्येव।।[३१]

तथा **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः।।**[३२]

व्याकरण की दृष्टि से कृत्, तद्धित, समासान्त–प्रत्यय, समास–विधान तथा स्वर आदि का विचार भी उन्होंने सादृश्य के कारण उपस्थित किया है। सादृश्य के कारण इन पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा भी अष्टाध्यायी में की गई है। इसी प्रकार का प्रभाव अतिदेश के विचार से भी दिखाई पड़ता है, जिसका विवेचन पाणिनि के व्याख्याताओं ने किया है।

कात्यायन भी पाणिनि के ही मत को अपने वार्त्तिक में स्वीकार करते हैं। शान्तनव नामक आचार्य ने भी अपने फिट्–सूत्रों में सादृश्य के कारण स्वर–विधान पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन किया है।

पतञ्जलि (ल० १५० ई० पू०) :

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में पाणिनि के 'उपमान' शब्द की व्याख्या और उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है:

मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते
अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति।
तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते
तद् उपमानं गौरिव गवय इति।।[३३]

उन्होंने उपमान के 'मान' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि मान उसे कहते हैं, जो अज्ञात वस्तु का निर्धारण करे। उन्होंने उपमान को मान या माप के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

उपमान मान के ही समान होता है। उसके द्वारा वस्तु का सामान्य रूप से निर्देश होता है, जैसे—**'गौरिव गवयः'**। इस उदाहरण में चमत्कार का अभाव है, फिर भी इसमें उपमा का रूप प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि **'गाय के सदृश गवय या नीलगाय होती है।'** शास्त्रीय विचार की दृष्टि से पतञ्जलि के इस सोदाहरण विवेचन का निश्चित रूप से बहुत अधिक ऐतिहासिक मूल्य है।

उपर्युक्त सभी विवेचन उपमा की प्रारम्भिक स्थिति के द्योतक हैं। इन विवेचनों में शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा भाषा–परक रूप या सादृश्य के कारण भाषा या स्वर पर पडने वाले प्रभावों का संकेत ही अधिक है।

भरत मुनि (ल० ३०० ई०) :

भरत मुनि भारतीय काव्यशास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है, जो भारतीय कलाशास्त्र का विश्वकोष माना जाता है। इसमें ३६ अध्याय और ५००० श्लोक हैं। नाट्यशास्त्र के १६ वें अध्याय में अलंकारों का वर्णन है। भरत मुनि ने चार अलंकार स्वीकृत किये हैं—उपमा, दीपक, रूपक एवं यमक। उपमा का विवेचन उन्होंने निम्नांकित प्रकार किया है:

यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया।।
प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा।
किंचिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा पुनः।।
एकस्यैकेन सा कार्या ह्यनेकेनाथवा पुनः।
अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा।।[३४]

यदि गुण या आकृति की समानता के कारण काव्यबन्धों में सादृश्य के द्वारा तुलना की जाय तो वहाँ उपमा होती है।

इन्होंने उपमा के प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किंचित्सदृशी—इन पाँच भेदों का उल्लेख किया है तथा यह भी कहा है कि शेष भेदों को विद्वान् लक्षण एवं उदाहरण से जान लें। इनके अनुसार उपमा चार प्रकार से संभव है—एक की एक के साथ, एक की अनेक के साथ, अनेक की एक के साथ एवं अनेक की अनेक के साथ।

भरत मुनि के समय तक अलंकारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया था तथा

इनका शास्त्रीय स्वरूप भी निर्धारित नहीं हो सका था। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में केवल चार ही अलंकारों का निरूपण किया गया है तथा उपमा का विवेचन भी संक्षिप्त ही है। अलंकार–शास्त्र का वास्तविक विवेचन भरत में भी उपलब्ध नहीं होता, कारण नाट्यशास्त्र में अलंकारों का शास्त्रीय मूल्याकन अत्यल्प है।

मेधावि रुद्र (ल० ५०० ई०) :

भरतमुनि के पश्चात् आचार्य मेधावि रुद्र का नाम उल्लेखनीय माना जाता है। आचार्य भामह एवं नमिसाधु ने अपने ग्रन्थों में इनके नाम का उल्लेख किया है तथा दोनों ने ही उनकी चर्चा उपमा के सात दोष बतलाने के प्रसंग में की है। इनकी अपनी कोई रचना अब तक प्राप्त नहीं हुई है। मेधावि रुद्र द्वारा बताये गये उपमा दोष निम्नलिखित हैं :

(१) लिंगभेद, (२) वचनभेद, (३) हीनता, (४) आधिक्य, (५) असंभव, (६) विपर्यय और (७) असादृश्य।

इनमें से ५ दोष भामह के **काव्यालंकार** के द्वितीय परिच्छेद में मिलते हैं और शेष दो दोषों का नमिसाधु ने मेधाविन् के नाम से उल्लेख किया है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण (ल० ५०० ई०) :

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के १४वें परिच्छेद में कुल १८ अलंकारों का वर्णन किया गया है, जिनमें सबसे अन्त में उपमा का वर्णन इस प्रकार है :

वस्तुनस्तूपमानेन दर्शनं तन्निदर्शनम्।
विना तया स्यादुपमा तु यत्र तेनैव तस्यैव भवेन्नृवर।[३५]

इस पुराण में मात्र उपमा की परिभाषा दी गई है, उसके भेद–प्रभेद का वर्णन नहीं किया गया है।

दण्डी (ल० ६००–७५० ई०) :

अलंकारों का वास्तविक काव्यशास्त्रीय विवेचन दण्डी के **'काव्यादर्श'** से ही प्रारम्भ होता है, जो पण्डितराज जगन्नाथ तक आते–आते चरम सीमा को पहुँच गया। अलंकारवादी आचार्यों में दण्डी का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। इन्होंने काव्यशास्त्र–विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' की रचना की है। इसमें ३ परिच्छेद और ६६० छन्द है। काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में दण्डी ने उपमा के ३२ भेदों का उल्लेख किया है, जो अवैज्ञानिक है। इनके अनुसार–

यथा कथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते।।[३६]

जहाँ पर जिस किसी प्रकार से गुण एवं क्रियादि के द्वारा सादृश्य की प्रतीति

हो, वहाँ उपमा अलकार होता है। उन्होंने उपमा के धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, समानोपमा, निन्दोपमा आदि ३२ भेद किये हैं तथा अन्त में उपमा–दोष एवं इव, वत् आदि उपमावाचक पदों का भी वर्णन किया है।

भामह (ल० ६००–७५० ई०) :

दण्डी के पश्चात् भामह ने अपने **काव्यालंकार** में व्यापक रूप से अलंकारों का विवेचन किया है। काव्यालंकार में ६ परिच्छेद हैं। इसके द्वितीय एवं तृतीय परिच्छेद में अलंकारों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में उपमा के साथ ही इन्होंने मेधावि रुद्र का उल्लेख करते हुए उपमा के सात दोषों का भी विवेचन कर उपमा को दोषमुक्त रखने का आग्रह किया है। भामह ने व्याकरण के आधार पर उपमा का वर्गीकरण किया है, जिसे बाद में उद्भट एवं मम्मट ने भी स्वीकार किया। उपमा तथा समस्त सादृश्यमूलक अलंकारो के मूल में वर्तमान असंगति का बड़ी स्पष्टता से निवारण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से की जाती है तो उनमे सर्वतोभावेन सादृश्य होना चाहिए, तभी वह तुलना उचित होगी, पर किसी भी तुलना में ऐसा नहीं होता, फिर भी उपमा दी जाती है। इस विषय में उनका कथन है कि गुण–लेशमात्र से भी साम्य दिखाई देने पर उपमा हो सकती है; क्योंकि–

सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते।।[३७]

उपमा की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा है :

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा।।
यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः।
दूर्वाकाण्डमिव श्यामं तन्वी श्यामा लता यथा।।
विना यथेव शब्दाभ्यां समासाभिहिता परा।
यथा कमलपत्राक्षी शशांकवदनेति च।।
वतिनापि क्रियासाम्यं तद्वदेवाभिधीयते।
द्विजातिवदधीतेऽसौ गुरुवच्चानुशास्ति नः।।[३८]

भामह ने देश, काल और क्रिया आदि के साथ विरुद्ध (भिन्न) उपमान से गुणलेश के कारण उपमेय की समता को उपमा कहा है तथा श्रौती, आर्थी आदि

उपमा के कई भेद–प्रभेद किये हैं। इन्होंने प्राचीनतर आचार्यों द्वारा वर्णित निन्दा, प्रशंसा, आचिख्यासा आदि उपमा–भेदों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि उपमा के सामान्य गुणों का जो निरूपण हुआ है उसी में ये गतार्थ हो जाते हैं। अतः मालोपमा आदि भेदों का उल्लेख व्यर्थ का विस्तार होगा। भेद की उपयोगिता तो तब है जब उसमें कोई वैशिष्ट्य हो, वैशिष्ट्य के अभाव में भेदीकरण निष्प्रयोजन है।

उद्भट (ल० ७५०–८०० ई०) :

अलंकार–विवेचन के क्षेत्र में उद्भट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने मात्र पूर्ववर्ती आलंकारिकों का अनुकरण ही नहीं किया, अपितु अलंकार–विवेचन के क्षेत्र में नवीन पद्धति को भी अपनाया। इनके **काव्यालंकार सार-संग्रह** में ६ वर्ग और ७६ कारिकाएँ हैं। प्रथम वर्ग में उपमा का विवेचन इस प्रकार है:

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
मिथो विभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्।।
यथेवशब्दयोगेन सा श्रुत्यान्वयमर्हति।
सदृशादिपदाश्लेषादन्यथेत्युदिता द्विधा।।
संक्षेपाभिहिताप्येषा साम्यवाचक-विच्युतेः।
साम्योपमेयतद्वाचिवियोगाच्च निबध्यते।।
उपमानोपमेयोक्तौ साम्यतद्वाचिविच्यवात्।
क्वचित्समासे तद्वाचि विरहेण क्वचिच्च सा।।
तथोपमानादाचारे क्यच्प्रत्यय बलोक्तितः।
क्वचित्सा कर्तुराचारे क्यङा सा च क्विपा क्वचित्।।
उपमाने कर्मणि वा कर्त्तरि वा यो णमुल्कपादिगतः।
तद्वाच्या सा वतिना च कर्मसामान्यवचनेन।।
षष्ठीसप्तम्यन्ताच्च यो वतिनीमतस्तदभिधेया।
कल्पप्प्रभृतिभिरन्यैश्च तद्विधतैः सा निबध्यते कविभिः।।[३६]

उद्भट के अनुसार उपमा अलंकार में उपमेय एवं उपमान के बीच मनोहारी सादृश्य होता है। इन्होंने उपमा–लक्षण में **'चेतोहारित्व'** का प्रयोग कर नये विचार का समावेश किया है, जिससे चमत्कारजनकता उपमा के लिए आवश्यक तत्व हो गई है।

उद्भट ने उपमा के दो भेद किये हैं–पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा। पुनः पूर्णोपमा के ५ भेद तथा लुप्तोपमा के १२ भेद–कुल १७ भेदों का उल्लेख किया है। इनका

उपमा–विवेचन वैज्ञानिक है, जिसे मम्मट आदि आचार्यों ने उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। अलकारों के वर्गीकरण में इन्होंने स्वतन्त्रता से काम लिया है तथा शब्द–शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाकर उसका विभाजन किया है।

वामन (ल० ८०० ई०) :

उद्भट के पश्चात् साहित्यशास्त्र में वामन का नाम उल्लेखनीय है। इनकी **'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति'** में ५ अधिकरण और १२ अध्याय हैं। आलंकारिक नामक चतुर्थ अधिकरण के द्वितीय अध्याय में उपमा को अर्थालंकारों का मूल मानते हुए उन्होंने कहा है :

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।
कविभिः कल्पितत्वात् कल्पिता। पूर्वा तु लौकिकी।।[४०]

वामन ने गुण के लेश से उपमान के साथ उपमेय के साम्य को उपमा कहा है। इन्होंने उपमा के कल्पिता, लौकिकी, पदवृत्ति, वाक्यार्थवृत्ति, पूर्णा एवं लुप्ता–ये ६ भेद किये हैं तथा स्तुति, निन्दा और तत्त्वाख्यान को उपमा का प्रयोजन बताया है। इसी प्रसंग में इन्होंने ६ उपमा–दोषों का भी वर्णन किया है।

रुद्रट (ल० ८२५–८७५ ई०) :

रुद्रट के **काव्यालंकार** में १६ अध्याय हैं। इनमें काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अलंकारों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करके इन्होंने ११ अध्यायों में इसका विस्तृत विवेचन किया है। इनका वर्गीकरण वैज्ञानिक है। इनके अनुसार–वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष ही अलंकारों के चार विभाजक तत्त्व हैं। काव्यालंकार के आठवें अध्याय में सर्वप्रथम औपम्य की परिभाषा के पश्चात् उपमा का विवेचन किया गया है :

उभयोः समानमेकं गुणादिसिद्धं भवेद्यथैकत्र।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रिधा।।[४१]

रुद्रट के अनुसार उपमेय एवं उपमान में समान साधारण धर्म के कारण समता का दिखाई पड़ना ही उपमा है। इस लक्षण में इन्होंने गुणादि सिद्ध समान को महत्त्व प्रदान किया है। यहाँ गुणादि से अभिप्राय गुण संस्थानादि से है। इन्होंने उपमा के मुख्य तीन भेद माने हैं–वाक्योपमा, समासोपमा एवं प्रत्ययोपमा। वाक्योपमा के ६ भेद तथा अन्य दोनों के एक–एक भेद हैं। उपमा के भेद–प्रभेद का वर्णन करने के पश्चात् ११ वें अध्याय में इन्होंने वैषम्य, असम्भव, अप्रसिद्धि और सामान्य शब्द–भेद–इन चार उपमा–दोषों का भी उल्लेख किया है।

अग्निपुराण (ल० ९०० ई०) :

अग्निपुराण के ३४४ वें अध्याय में ८ अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है, जिनमें से सादृश्य के अन्तर्गत उपमा का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः।
सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम्।।
किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्त्तते।
समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः।।[४२]

उपमान एवं उपमेय की समानता में अन्तर होने पर भी यदि उनमें सादृश्य दिखाया जाय तो वहाँ उपमा होती है। इसमें उपमा के १८ भेदों की कल्पना की गई है। सर्वप्रथम (१) समासोपमा और (२) असमासोपमा–ये दो भेद किये गये हैं। जहाँ संश्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हो, वहां समासोपमा तथा उपमावाचक (सादृश्य) पदों के प्रयोग में असमासोपमा होती है। इनके तीन–तीन भेद होकर कुल १८ भेद किये गये हैं।

कुन्तक (ल० ९५०–१००० ई०) :

वक्रोक्ति–सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक ने अपने **'वक्रोक्तिजीवितम्'** को चार उन्मेषों में विभाजित किया है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तृत विवेचन कर उसमें अलंकारों का अन्तर्भाव किया है। तृतीय उन्मेष में ही उपमा का विवेचन किया गया है। कुन्तक के अनुसार–

विवक्षित परिस्पन्द मनोहारित्व सिद्धये।
वस्तुनः केनचित्साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा।।[४३]

वर्णनीय पदार्थ के स्वभाव की सुन्दरता की सिद्धि के लिए इस (सौन्दर्य) के उत्कर्ष से युक्त किसी वस्तु के साथ साम्य (प्रदर्शन करना) उपमा है। इन्होंने उपमा के भेद–प्रभेद के वर्णन के अतिरिक्त प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्शना और परिवृत्ति अलंकार का अन्तर्भाव भी उपमा में ही किया है तथा उपमा को एकमात्र वाक्यवक्रता में अन्तर्भूत किया है। वक्रोक्तिजीवितकार का उपमा लक्षण सबसे विलक्षण है। इनके लक्षण में तीन बातों पर विचार किया गया है–(१) वर्णनीय पदार्थ की सौन्दर्य–वृद्धि के लिए उससे अधिक गुणशाली पदार्थ से समता दिखाना; (२) उपमावाचक शब्दों का चमत्कारपूर्ण क्रियादि के साथ सम्बन्ध; (३) वर्णनीय के मनोहारित्व की सिद्धि ही उपमा का उद्देश्य है।

वस्तुतः कुन्तक वक्रोक्तिवादी आचार्य हैं, जिसमें वचन–वक्रता पर विशेष बल दिया गया है, अतः उनके उपमा–लक्षण में 'विदग्धता' का समावेश स्वाभाविक है।

भोज (ल० १००५–१०५४ ई०) :

धारा–नरेश भोजराज इतिहास–प्रसिद्ध दानी एवं कवियों के आश्रयदाता थे।

इन्होंने काव्यशास्त्र–विषयक दो ग्रन्थों की रचना की है–(१) शृंगार–प्रकाश, (२) सरस्वती–कण्ठाभरण।

शृंगार–प्रकाश रसपरक ग्रन्थ है। सरस्वती–कण्ठाभरण में ५ प्रकरण हैं। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकरण में ७२ अलकारों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ प्रकरण में उभयालंकार के अन्तर्गत उपमा का विदेचन इस प्रकार किया गया है:

तत्प्रसिद्धयनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।

भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता।।[४४]

दो पदार्थो में प्रसिद्धि के कारण परस्पर अवयव की समानता के योग का वर्णन उपमा है। भोज ने दो पदार्थो (उपमेय एवं उपमान) में आकृति के योग को ही उपमा स्वीकार किया है। इन्होंने उपमान की प्रसिद्धि का भी उल्लेख किया है, जो परम्परागत है तथा उपमा के २४ भेद किये हैं।

मम्मट (ल० १०५०–११००) :

आचार्य मम्मट का **काव्यप्रकाश** संस्कृत–साहित्यशास्त्र का गौरव एवं काव्य–शास्त्र का समन्वयात्मक ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन आलोचकों की मान्यताओं का खण्डन–मण्डन कर उनकी युक्तियुक्तता पर विस्तृत विवेचन किया गया है तथा समीक्षा के द्वारा काव्यशास्त्र का एक प्रौढ़, सुव्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण सिद्धान्त निर्धारित किया गया है।

काव्य–प्रकाश में १० उल्लास हैं। दशम उल्लास के प्रारम्भ में ही अर्थालंकारों के अन्तर्गत सर्वप्रथम उपमा का विवेचन किया गया है। मम्मट ने उपमेय तथा उपमा में भेद होने पर उनके साधर्म्य को उपमा कहा है। उनके उपमा–लक्षण में भामह एवं उद्‌भट–दोनों के विचारों का सार है। उन्होंने **'साधर्म्यमुपमा भेदे'** (का० प्र० १०/१२५) इस परिभाषा में भामह द्वारा कथित देश, काल, क्रिया आदि का विरोध तथा उद्‌भट द्वारा निरूपित 'मिथोविभिन्नकालादिवाच्यत्व' विचार का भेद शब्द में समन्वय किया है। सक्षिप्तता एवं गंभीरता इनकी परिभाषा की विशेषता है। इन्होने उपमा के २५ भेद किये हैं। मुख्य भेद २ हैं–पूर्णा एवं लुप्ता। पूर्णा के ६ एव लुप्ता के १६ भेद किये हैं। इन्होंने उपमा–विभाजन में उद्‌भट के वर्गीकरण को अपनाया है तथा लुप्तोपमा के श्रेणी–विभाग में व्याकरण–विषयक व्युत्पत्ति को प्रदर्शित किया है।

रुय्यक (ल० ११३५–११५० ई०) :

रुय्यक की **'अलंकार-सर्वस्व'** अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। यह दो प्रकरणों में विभाजित है–(१) शब्दालंकार–प्रकरण और (२) अर्थालंकार–प्रकरण। अर्थालंकार में विभाजित उपमा की विवेचना की गई है :

उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा।।[४५]

उपमान और उपमेय का समान धर्म के साथ ऐसा सम्बन्ध, जिसमें भेद और अभेद (प्रधान या अप्रधान न होकर) समान हो, उपमा अलंकार कहलाता है। इन्होंने तीन प्रकार का साम्य बतलाकर उपमा में तीसरे प्रकार के साम्य की स्थिति को स्वीकार किया है। ध्वनिवादी होने पर भी इनका अलंकार–निरूपण अत्यन्त प्रौढ़ और वैज्ञानिक है।

वाग्भट (ल० ११२३–११५०ई०) :

वाग्भट जैन–परम्परा के आचार्य थे। इनका **'वाग्भटालंकार'** ५ परिच्छेदों में विभाजित है। वाग्भटालंकार के चतुर्थ परिच्छेद के मध्य में उपमा का विवेचन किया गया है :

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा।
प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता।।[४६]

जहाँ वति आदि प्रत्यय, इव आदि अव्यय, तुल्य आदि शब्द और कर्मधारय आदि समासों के प्रयोग से अप्रस्तुत (उपमान) के साथ प्रस्तुत (उपमेय) में सादृश्य दिखाया जाता है, वहाँ उपमा अलंकार होता है। इन्होंने उपमा के पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, अन्योन्योपमा, समुच्चयोपमा और मालोपमा–ये ५ भेद किये हैं तथा उपमा–दोष का भी उल्लेख किया है।

हेमचन्द्र (ल० ११३६–११४३) :

प्रसिद्ध वैयाकरण जैनाचार्य हेमचन्द्र का **काव्यानुशासन** आठ अध्यायों में विभाजित है। काव्यानुशासन के पंचम अध्याय में शब्दालंकार एवं षष्ठ अध्याय में अर्थालंकार का विवेचन किया गया है। हेमचन्द्र के अनुसार :

''हृद्यं साधर्म्यमुपमा।।''[४७]

सुन्दर चमत्कारपूर्ण सादृश्य ही उपमा है। उन्होंने उपमा–भेद के अन्तर्गत समस्तविषया एवं एकदेशविषया नामक भेद का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा उपमेयोपमा और अनन्वय का अन्तर्भाव उपमा में ही किया है।

जयदेव (ल० १२००–१२५० ई०) :

जयदेव का **'चन्द्रालोक'** अलंकार–विषयक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसमें १० मयूख हैं–३५० छन्दों में काव्यशास्त्र के सभी अंगों का सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। पंचम मयूख में अलंकारों का निरूपण किया गया है। इसमें एक ही श्लोक में अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। संख्या की दृष्टि से जयदेव ने सबसे अधिक अलंकारों का वर्णन किया है। पंचम मयूख में उपमा की

परिभाषा निम्न प्रकार है :

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।
हृदये खेलतोरुच्चैस्तन्वङ्गीस्तनयोरिव।।[४८]

उपमेय एवं उपमान के सादृश्य को सहृदय के हृदय का आह्लादक तथा व्यंजनाशक्ति के बिना ही स्पष्ट रूप से (अभिधा के द्वारा ही) प्रकट करना उपमा है। उपमा के भेद–प्रभेद का इन्होंने विस्तृत विवेचन नहीं किया है। उपमा–लक्षण में 'द्वयोः' शब्द के द्वारा अनन्वय का निवारण एवं सादृश्य के द्वारा अभिधागत सादृश्य या व्यंग्य–रहित सादृश्य को द्योतित किया है। इन्होंने उपमान एवं उपमेय दोनों के सादृश्य लक्ष्मी या चमत्कारजनक सादृश्य का वर्णन किया है, गुणलेश या उपमान के उत्कर्ष का नहीं। यहाँ उपमान एवं उपमेय का सादृश्य वाच्य रहता है, व्यंग्य नहीं।

विद्याधर (ल० १२८५–१३२५) :

विद्याधर की **एकावली** तीन भागों में विभाजित है–कारिका, वृत्ति एवं उदाहरण। तीनों विद्याधर की ही रचना हैं। इसमें आठ उन्मेष हैं, जिनमें काव्य के स्वरूप, वृत्ति, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, रीति, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर अलंकार–सर्वस्व एवं काव्यप्रकाश का प्रभाव है। आठवें उन्मेष में उपमा–लक्षण एवं भेद–प्रभेद का विवेचन किया गया है।

विद्यानाथ (ल० १३२५ ई०) :

विद्यानाथ ने अपने आश्रयदाता आन्ध्रप्रदेश के काकतीयवंशी राजा प्रतापरुद्र की प्रशंसा में **'प्रतापरुद्रयशोभूषण'** की रचना की है। यह ६ प्रकरणों में विभाजित है। इसके अलंकार–प्रकरण पर अलंकारसर्वस्व का अधिक प्रभाव है। अलंकार विवेचन में स्पष्टता अधिक है। इन्होंने प्रारम्भ में अलंकारों के स्वरूप, विभाग एवं परस्पर वैलक्षण्य का निरूपण किया है। इनके अनुसार :

स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संगतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा।।[४९]

एक वाक्य में दो पदार्थों का वैधर्म्य–रहित वाच्य सादृश्य–उपमा है। इन्होंने उपमा में साम्य को वाच्य माना है, व्यंग्य नहीं। साधर्म्य का विभाजन तीन प्रकार से किया है–भेद–प्रधान, अभेद प्रधान, भेदाभेद–प्रधान। उपमा को इन्होंने भेदाभेद प्रधान साधर्म्य पर आश्रित माना है।

उपमा–भेद में समस्तवस्तुविषया तथा एकदेशविवर्तिनी नामक उपमा के दो विशेष भेद माने हैं।

वाग्भट (ल० १४०० ई०) :

वाग्भट–रचित **'काव्यानुशासन'** अलकार–विषयक ग्रन्थ है। इसमें पाँच अध्याय हैं। तृतीय अध्याय में ६३ अर्थालंकारों का एवं चतुर्थ अध्याय मे शब्दालंकारो का परम्परागत वर्णन है। इनके अनुसार :

चमत्कारि साम्यमुपमा।।[५०]

उपमान और उपमेय का वह सादृश्य, जो सहृदय के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करता है, उपमा है।

विश्वनाथ (ल० १३००–१३८४ ई०) :

कविराज विश्वनाथ का प्रसिद्ध ग्रन्थ **'साहित्यदर्पण'** है, जो विषय के विस्तार एवं प्रतिपादन की सुबोधता के कारण अत्यधिक लोकप्रिय है। इसमें विषय की स्पष्टता एवं सुबोध शैली के अतिरिक्त मनोहर हृदयग्राही उदाहरणों की भी कमी नहीं है। इसमें १० परिच्छेद हैं। दशम परिच्छेद में अलंकारों का विवेचन किया गया है। अलंकार–विवेचन में अलंकारसर्वस्व एवं काव्यप्रकाश का प्रभाव होते हुए भी मौलिकता अधिक है। दशम परिच्छेद में उपमा का विवेचन इस प्रकार किया गया है:

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।।[५१]

उपमा दो पदार्थों का वह वैधर्म्यवाच्यसाम्य है, जो एक वाक्य–प्रतिपाद्य हुआ करता है। इन्होंने उपमा के मुख्य दो भेद किये हैं–पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। पुनः श्रौती एवं आर्थी रूप से पूर्णोपमा के ६ और लुप्तोपमा के २१, कुल २७ भेद किये हैं। उपमा में साधारण धर्म, उसके स्वरूप एवं प्रकार का भी निर्देश किया गया है।

केशव मिश्र (ल० १५५० ई०) :

केशव मिश्र का **'अलंकारशेखर'** आठ रत्नों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय में कई मरीचियाँ हैं, जिनकी संख्या २२ है। चतुर्थ रत्न की द्वितीय मरीचि में उपमा का विवेचन किया गया है :

तत्र भेदे सति साधर्म्यमुपमा[५२]

भेद होने पर उपमेय का उपमान के साथ जो परस्पर साम्य है, वह उपमा है। इन्होंने वाक्यार्थोपमा, अतिशयोपमा आदि उपमा के १० भेद किये हैं।

अप्पय दीक्षित (ल० १५५४–१६२६ ई०) :

अप्पय दीक्षित बहुमुखी प्रतिभावान् व्यक्ति थे। इन्होंने काव्यशास्त्र–विषयक तीन ग्रन्थों की रचना की है–वृत्तिवार्त्तिक, चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द। वृत्तिवार्त्तिक में अभिधा, लक्षणा–शक्तियों का विवेचन है। चित्रमीमांसा अत्यन्त प्रौढ़ एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें १२ अलंकारों का विस्तार से विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया गया है। यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मत का खण्डन कर नवीन

परिभाषा प्रस्तुत की गई है। उपमा का विवेचन करते हुए कहा है :

> **उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।**
> **रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।**
> **उपमिति क्रिया निष्पत्तिमत्सादृश्य वर्णनमुपमा।।**[५३]

जहाँ सादृश्य या समानता के वर्णन में उपमिति क्रिया की उत्पत्ति होती है तथा सादृश्य का वर्णन अपने मे अपर्यवसायी होता है, वहां उपमा होती है अथवा वही सादृश्य–वर्णन उपमा है, जो दोष–रहित हो, वाच्य हो तथा उपमिति क्रिया से उत्पन्न हो।

कुवलयानन्द में दीक्षित ने जयदेव के ही शब्दों को उतारकर सीधे–सीधे ढंग से उपमा का वर्णन किया है; जैसे–

> **उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।**
> **हंसीव कृष्ण ते कीर्त्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते।।**
> **वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च।**
> **एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा।।**[५४]

जहाँ दो पदार्थों–उपमान तथा उपमेय में समानता के कारण विशेष प्रकार की शोभा होती हो, वहाँ उपमा होती है। इसी कथन को और स्पष्ट करते हुए इन्होंने कहा है कि जहाँ व्यंजना–शक्ति के स्पष्ट रूप से उपमेय और उपमान की समानता की चारुता सहृदयों को आनन्दित करती है, वहाँ उपमा होती है। इन्होंने उपमा के पूर्णा और लुप्ता दो भेद किये हैं तथा लुप्तोपमा के आठ भेद किये हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ (ल० १६२०–१६६०) :

पण्डितराज संस्कृत–काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रौढ आचार्य हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ **'रसगंगाधर'** है, जिसमें काव्यशास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन नव्यन्याय–शैली में किया गया है। यह ग्रन्थ ध्वन्यालोक एवं काव्यप्रकाश की श्रेणी का है। इसमें विद्वत्ता, पाण्डित्य, तर्कपूर्ण खण्डन एवं सरस उदाहरणों का समावेश है। पण्डितराज ने अलंकारों का विवेचन करते समय पूर्ववर्त्ती आचार्यों के लक्षणों एवं उदाहरणों में दोष दिखला कर उनका नये ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इन्होंने शब्दालंकारों का वर्णन नहीं किया है। अलंकारों का क्रम रुय्यक के अलंकार–सर्वस्व के अनुसार है। शब्द–शक्तियों के दृष्टिकोण से अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत कर इन्होंने नवीन प्रणाली चलाई है। रसगंगाधर के द्वितीय आनन के मध्य में इन्होंने उपमा का विवेचन किया है :

> **सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालङ्कृतिः।।**[५५]

पण्डितराज के अनुसार वाक्यार्थ को शोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य का

नाम उपमा है। उपमा–लक्षण के पश्चात् इन्होंने कल्पितोपमा को उपमा के अन्दर सयुक्तिक संगृहीत किया है तथा प्राचीन आचार्यो द्वारा रचित उपमालक्षणो की आलोचना की है। तत्पश्चात् प्राचीनोक्त उपमा के २५ भेदों को गिनाकर उनके उदाहरण दिये हैं। २५ भेदों के अतिरिक्त उपस्कार्य–भेद से उपमा के ५ भेद और किये हैं। इस प्रकार २५ के पञ्चविध और हो जाने से १२५ और ३२ भेद मानने वाले प्राचीनों के मत से १६० भेद हो सकते हैं। उपमा के भेद–प्रभेद के पश्चात् अन्त में उपमा–दोषों का भी वर्णन किया है।

समीक्षा :

उपर्युक्त उपमा अलंकार के क्रमिक विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश आचार्यो ने उपमा का विस्तृत विवेचन करने का प्रयत्न किया है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने उपमा को अर्थालंकारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हुए इसकी परिभाषा में सादृश्य, साम्य एवं साधर्म्य–इन तीनों में से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है, जैसे–भरत, दण्डी, जयदेव एवं जगन्नाथ ने 'सादृश्य' शब्द का; भामह, वामन, विद्यानाथ, वाग्भट एवं विश्वनाथ ने 'साम्य' शब्द का तथा उद्भट, मम्मट, रुय्यक और हेमचन्द्र ने 'साधर्म्य' शब्द का प्रयोग किया है। कतिपय आलंकारिकों ने सादृश्य, साम्य अथवा साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य शब्दों का भी उपमा की परिभाषा में सन्निवेश किया है। ये शब्द प्रधानतः तीन प्रकार के हैं–(१) गुणलेश अथवा उसके पर्यायवाची शब्द, जो सादृश्य आदि के कारण हैं। (२) उपमानोपमेय, जिनमें सादृश्य स्थापित किया जाता है। (३) उपमा के अन्य अलंकारों से विभेद के सूचक शब्द।

भामह तथा वामन ने गुणलेश और उपमानोपमेय–दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। दण्डी ने केवल गुणलेश के पर्यायवाची शब्द का तथा उद्भट एवं रुय्यक ने उपमानोपमेय शब्द का सन्निवेश किया है। मम्मट, विद्यानाथ और विश्वनाथ ने उपमा को अनन्वय, उत्प्रेक्षा, रूपक एवं उपमेयोपमा से पृथक् सिद्ध करने के लिए क्रमशः 'भेदे', 'स्वतः सिद्धत्व' तथा 'वाच्य' आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

उपमा की परिभाषा में गुणलेशतः अथवा उसके पर्यायवाची शब्द का सन्निवेश अनावश्यक है यह गुणलेश सादृश्य शब्द में ही अन्तर्भूत है। अतः इसके पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं। सादृश्य की परिभाषा **'तद्भिन्नत्वे सति तद्गत भूयोधर्मवत्त्वम्'** की गई है। इस प्रकार 'तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' अथवा 'अवयव–सामान्य–योग' इसका एक अंग है। यह 'अवयव–सामान्य–योग' 'गुण–सामान्य–योग', अथवा 'क्रियासामान्य योग' के रूप में होता है। अतः गुणलेशतः के पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं।

उपमानोपमेय के भी पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं है। 'सादृश्य' शब्द से ही इन दोनों का काम चल सकता है। सादृश्य ऐसी दो वस्तुओं को मानकर

चलता है, जिनमें एक दूसरी के समान हो। ये दो वस्तुएं ही क्रमशः उपमेय तथा उपमान होती हैं। जिस वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य दिखाया जाता है वह उपमेय होती है और उसका जिससे सादृश्य दिखाया जाता है वह उपमान होती है। इस प्रकार उपमानोपमेय भी सादृश्य मे अन्तर्हित है। उपमानोपमेय भाव के सादृश्य मे इसी अन्तर्भाव को लक्ष्य करके मम्मटादि ने उपमा की परिभाषा में इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। काव्य–प्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य भी इसी मत के समर्थक है।

उपमा में अन्य अलंकारों से विभेद करनेवाले तत्त्वों का सन्निवेश भी उचित नहीं है। अलंकार के स्वरूप का निर्णायक हेतु चमत्कार होता है। अतः उसकी परिभाषा में चमत्कार का सन्निवेश होना चाहिए, चमत्कार से असम्बद्ध अन्य अलंकारों के विभेदक तत्त्वों का नहीं। विभेदक तत्त्वों का ज्ञान तो बाद की एक क्रिया है, जिसका अलकार के स्वरूप से उतना सम्बन्ध नहीं होता जितना अलंकारों की पारस्परिक तुलना की तर्क–प्रणाली से है।

अलकार का स्वरूप चमत्कार है। चमत्कार के स्वरूप–भेद के अनुसार ही भिन्न–भिन्न अलंकार बनते हैं। अतः अलंकार की परिभाषा में चमत्कार अथवा उसके पर्यायवाची शब्दों का सन्निवेश उचित है। जहाँ इन शब्दों का प्रयोग नहीं भी होता, वहां अलंकार के सामान्य लक्षण द्वारा आक्षेप से इनकी उपस्थिति माननी चाहिए। उद्भट, वाग्भट, हेमचन्द्र एवं जगन्नाथ ने उपमा की परिभाषा में चमत्कार–सूचक शब्दों का प्रयोग किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी परिभाषा में सादृश्य तथा सुन्दर शब्द के अतिरिक्त 'वाक्यार्थोपस्कारक' शब्द का भी प्रयोग किया है। कारण, वे अलंकार को गौण मानकर प्रधान अर्थ का उपस्कारक मानते हैं। उनके अनुसार प्रधानता तथा अलंकारता परस्पर–विरोधी हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि जहाँ चमत्कार अलंकार के कारण होता है, वहां प्रधानता अलंकार की ही होती है और वही वाक्यार्थ के रूप में अभिव्यक्त होता है। वाक्यार्थ उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, जिसका अलंकार उपकार करे। ऐसा तो तभी संभव है जब अलंकार शब्द तथा अर्थ से भिन्न कोई वस्तु हो। परन्तु ऐसी बात नहीं। अलंकार शब्द तथा अर्थ के रूप में अभिव्यक्त होता है और उसी का रूप है।

व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर अलंकार का व्यंग्यार्थ से भिन्न रहकर उसका उपस्कारक होना संभव है, किन्तु वाच्यार्थ की प्रधानता की दशा में ऐसी बात नहीं। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है, अतः इसकी प्रधानता होने पर वाच्यार्थ के स्वरूप, उपमा, रूपक आदि उसके अंग बनकर उसके उपस्कारक होते हैं जबकि वाच्यार्थ की प्रधानता होने पर अलंकार उससे भिन्न होकर उसके उपस्कारक नही होते, अपितु उसी के स्परूप होते हैं।

कुछ आलंकारिको ने उपमा की परिभाषा मे 'सादृश्य' अथवा 'साम्य' शब्द का प्रयोग न करके 'साधर्म्य' का प्रयोग किया है, किन्तु सादृश्य तथा साधर्म्य में भेद है। सादृश्य में अवयव–सामान्य के अतिरिक्त अवयव–विशेष का भी ध्यान रहता है जबकि साधर्म्य में केवल अवयव–सामान्य का ही ध्यान रहता है। उपमा में साधर्म्य की प्रतीति न होकर सादृश्य की प्रतीति होती है। **'मुखं कमलमिव सुन्दरम्'** इस उदाहरण में साधारण धर्म 'सौन्दर्य' के आधार पर मुख का कमल से सादृश्य अभिप्रेत है। मुख तथा कमल दोनों का साधारण धर्म सौन्दर्य से नहीं। अतः उपमा की परिभाषा 'सुन्दरम् साधर्म्यम्' न करके 'सुन्दरम् सादृश्यम्' करना उपयुक्त है।

वस्तुतः उपमा औपम्यमूलक अलंकारों का पुराण–पुरुष है। भामह के अनुसार रूपक में गुण–साम्य तथा उत्प्रेक्षा में क्रिया–साम्य पर ध्यान जाता है, अतः उपमा अलंकार वस्तु साम्य में माना जाये तो उत्तम है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. काव्यादर्श २/१

२. काव्य० सू० ३/१/२

३. ऋ० १/१२४/७

४. ऋ० १/२५/४

५. यजुर्वेद ३४/६

६. यजुर्वेद ३/५

७. ऋ० १/३१/१५

८. ऋ० १/११३/१५

९. ऋ० ५/३/३

१०. ऋ० ८/४०/९

११. श० ब्रा० १२/१/१५

१२. मुण्ड० २/२/६

१३. प्रश्न० २/७

१४. ब्र० सू० भा० ३/२/१८

१५. निरुक्त ३/१४

१६. ऋ० १०/४/६

१७. ऋ० १०/४०/१२

१८. ऋ० ५/७८/८

१६. ऋ० १/५०/३
२०. ऋ० १/४१/६
२१ ऋ० १०/११/६
२२. ऋ० ८/२/४०
२३. ऋ० २/३५/१०
२४. ऋ० ५/४४/१
२५. ऋ० १/४५/३
२६. निरुक्त ३/३/४
२७. अष्टाध्यायी ३/१/१०
२८. अ० २/३/७२
२६. अ० २/१/५५
३०. अ० २/१/५६
३१. अ० १/५/११६
३२. अ० ५/१/११५
३३. पातञ्जल म० भा० २/१/५५
३४. नाट्य १६/४१–४२, ४६
३५. वि० ध० पु० १४/१५
३६. काव्यादर्श २/१४
३७. का० २/४३
३८. का० २/३०–३३
३६. का० सा० सं० १/१५–२१
४०. का० ४/२/१–२
४१. का० ८/४
४२. अ० पु० ३४४/६–७
४३. व०जी० ३/२८
४४. स० क० ४/५
४५. अ० स० २/१२
४६. वा० ४/५०
४७. काव्या० ६/१/६
४८. चन्द्रालोक ५/११
४६. प्र०रु०य०, पृ० २५४
५०. काव्या०, पृ० ३३
५१. सा०द०, १०/१४
५२. अ०शे०, ४/२/३
५३. चि०मी०, पृ० ६
५४. कु० ६–७, पृ० ६
५५. रस०गं०, द्वितीय आ०, पृ० २११

द्वितीय अध्याय

वेदों में उपमा का स्वरूप

(क) उपमा का महत्त्वः-प्रत्येक अर्थ की स्वाभाविक रूप से सुन्दरता के साथ सहृदयों में गहरी पैठ कराने हेतु भावना से युक्त कवियों के द्वारा प्रयोग किये जाने वाले उपायों में यह उपमा निश्चय ही एक है। किसी भी नूतन वस्तु को देखकर अथवा नूतन भाव की विभावना (स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान) करके प्रत्येक मनुष्य उस–उस वस्तु की अथवा उस भाव की समानता किसी पूर्वविदित वस्तु अथवा पहले से अनुभव किये गये भाव में देखना चाहता है। उसे उसी प्रकार ही वर्णन करना चाहता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। उपमान–योजना के द्वारा कवि अथवा कोई अन्य जन भी थोडे से थोड़े शब्दों से अपने हृदय में उत्पन्न होने वाले भाव को अत्यधिक स्पष्टता और बोध गम्यता से श्रोता अथवा पाठक के मन में प्रविष्ट करा सकता है। भावों की अभिव्यक्ति में उपमान और उपमेय की अवस्थिति अनिवार्य है। केवल विश्व के समृद्धतम साहित्य में ही नहीं अपितु असभ्य से असभ्य जगली जाति की बोलचाल की भाषा में भी उपमान और उपमेय का भाव दृष्टिगोचर होता है। अनादिकाल से ही मनुष्य अपने कथनीय तात्पर्य को विस्तार देने के लिए उपमा का सहारा लेता है। साहित्य में प्रायशः मानव की अन्तरात्मा में निहित सौन्दर्य–भावना ही उपमा के प्रयोग के मूल में रहती है। अन्तःकरण से निकली स्वाभाविक उपमा ही काव्य की शोभा को बढ़ाती है, क्योंकि वह कवि की अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग है। उसके लिए कवि थोड़े भी यत्न की अपेक्षा नहीं करता है। समानता या सादृश्य की भावना भी हृदय में अनेक रूपों में उत्पन्न होती है और काव्य में अनेक अलंकारों का कारण बनती है। प्रायशः अर्थालंकार उपमा की ही बदली हुई दशाएँ हैं। विरोध अथवा असमानता भी वस्तु के सादृश्य अथवा साधर्म्य का ही दूसरा पक्ष है। उपमा के ऐसे व्यापक प्रभाव को देखकर ही आचार्य इसकी अनेक प्रकार से स्तुति करते हैं। जैसे कि अप्पय दीक्षित ने इसे काव्य रूपी रंगमंच की अभिनेत्री कहा है, यथा–

''उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।[१]

'अलंकार शेखर' में राजशेखर कहता हैः–

''अलंकार शिरोरत्नं सर्वस्वंकाव्य सम्पदाम्।

उपमा कवि वंशस्य मातेवेति मतिर्मम।।"[2]

अर्थात्, काव्य–सम्पदाओं का सर्वस्व, अलंकार का शिरोरत्न और कवि वंश की माता के समान यह उपमा अलंकार है, ऐसी मेरी मान्यता है।

राजानक रुय्यक कहता है–

"उपमैवानेक प्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीज भूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।"[3]

अर्थात्–उपमा अनेक प्रकार की विचित्रता के साथ अनेक अलंकारों की बीज है, यह पहले ही निर्दिष्ट की जा चुकी है।

इसी प्रकार महिम भट्ट का भी कथन है कि 'सभी अलंकारों में उपमा जीवन का संचार करती है।'

(ख) **वेदों में उपमा शब्दः**–'उपमा' यह पद वेदों में बहुत से अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि–"उपमम्, उपमे, उपमीहि, उपमात् आदि शब्द अन्तिकार्थ (निकटार्थ) में पढ़े जाते हैं।"[4]

"पदं यद्विष्णोरुपमम्"[5]

यहां 'उपम' गुह्य और अगम्य है।

"युवाभ्यां मित्रावरुणोपमं धेयामृचा"[6]

यहां 'उप समीपे मीयमानं धनम्' यह व्युत्पत्तिपरक अर्थ है।

"उपमं वरूथम्"[7]

'यह श्रेष्ठ घर है', यहां श्रेष्ठार्थ में उपमा पद है।

"यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कम्"[8]

यहां 'उपम' पद 'स्तुत्य' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

"उपमं श्रवस्तमम्"[9]

जहां एक दूसरे से भिन्न दो पदार्थों की तुलना की जाती है, वह 'उपमा' है, यह सभी अन्नों (भौतिक संसार) की उपमान (तुलना का मापदण्ड) है और यह सादृश्य ज्ञानात्मक है।

"का अस्य पूर्वीरुपमातयो ह"[10]

यहां 'उपमातयः' दान वाचक है।

"का वां भूदुपमातिः"[11]

यहां **'उपसमीपे मातिर्मानं गुणानां परिच्छित्तिर्यस्यां'** इस व्युत्पत्ति से 'स्तुति' अर्थ है।

"स्तभा यदुपमिन्न रोधः"[12]

यहां **'उप समीपे मीयते क्षिप्यते इत्युपमित्'** इस व्युत्पत्ति से 'स्थूणा' है।

इसी प्रकार–

"दृहेथे सानुमुपमादिव द्योः"[13]

यहां भी **'उपमीयते प्रक्षिप्यते इत्युपमात्'** स्थूणा ही है।

"अस्माकं भूदुपमातिवनिः"[14]

यहां **'उपमातिवनिः'** शत्रुओं का हन्ता यह 'उपमाति' पद शत्रु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

"रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती स्वयशस्तरम्"[15]

यहां **'उपास्मत्समीपे माति धनम्** इति उपमातिः, सम्बोधने हे उपमाते हे तादृशाग्ने !' इस प्रकार अन्तिकस्थ धन के अर्थ में 'उपमाति' पद प्रयुक्त हुआ है।

"स्थूणेव जना उपमिद्ययन्थ"[16]

यहां 'उपमित्' का अर्थ है उपस्थापयिता।

"इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैः"[17]

यहां 'उपमेभिः' उत्तम उपमान स्थानीयो से। सायण कहता है–**'उपमीयन्त एभिरित्युपमाः"** अर्थात् इनसे समानता की जाती है इसलिए ये उपमाएं अथवा उपमान हैं।

इस प्रकार उपोपसृष्ट माङ् धातु से निष्पन्न शब्द ऋग्वेद में गृह, धन, स्तम्भ, अग्नि, यज्ञ, स्तुति, दान और श्रेष्ठ आदि अर्थो में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु ऋग्वेद में ही 'उपमा' पद उपमान–उपमेय के भाव से साम्य–प्रदर्शन के निमित्त भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि–

"अस्मा इदु त्यमुपमम्"[18]

इसी इन्द्र के लिए ही प्रसिद्ध उपमान है। सायण इस 'उपम' पद की व्याख्या इस प्रकार करता है–**'उपमीयतेऽनेनेति उपमः, तम्।** अर्थात्–इससे समानता की जाती है, इसलिए यह उपम (उपमान) है।

"उपस्तुता उपमं नाधमानाः"[19]

'उपम' सभी का उपमानभूत प्रशंसनीय और उत्तम लक्षण है। **अन्नं नाधमाना याचमाना** (ऋभवः) देवता अन्न की याचना नहीं करते हैं। अर्थात् 'उपम' से तृप्त हो जाते हैं।

"तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्या"[20]

उपम उपमानभूत होते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि उपम या उपमा पद अथवा उसके समान अन्य पद अनेक प्रकार के प्रसंगों में अनेक प्रकार के अर्थो को प्रकट करते हैं। तो भी निर्वचन की दृष्टि से तो उनका मूल अर्थ **'समीप में स्थापन करना'** है। परिणाम स्वरूप समीप में स्थापित करके देखना ही है।

(ग) वेदों में सादृश्यवाचक शब्द-वेदो में उपमाओं का अपार समुद्र उल्लसित

हो रहा है। उपमाएं प्रत्येक ऋषि से, देवता से और छन्द से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के विषय में ५१८ उपमाएं, अग्नि के विषय में ५७२ उपमाए, सोम के विषय में ३००, मरुद्गणो के विषय में २०८, अश्विनीकुमारों के विषय में २०८, उषा के विषय में ६२, मित्र और वरुण के विषय में २८, अदिति और आदित्य के विषय में १४, सविता के विषय में ५, सूर्य के विषय में १६, पूषन् के विषय में १२, रात्रि के विषय में ११ और धाता, भग, अद्रि एवं विष्णु के विषय मे चार–चार उपमाएं ऋग्वेद में प्रयुक्त हुई है।[२१] यजुर्वेद मे ३२६, सामवेद में ४१७ और अथर्ववेद में ५७३ उपमाओं का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में ३६७ मन्त्रों में **इव**, ११० मन्त्रों में **यथा**, ६० मन्त्रों में **न** का प्रयोग हुआ है।

वैदिक ऋषियों की अनुभूति के विस्तार को हम ऊपर के वर्गीकरण के बहाने से देखेंगे। यहां वैदिक उपमानों का काव्यशास्त्र की दृष्टि से विवेचन अभीप्सित है। वेदो में **इव-न-चित्-नु-था-आ-वा-मेप-रूप-वर्ण-वत्-सदृश-सम**[२२]**-अथ** और **समान** ये उपवाचक शब्द हैं।

'नु' के प्रयोग में उपमा अलंकार-

''वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः।''[२३]

अर्थात् हे इन्द्र ! तेरी शाखाएं वृक्ष के सामान है। यहां 'नु' 'उपमा'–वाची है।

''राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि।''[२४]

अर्थात्–तुझ वरुण के व्रत राजा के समान हैं।

'चित्'* के प्रयोग में उपमा अलंकार-

''चतुरश्चिद् ददमानात् बिभीयादा निधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत्।।[२५]

अर्थात्–''चार आंखें रखो, धूर्त से डरो, इसी प्रकार दुर्वचन से डरो, दुर्वचन के लिए इच्छा मत करो।''[२६]

सायण ने भी कहा है–**'चिदित्युपमार्थे वर्तते'** अर्थात् 'चित्' का प्रयोग उपमा के अर्थ में होता है। 'दद' का प्रयोग 'दान' में होता है किन्तु यहा 'धारण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। और इसी प्रकार ऋग्वेद ६/२४/७; ३/६/७; ५/२/७ और ८/६६/४ आदि में भी 'चित्' का प्रयोग उपमा के अर्थ में हुआ है।

'इव' के प्रयोग में 'उपमा' अलंकार-

''तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।''[२७]

अर्थात्–दस अंगुलियों से रगड़ द्वारा आग पैदा करने वाले हाथों की तुलना वनगामी तस्करों के साथ की गई है।

इसी प्रकार ऋग्वेद १/८४/२; ६/३२/५; ६/२२/२ आदि में भी 'इव' के प्रयोग में उपमा अलंकार है। यजुर्वेद में ३/५; ३/२४, ४६, ६०; ६/५; ४/६, ८,

१२. २१. ३३ सामवेद में मं० स० ५. ६६. ७३. ६४. १३५. १३७ आदि और अथर्ववेद में भी ७/५२/६. ४/३१/२. २/७१/११. ५/३०/६. ५/८/४ आदि स्थलों पर **इव** निपात वाचक उपमाओं के प्रयोगों को देखा जा सकता है।

'वा' के प्रयोग में उपमा-

"मक्षू देववतो रथः शूरो वा पृत्सु कासुचित्।।"[२८]

अर्थात्–देवाराधक का रथ शीघ्र दुर्गम मार्ग में भी प्रवेश करता है। जैसे बहादुर योद्धा किन्हीं सेनाओं में प्रविष्ट होता है। सेना के उस प्रभाग को पृत् या पृतना कहते हैं, जिसमें २४३ हाथी, २४३ रथ, ७२६ घोड़े और १२१५ पैदल होते हैं। अर्थात् उसकी गति सर्वत्र अबाध होती है। यहां सायण कहता है कि यहाँ 'वा' यह शब्द उपमावाची है।" तथा–

"धायोभिर्वा यो युज्येभिरर्कैर्विद्युन्न दविद्योत्स्वेभिः शुष्मैः।"[२९]

अर्थात्–जो अग्निधारक घोडों के समान अपने आप ही अर्चनीय दीप्तियों से जाता है, वह अग्नि बिजली के समान अपने शोषक तेज से शोभित हो रहा है।

"सदृश" शब्द भी उपमावाचक है, यथा–

"सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वः।"[३०]

अर्थात्–आज कल के समान है और कल आज के समान है। यहां परस्पर सादृश्य ही है। अतः सदृश शब्द भी उपमा वाचक है।

'समान' शब्द भी उपमावाचक है।[३१]

(घ) वेदों में वाचक पद-चयन का नियम-वाचकता में 'न' और 'इव' निपातों के प्रचुर प्रयोग हैं। वत्, यथा, चित् निपातों का भी अधिकतर उपयोग हुआ है। किन्तु निपातों के अतिरिक्त अन्यों का प्रयोग तो कम ही हुआ है। कहां, किस निपात का प्रयोग होता है, यद्यपि इस विषय में कोई स्थिर नियम नहीं है, तो भी प्रायशः यह उच्चारण की सुविधा से अथवा स्वभाव–वश होता है। फिर भी वेलणकर महोदय ने ऋग्वेद के चतुर्थ औरं पंचम मण्डलों के अंतर्गत उपमा–निदर्शन की सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षणपूर्वक यह ठीक ही कहा है, कि–

१–(क) द्वितीया के अन्त में रहने पर उपमान से पूर्व अकार, रूप हस्व स्वर के विद्यमान रहने पर (ख) विसर्जनीय है अन्त में जिसके, ऐसे उपमान से पूर्व अथवा हस्व स्वर रहने पर, ऋषिजन प्रायशः 'न' निपात का प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार २–(क) जहाँ विसर्जनीयान्त उपमान पद से पूर्व दीर्घ स्वर हों, अथवा (ख) जब उपमान पद अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त अथवा ईकारान्त हो, तब प्रायशः 'इव' निपात का प्रयोग होता है।"[३२]

परन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इस नियम के बहुत से अपवाद दिखलाई पड़ते हैं, अतः यह नियम स्थिर नहीं किया जा सकता है।

(ङ) 'न' निपात की सादृश्य के अतिरिक्त अर्थवत्ता यह 'न' निपात सर्वत्र सादृश्य को ही प्रकट नहीं करता है। इसीलिए सायण, गैल्डनर आदि वेद–भाष्यकारों ने 'न' निपात के अनेक अर्थ किए हैं। जैसे कि गैल्डनर महोदय, ऋग्वेद के मन्त्र संख्या १/१३१/२; १३२/५; १३६/१; १७४/६; ८/१०३/२; १०/१२२/१ के व्याख्यान के अवसर पर 'न' का अर्थ–'औचित्य के अनुसार' अथवा समीचीनता (शुद्धता) करता है। ऋग्वेद ५/४१/३ में 'इव' निपात का 'यथा...तथा' अथवा 'इत्थम्' (जर्मन Also, Ebenso) अर्थ करता है। उसी प्रकार सायणाचार्य बहुत सी जगह 'न कार' को 'च' अर्थ में मानता है। जैसे–ऋग्वेद ७/७/३; ६/५३/३; १/१७४/८ और ७/३६/३ मन्त्रों में 'न' उपर्युक्त 'च' अर्थ का ही द्योतन करता है। ऋग्वेद १/१२७/१०वें मन्त्र में सायण के मत से 'न' निपात अपि (भी) अर्थ में है और ऋग्वेद १/१३१ के पहले मन्त्र में 'एव' के अर्थ में 'न' निपात है। ऋग्वेद के ३/१० के ५वें मन्त्र में यह 'न' निपात 'पाद–पूरण' में प्रयुक्त हुआ है। ऐसा सायण का मत है। ऋग्वेद ७/३७/६; ७/१३/१ और १०/८६/७ वें मन्त्रों में 'सम्प्रति' अर्थ में है।

मघवन् मा तथा इव (ऋ० १/८२/१) इस मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर स्कन्द स्वामी 'इव' के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये कहते हैं:–

''इव शब्दस्तु अस्त्युपमार्थस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः इति पादपूरणः।''[३३] अर्थात् 'इव' शब्द तो उपमार्थ के सम्प्रति–अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ यह पाद पूरण (पंक्ति पूरा करने में प्रयुक्त) है।

'नु' निपात के समान ही 'न' और 'इव' निपात भी ऋग्वेद में बहुत से स्थलों में 'पाद पूरण' अथवा 'समुच्चय' अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे कि ऋग्वेद के ६/२/४; ६/११/६; ८/८४/२ इत्यादि में 'न' और 'इव' निपातों का अर्थ च, तथैव च (और, और उसी प्रकार) है। तथा ऋग्वेद ६/१४/५; ६/१०७/२६ और ८/१/१७ इत्यादि में 'न' और 'इव' दोनों निपात उपमार्थीय वत् प्रत्यय के अर्थवाले हैं और 'तद्रूप' से 'इत्यर्थक' होते हैं।[३४]

ऋग्वेद में बहुत सी जगह साधारण सादृश्यमात्र की अभिव्यंजना हुई है, क्योंकि वहां उपमेय और उपमान दोनों निष्पन्न होते हैं। ऐसे स्थलों में 'न' इत्यादि वाचक पदों का ग्रहण समुच्चय अर्थ में करना चाहिए। ऐसी उपमाएं प्रायः देवताओं के उपमान वर्ग में दिखलाई पड़ती हैं, जैसे–

''प्र वः सतां ज्येष्ठतमाय सुष्टुतिमग्नाविव समिधाने हविर्भरे।''[३५]

यहाँ भार्गव शौनक इन्द्र की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ इन्द्र के लिए मैं उसी प्रकार स्तोत्र समर्पित करता हूँ, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि के लिए हवि (आहुति या हवनीय द्रव्य) अर्पित किया जाता है। यहाँ इन्द्र और अग्नि दोनों ही देवता प्रकृत हैं।

इसके विपरीत त्रित आप्त्य कहता है कि–'इन्द्र के समान दानशील और देदीप्यमान अग्नि की अपने स्तोत्रो तथा प्रणतियों से उपासना करता हूँ यथा

''तमुस्रामिन्द्रं न रेजमानमग्निं गीर्भिर्नमोभिरा कृणुध्वम्।।[36]

वास्तव में यहाँ स्तोत्रों से और प्रणतियों से उपासना करना इन्द्र को भी अभीष्ट है। इसी प्रकार अन्य स्थल भी हैं। उपमेय और उपमान दोनो के ही निष्पन्न होने से साधारण धर्म के अलग–अलग करने का सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव ये उपमाएँ अलङ्कार पद के योग्य नहीं हैं।

ऋग्वेद में जहाँ सैकडों स्थलों पर **न** उपमावाची निपात का प्रयोग हुआ है वहीं ऋग्वेदेतर संहिताओं में भी यह बहुशः प्रयुक्त है। यजुर्वेद संहिता में यह ५/२०, ६/२६, ७/१६, १७, ११/४२ आदि मंत्रों में, सामवेद संहिता मे मं० सं० ५, १७, ३५, ६८, ८३, ८८, ४६७ आदि में और अथर्ववेद संहिता के २०/१७/१, ३/३५/३ आदि मन्त्रों में इसका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार चारों वेदों में वत्, यथा, था द्वारा प्रदर्शित उपमाओं के उदाहरण भी अवलोकनीय हैं।[37] अधिक जानकारी के लिये इस कोष के उत्तर भाग में देखा जा सकता है।

(वेदों में उपमा-भेद)

(च) वेदों में श्रौती पूर्णोपमा का आधिक्य-वेदो में पूर्णोपमाएँ ही अधिकतर विद्यमान हैं। अर्थात् वहाँ प्रायशः उपमा के चारों ही तत्त्व उपमेय, उपमान, वाचक पद और साधारण धर्म दिखलाई पडते हैं। वेदों में औपम्यवाचकता के साथ 'न' 'इव' और 'यथा' आदि निपात ही प्रयुक्त होते हैं। 'तुल्य' और 'सदृश' आदि विशेषण शब्द तो स्वतन्त्रता से अथवा समास में कभी–कभी ही प्रयुक्त हुए हैं। तो इस प्रकार वेदों में 'श्रौती' उपमा के उदाहरण ही दृष्टिगोचर होते हैं, 'आर्थी' उपमा के नहीं। केवल जब कहीं 'तुल्य' अर्थ में 'वत्' का प्रयोग होता है तब वहाँ 'आर्थीतद्धितगा' उपमा होती है।

'पूर्णा श्रौती' इस प्रकार है–

''दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः।''[38] अर्थात् सूर्य की किरणें अन्तरिक्ष में चर्म के समान स्थित अन्धकार को नष्ट कर रही हैं।

यहाँ 'तम' उपमेय है, 'चर्म' उपमान है, 'इव' वाचक पद है। 'अवाधु'; साधारण धर्म है। इस प्रकार यहाँ उपमान, उपमेय, वाचक और साधारण धर्म, इन उपमा का प्रतिपादन करने वाले उपादानों के होने से 'पूर्णोपमा' है और मम्मट के निम्न निर्देशानुसार भी उक्त उदाहरण में श्रौती उपमा उपपन्न है–

यथेववादि शब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानता प्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्द शक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती, उपमा।[39]

अर्थात् यहाँ 'इव' 'वा' आदि शब्द जिससे परे हैं उसी की समानता की प्रतीति

है। यद्यपि ये उपमान के विशेषण हैं, तो भी शब्द शक्ति की महिमा श्रुति से ही षष्ठी के समान सम्बन्ध का प्रतिपादन करते है। इस प्रकार उसका भाव रहने पर 'श्रौती' उपमा है।

इसी प्रकार ऋग्वेद १/१८३/१; ऋ०४/६/२, ऋ०६/४६/२; ऋ०१/४८/५, ऋ०१/१८५/१, ऋ०२/२/४, ऋ०३/३२/१५, ऋ०३/३६/८; ऋ०३/३८/१; ऋ० ३/६१/३, ऋ०६/७५/३; ऋ०६/७५/१७, ऋ०७/५/७; ऋ०७/१०/१; ऋ०७/१८/४; ऋ०७/३४/७; ऋ०७/४१/६, ऋ०७/५६/१६; ऋ०७/५६/७; ऋ०७/७७/१; ऋ०७/८७/६; ऋ०७/६३/३; ऋ०७/६७/६; ऋ०७/१०३/२ इत्यादि हजारों उदाहरण 'श्रौती' उपमा के ऋग्वेद मे दिखाये जा सकते हैं।

(छ) वेदों में एकदेशविवर्तिनी साङ्ग उपमाएँ-किन्तु वेदो में एक स्थान पर विद्यमान रहने वाली एकदेशविवर्तिनी साङ्ग उपमाएं ही अधिकता से पाई जाती है। अर्थात् वहां एक प्रधान उपमेय है और एक या एक से अधिक गौण हैं। उसी प्रकार एक प्रधान उपमान है, एक या एक से अधिक गौण है। और उपमेय और उपमानों का असाधारण (न्यून पदता को पूरा करने वाला) सम्बन्ध होता है, जो 'अध्याहार्य' या 'अध्याहरणीय' कहलाता है। जैसे कि-

''अयो न देवा जनिमा धमन्तः''[४०]

अर्थात् देवता (लुहार के समान) लोगों को लोहे के समान प्रेरित कहते हैं। यहाँ देवता प्रधान उपमेय है और 'जनिमा' (लोगों को) यह गौण है। जनिमा से युक्त अयः (लोहा) है, यह एक उपमान कहा गया है। और प्रधान उपमेय 'देव' से युक्त उपमान 'अध्याहरणीय' है। और वह **'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्'** ऋ० १०/७२/२ इसके अनुसार 'कर्मार' (लुहार) यह पद अथवा-**''त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति''** (ऋ० ५/६/५) इसके अनुसार 'ध्माता' (धौंकने वाला लुहार) उपमान होता है। समस्त वस्तुविषयिणी साङ्गा उपमा में इस ''न'' निपात का अधिकता से प्रधान उपसर्जनीभूत (उपसर्जन = वह शब्द जिसका अपना मूल स्वतन्त्र स्वरूप व्युत्पत्ति के कारण या रचना में प्रयुक्त होने के कारण नष्ट हो गया हो और जबकि वह दूसरे शब्द के अर्थ का भी निर्धारण करे) उपमान बीच में समाविष्ट करने से **ध्माता** या **कर्मार** यह लुप्तोपमान है, यह उपयुक्तता के द्वारा 'न' इस निपात के अनन्तर स्थापित किया जा सकता है। 'जनिमा देवा' इसका व्यतिक्रम तो यहाँ छन्द के अनुरोध से है। 'धमन्तः' यह साधारण धर्म है, जिसका भाव है-समर्थ करते हैं, प्रेरित करते हैं, प्रोत्साहित करते हैं और आशान्वित करते हैं।

''तष्टेव वृक्षं वनिनो नि वृश्चसि।''[४१]

अर्थात हे इन्द्र ! तुम बढई हो, वन सम्बन्धी वृक्ष के समान (राक्षसों को) काटते हो। यहाँ गौण उपमेय ''राक्षसों को'' इस न्यून पदता को पूरा किया जाता है, जो

कि गौण उपमान होने के कारण स्थित वृक्ष से मिल कर बातें करता है। इसी प्रकार ऋक० २/२/५; २/४/६ तथा १०/६८/६ मन्त्र भी इसके उदाहरण हैं।

इन उपमाओं में शब्द को निकट लाने का प्रयोग स्वेच्छिक ढंग से नहीं किया जाना चाहिये बल्कि वेदों में आये हुए समान भावों वाले स्थलों का तुलनात्मक दृष्टि से अन्वेषण किया जाना चाहिए।

(ज) वेदों में समस्त वस्तुविषयिणी उपमाएँ-वेदों में समस्त वस्तुविषय (आलोच्यविषय) में युक्त साङ्गा उपमा के चिन्ह भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। ऐसी उपमा में एक–एक प्रधान उपमेय और उपमान होते हैं। एक या उससे अधिक गौण उपमेय और उपमान होते हैं। साधारण धर्म तो एक ही होता है। जैसे कि–

''कद्ध वाममच्छा गमेम रघवो न वाजम्''[४२]

अर्थात् संग्राम में स्वामित्व प्राप्त करने के योग्य पदार्थ शीघ्रगामी घोडे आदि हम प्राप्त करें।

यहाँ 'वयम्' प्रधान उपमेय है, 'वामम्' गौण है, 'रघवः' प्रधान उपमान है, 'वाजम्' गौण है, 'अच्छा गमेम' साधारण धर्म है। इसी प्रकार–

''परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत्''[४३]

अर्थात् यह अग्नि गाड़ी के पहिये के घेरे के समान सब प्रज्ञाओं में फैल जाता है। इसी प्रकार–

''वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र संपारणं वसु।''[४४]

अर्थात्–हे इन्द्र अंकुश रखने वाले के समान हमारी इच्छा को ठीक प्रकार से पूरा करने वाला धन दो, जैसे वृक्ष पके हुए फल देता है।

इसी प्रकार ऋ० ३/५२/३; ऋ०७/२६/३; ७/३२/२; ऋ०७/३२/२०; ऋ०८/६/३५; ऋ०१०/६/६ एवं ऋ०१०/६८/११ इत्यादि ऋचाएँ भी द्रष्टव्य हैं।

वेलणकर महोदय ने चतुर्थ और पञ्चम मण्डलों के उपमानों के अध्ययन से यह प्रदर्शित किया है कि प्रायशः ऐसी उपमाओं में 'न' निपात का बाहुल्य है। किन्तु छन्द के अनुरोध से अथवा उपमान पद के अन्तिम वर्ण स्वरूप से 'इव' निपात दिखाई पड़ता है। निपात प्रधान और गौण उपमानों के बीच में प्रयुक्त होता है। किन्तु छन्द के आग्रह से इसका अपवाद भी देखा जाता है। उसी प्रकार उपमान के दोनों पदों में रहने पर निपात इन दोनों के मध्य स्थापित किया जाता है। जैसे–

''अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः।''[४५]

यहां 'त्वम्' यह प्रधान उपमेय है और 'न' गौण है। 'वृत्तं चक्रम्' और 'अर्वतः' ये दोनों प्रधान और गौण उपमान है। प्रधान उपमेय के पदद्वय के समान होने से वाचक पद इन दोनों के मध्य में लब्ध पद है; नियमानुसार प्रधान और गौण उपमानों के मध्य में नहीं।

(झ) वेदों में केवल उपमान से युक्त विशेषण पदों का प्रयोगः-वेदों में उपमा का एक अन्य भेद भी दृष्टिगोचर होता है। वहां बहुत सी उपमाओं में मात्र उपमान से युक्त विशेषण पद सर्वथा असम्बद्ध दिखलाई पडता है। जैसे कि–

''ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्राः।''[४६]

यहां 'हर्म्येष्ठाः' यह विशेषण 'शिशवः' इस उपमान से युक्त है, न कि 'ते' (मरुतः) इस उपमेय से भी। इसी प्रकार–

''यस्तिग्मशृंगो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।''[४७]

''दण्डा इवेद् गो अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।''[४८]

गायों को प्रेरित करने वाले दण्डों के समान जिस प्रकार दण्डो के पत्ते और टहनियां काट दी जाती हैं और वे दण्डे पत्रादि से विहीन होते हैं, उसी प्रकार भरत भी शत्रुओं से रहित ही थे। यहां 'गो अजनास' यह विशेषण, ''दण्डा'' इस उपमान से युक्त है। हमारी राय से उपमान से युक्त ये विशेषण पद, कवि की अभिव्यक्ति के बल और अनुभूति की सूक्ष्मता का यथावत् परिचय कराते हैं।

''अयं राजा गौरवेण दिनमणिरिव राजते'' (यह राजा गौरव से सूर्य के समान शोभित होता है), यह उपमा भी अपने आप में परिपूर्ण है। तो भी ''अयं राजा गौरवेण माध्यन्दिन मणिरिव राजते'' यहां सिर्फ उपमान से सम्बद्ध होते हुए भी ''माध यन्दिन'' यह विशेषण उपमेय 'राजा' की भी विशेषता को प्रकट करता है। निश्चय ही इन विशेषण पदों से उपमा का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

''यः शुक्र इव सूर्यः''[४९]

यहाँ 'शुक्र' यह सूर्य का विशेषण है। जो रुद्र की आभा की अधिकता को भी प्रकट करता है। मालोपमाएँ चित्र की परिपूर्णता का आकलन करती हैं और तब विशेषणयुक्त उपमान वाली उपमाएँ उसी चित्रखण्ड में कुछ विलक्षण ही प्रभाव उत्पन्न करती हैं और रागसामञ्जस्य (भावना संवेग की संगति) की प्राप्ति कराती हैं।

(ञ) वेदों में द्विगुणित उपमाएँः-

वेदों में कहीं–कहीं मन्त्रों में ''द्विगुणितोपमा'' दिखाई पड़ती है, जैसे–

''अग्निमश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः।''[५०]

यहाँ उपमाद्वय है–

(१) ''अश्व के समान हवि को ढोने वाली अग्नि, और

(२) मैं आग को उस प्रकार प्रेरित करता हूँ, जिस प्रकार ढ़ोने वाले घोड़े को घुड़सवार प्रेरित करता है।'' इसलिए ऐसी उपमाओं को **''द्विगुणितोपमा''** कह सकते हैं।

''वैश्वानराय धिषणाम् ऋतावृधे घृतं न पूतमग्नये जनामसि।''[५१]

जैसे मैं अग्नि के लिए पवित्र घी समर्पित करता हूँ वैसे ही स्तुति भी समर्पित करता हूँ अर्थात् घी की आहुति के साथ ही स्तुति भी समर्पित करता हूँ।

यहाँ, **''अग्नये घृतं न पूतं धिषणां जनामसि''** इस प्रथम वाक्य में उपमा व्यंजित है, 'पूतम्' यह सामान्य धर्मवाची शब्द है, किन्तु **''अग्नये पूतं घृतं धिषणां जनामसि''** यह द्वितीय वाक्य सिर्फ वस्तुस्थिति को ही प्रकट करता है। जैसे मैं अग्नि के लिए पवित्र घृत समर्पित करता हूँ वैसे ही स्तुति भी, अर्थात् घृताहुति के साथ स्तुति भी समर्पित करता हूँ। इसलिए ऐसी उपमाओं को ''वस्तुस्थिति उपमा'' कह सकते हैं।

यद्यपि बहुत से विद्वानों ने इस मत की पुष्टि नही की है, तो भी यह मत ग्रहण करने के योग्य ही प्रतीत होता है।

(त) वेदों में वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा उपमाएँ :

'वाक्यगा उपमा' जैसे :– **''शुनश्चिच्छेपं निदितं.........।''** ऋ० ५/२/७

और–**''यथापूर्वेभ्यः शतसा अमृध्रः.........।''** ऋ० ६/८२/५, **''निर्बलासेतः प्रयतांशुगः शिशुको यथा''** अथर्व० ६/१४/३ इत्यादि 'वाक्यगा' उपमा के सैकडों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

प्रायशः ऐसी वाक्योपमाएँ पुराणेतिहास से सम्बद्ध उपमान वर्ग में दिखाई पड़ती हैं।

'समासगा उपमा-

ऋग्वेद में समुद्रव्यचसम् (ऋ० १/११/१), सूरचक्षसः (१/६१/१), वृषखादयः (ऋ०१/६४/१०), हिरण्यकेशः (ऋ०१/७६/१), त्रिविष्टिधातुप्रतिमानमोजसः (ऋ०१/१०२/८), हिरण्यनेमयः (ऋ०१/१०५/१), श्येन पत्वा (ऋ०१/११८/१) (श्येन इव शीघ्रं पतन् रथः–सा० भा०), वातरंहाः (रथः) (ऋ० १/११८/१), मनोजुवं (रथम्) (ऋ० १/११६/१), रथेन मनोजवसा (ऋ०१/११७/१५), वज्रबाहुः (ऋ०२/१२/१३), विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः (ऋ०५/५४/३), अग्निभ्राजसः (ऋ०५/५४/११) इत्यादि इस प्रकार की ''समासगा'' उपमाएँ सामान्य रूप से प्रयुक्त हुई हैं। निश्चय ही ये थोड़े से ही शब्दों से बड़े अर्थ को प्रकट करती हैं।

इव पद के उपमान और उसके विशेषण के साथ अथवा समास होने पर 'समासगा' उपमा ही समझनी चाहिए। जैसे–

''सदा रण्वः पितुमतीव संसत्।''[५२] इत्यादि।

तद्धितगा उपमा के उदाहरण ऋग्वेद में थोड़े ही हैं। ऋग्वेद के ४/३४/३ मन्त्र में ''मनुष्वत्'' तद्धितगा श्रौती उपमा है; ऋग्वेद ४/३७/३ में तद्धितगा आर्थी उपमा है। उसी प्रकार ऋ० ४/२२/४ में 'नृवत्' तद्धितगा आर्थी का ही उदाहरण है और ऋ० ४/५५/४ में तद्धितगा श्रौती है। इसी प्रकार ''प्रियमेधवदत्रिवत्'' (ऋ०१/४५/३) मनुवद्वदेम (ऋ०२/१०/६) इत्यादि मन्त्रों में भी समझना चाहिए।

(थ) वेदों में लुप्तोपमाएँ:-

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्यों में बहुत सी जगह लुप्तोपमा अलंकार का निर्देश किया है। किन्तु उनका उपयोगी विशद् विवरण नहीं दिया है।

वास्तव में सायण, वेङ्कट, स्कन्द स्वामी, स्वामी दयानन्द आदि वेद भाष्यकारों ने अपने अभिमत को सिद्ध करने के लिए अनेक जगह 'यह लुप्तोपमा है' ऐसा माना है। यह ठीक है या गलत है, इसका निर्णय तो स्वतन्त्र रूप से शोध का विषय है। वास्तव में तो जहाँ उपमान, वाचकपद और साधारण धर्म में से किसी एक का या अधिकों का लोप स्पष्ट रूप से बोधगम्य हो वहीं लुप्तोपमा अलंकार स्वीकार किया जाना चाहिए। जैसे कि–

''अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।''[५३]

''हे याज्ञिको! जिस इन्द्र ने मायावी असुर शम्बर की पुरातन पुरी को पत्थर से (पत्थर के समान कठोर वज्र से) तोड़ दिया था।'' यहाँ उपमा है, इसमें लुप्त 'वज्र' को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इसी प्रकार अथर्ववेद में भी ४/१/५, १३; ११/४/२०; ४/१५/१; ४/८/७; १/२/२, २/१३/४; ७/१२२/१; ७/१०१/१; १६/४६/५ आदि स्थलों पर **लुप्तोपमा** द्रष्टव्य है।

'धर्म' लोप में उपमा-

''अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु।''[५४]

यहाँ 'क्षेष्यन्तो न मित्रम् (ऋ०२/४३) इत्यादि के प्रमाण से 'क्षेमकर' (कल्याणकारी) यह 'साधाकरण धर्म' लुप्त है। 'सुधित' को 'अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिः' (ऋ०५/३/२) इत्यादि प्रमाण देने से उपमान का विशेषण स्वीकार करना चाहिए।

''श्रवस्यवः शशमानास उक्थैरोको न।''[५५]

अर्थात्–अन्न के इच्छुक स्तुतिकर्ता स्तोत्रों द्वारा प्रशंसा करते हुये जब इन्द्र के पास गये, तब यह इन्द्र स्तुतिकर्त्ताओं के आवास (घर) के समान हुआ।

''कवीयमानः क इह प्र वोचत्।''[५६]

तथा– **''वृषायमाण उपगीर्भिरीट्टे।''**[५७]

इत्यादि में कवि के समान आचरण करते हुए वृष के समान आचरण करता है और–

''अरातीयतो नि दहाति वेदः।''[५८]

इत्यादि में ''शत्रु के समान हम से आचरण करता है'', इस उपमान भूत कर्म से ''उपमानादाचारे'' (पा० ३/१/१०) इस सूत्र के द्वारा क्यजन्त नाम धातु से उपमा

का विशुद्ध ज्ञान होता है।

'वाचक लुप्ता' उपमा के उदाहरण तो प्रायशः **''मनोजुवः''** इत्यादि में 'समासगा उपमा' के उदाहरणों के अन्तर्गत द्रष्टव्य हैं।

(द) वेदों में वाचकद्वय का प्रयोगः-

साधारणतया वैदिक उपमा में एक ही वाचक पद होता है। वहाँ भी कभी प्रकृतत्व के कारण प्राप्त उपमान और उपमेय में 'वाचक' पद की समुच्चयार्थकता (शब्दों या वाक्यो के संयोग का प्रयोजनत्व) होती है। परन्तु कुछ उपमाओं में वाचकद्वय प्रयुक्त होते हैं। जैसे—ऋग्वेद ८/४६/६; ऋ० १/१३०/४; ऋ०८/७३/११, ऋ०७/१४०/२१ और ऋ० ६/८/५ मन्त्रों में वाचकद्वय का प्रयोग हुआ है।

(ध) वेदों में उपमेय-उपमान के लिङ्ग, कारक और वचन में विरोधः-

वेदों के ऋषि उपमेय और उपमान के लिङ्ग, कारक और वचनों के अन्वय (वाक्य में शब्दों का स्वाभाविक क्रम या सम्बन्ध) के विषय में देखभाल करने वाले नहीं रहे। वैदिक उपमाओं में जहाँ—तहाँ उपमेय और उपमान के लिङ्ग, कारक और वचनों में विरोध (व्यत्यय) दिखलाई पड़ता है। जैसे कि—

ऋक्० १/३/८; ऋ०१/१३२/५; ऋ०४/३/८; ऋ०४/४/१; ऋ०४/४/४; ऋ०४/१५/२ इत्यादि मन्त्रों में उक्त विरोध है।

उपमेय और उपमान में 'लिङ्ग' आदि का भेद होने पर भी 'साधारण धर्म' तो अपरिवर्तित ही रहता है।

(न) वेदों में मालोपमा :-

'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' साहित्यदर्पण (१०२६) लक्षण के अनुसार जब एक उपमेय के अनेक उपमानों का वर्णन किया जाता है तब **मालोपमा** होती है। वेदों में मालोपमा के उदाहरण अधिकता से देखे जा सकते हैं। वहाँ सम्पूर्ण भागों सहित अनेक सूक्त उपमेय 'देव' की उपमान माला की रचना करते हैं। प्रथम मण्डल में ६५—६७ वें सूक्तों में कुछ मन्त्रों को छोड़कर अन्य मन्त्रों में अनेक प्रकार के उपमान समायोजित किए गये हैं। द्वितीय मण्डल में ३६वें सूक्त में अश्विनी कुमारों के विषय में आठवें मन्त्र के अतिरिक्त सभी २८ पादों में एक—एक उपमान रखा गया है। दशम मण्डल के ७८वें सूक्त में मरुतों के विषय में यही स्थिति है। इसी प्रकार उषा और सोमदेव के विषय में भी एक स्थान पर उपमान माला हम देखते हैं।

ऋषि कहीं अनेक प्रकार के गात्रों को उपमान बनाता है—

''... **अक्षी इव चक्षुषा यातमर्वाक्।**
हस्ताविव तन्वे शंभविष्ठा पादेव नो नयतं वस्यो अच्छ।।

ऋ० २/३६/५

तथा २/३६/६; २/३६/७ भी ऐसे मन्त्र हैं, जिनमें शरीर को उपमान बनाया गया है। कहीं विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों को उपमानों के रूप में प्रयुक्त किया गया है–द्रष्टव्य ऋ० ७/३३/८; कहीं पशु के अंगों को उपमान बनाया गया है। देखिए ऋ० २/३६/३ इत्यादि।

उषस् सूक्तों में मनोहर मालोपमा दिखाई पडती है। उदाहरणार्थ–

''अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बजहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः।।''[५९]

तथा

''अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।।''[६०]

पहले मन्त्र में भिन्न धर्म और दूसरे में समान धर्म समझना चाहिए। किन्तु यहाँ भी अन्तिम उपमा में भिन्न साधारण धर्म है। ऋग्वेद में प्रायशः तो विभिन्न उपमानों के लिए पृथग्धर्मा उपमाएँ ही स्थापित की जाती हैं। और जहाँ साधारण धर्म समान होता है, वहाँ प्रायः 'गच्छति' 'प्राप्नोति' अर्थ वाला शब्द दिखाई पड़ता है। जैसे कि–

''गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः।।''[६१]

यहां 'नो न्यभ्येतु' (निश्चय ही आवे) यह साधारण धर्मत्व से आकृष्ट है।

अथर्ववेद के १/११/६, ६/४१/३, १०/३०/१७–२५, ६/११५/३ आदि मन्त्रों में भी मालोपमा का सुन्दर निदर्शन हुआ है।

निष्कर्ष-

भावों में प्रवृत्त वेदर्षियों ने अपने हृदय गत भावों को विस्तार के साथ व्यक्त करने के लिए अलंकारों में सर्वश्रेष्ठ अलंकार उपमा का आश्रय लिया। तभी इस प्रकार वेदों मे अनेक प्रकार की उपमाएँ दृग्गोचर होती हैं।

वैदिक उपमाएँ सर्वथा स्वाभाविक हैं, न तो वे कृत्रिम हैं और न टेढ़ी–मेढ़ी हैं। इन उपमाओं की प्रकृति तीन प्रकार की निर्णीत की जाती है–(१) निदर्शनात्मिका (२) अलङ्करणात्मिका और (३) भावात्मिका। इन्हें पूर्व प्रस्तुत उपमाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

वेदों में समस्तवस्तुविषया साङ्गा, एकदेशवर्तीसाङ्गा, निरङ्गा, वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा, लुप्ता और माला अनेक भेद उपमा के दिखाई पड़ते हैं। किन्तु वैदिक उपमानों को विविध वर्गों में विभाजन का यह अभिप्राय नहीं है कि वैदिक ऋषियों ने लौकिक कवियों के समान आसक्तिपूर्वक उपमा को विभिन्न भेदों और उपभेदों में बाँटा है। ये अनेक वाचोयुक्तिवैशिष्ट्य किंवा वचन–विच्छेद उनके दीर्घ

साँस लेने के समान ही हैं।

प्रायशः वैदिक उपमाएँ **'श्रौती'** हैं, **'आर्थी'** नहीं। अर्थात् वहाँ वाचकत्व से 'न' 'इव' और 'यथा' आदि निपात शब्द ही अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं। 'तुल्य' और 'सदृश' आदि विशेषण शब्द तो अल्प ही प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु जब 'तुल्य' के अर्थ में अनेक बार 'वत्' का प्रयोग होता है तब 'आर्थी' उपमा होती है।

वैदिक उपमा की संरचना के प्रराङ्ग में हम देखते है कि वहाँ उपमेय, उपमान, वाचकपद और साधारण धर्म ये चारो ही तत्त्व उसमे सन्निहित हैं। किन्तु जब कहीं साधारण धर्म का उच्चारण नही होता है तो तब 'धर्मलुप्ता' उपमा होती है। वेदों में अन्य लुप्ता उपमाएँ कम ही हैं।

वेदों में उपमेय और उपमान में लिङ्ग, कारक और वचन आदि का वैपरीत्य अधिकतर दृष्टिगोचर होता है। वहाँ बहुत से स्थलों पर उपमाओं में केवल उपमान ही युक्त है, विशेषण पद उपमेय से सर्वथा असम्बद्ध दिखाई पडता है। किन्तु केवल उपमान से युक्त भी इन विशेषण पदों से उपमा का सौन्दर्य निश्चय ही निर्मलता को प्राप्त होता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. चित्र मीमांसा, काव्यमाला—३८, १६४१ का संस्करण।

२. अलंकार शेखरः, पृ० ६२

३. अलंकार सर्वस्व, पृ० ४०

४. द्रष्टव्य—ऋ० ४/२१/४ ४२/२; ७/३०/३; ८/६२/८ ८०/५; १०/५/६ ८/१ इत्यादि। यजुर्वेद में **''उपमा अस्य विष्ठाः''** (१३/३) और सामवेद में **''रास्वा च न उपमाते''** (मं० सं० ४३), **उपमा** (मं० सं० ३२१), **उपमाम्**, **उपमिमीहि** (विश्वनाथ विद्यालंकार कृत भाष्य पृ० सं० ५७६), **उपमानि** (मं० सं० ८१४), **उपमानाम्** (मं० सं० १२३४) भी द्रष्टव्य है।

५. ऋग्वेद—५/३/३

६. ऋग्० ५/६४/४

७. ऋ० ७/३०/४

८. ऋ० ७/६२/३

६. ऋ० २/२३/१; १०/३३/६, ७

१०. ऋग्—४/१३/३

११. ऋ० ४/४३/४

१२. ऋ० ४/५/१

१३. ऋ० ६/६७/६

१४. ऋ० ५/४१/१६

१५. ऋ० ८/१६/११

१६. ऋ० १/५६/१

१७. ऋ० १/३३/२

१८. ऋग् १/६१/३

१६. ऋ० १/११०/५

२०. ऋ० ८/६६/२

२१. द्रष्टव्य—ऋग्वेदेऽलङ्कारा:, डॉ. प्रह्लाद कुमार, पृ. ८५

२२. अथर्ववेद ४/१८/१

२३. ऋग् ६/२४/३

२४. ऋग् १/६१/३, ६/८८/८

*— 'चित्' निपात ऋग्वेद में ७८६ स्थलों पर आया है। जिनमें से १५ स्थानों पर यह उपमावाचक के रूप में प्रयुक्त है। सामवेद में भी **'व्रध्नः चित्'** (मं० सं० ११०४) के रूप में इसका उदाहरण उपलब्ध है। अथर्ववेद **'सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या'** (२०/७३/५) में भी **चित्** का प्रयोग हुआ है।

२५. ऋग् १/४१/६

२६. द्रष्टव्य—निरुक्त, ३/१६

२७. ऋग् १०/४/६

२८. ऋग् ८/३१/१५

२६. ऋ० ६/३/८

३०. ऋ०१/१२३/८

३१. द्रष्टव्य—ऋग्, ३/५४/७

३२. द्रष्टव्य—हरिदामोदर वेलणकर, जर्नल ऑफ बोम्बे ब्रांच ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, ग्रन्थ १४ (१६३८)

३३. स्कन्दस्वामिभाष्य—निरुक्त ७/३

३४. द्रष्टव्य—कॉन्ट्रिब्यूशन्स टु दि इन्टरप्रिटेशन् ऑफ द ऋग्वेद (ए० वेङ्कट सुब्बैया), पृष्ठ १२५—१२६

३५. ऋग् २/१६/१

३६. ऋग् १०/६/५

३७. द्रष्टव्य, यजुर्वेद ७/१२, ११/६, १६, २८, ४७ सामवेद मं० सं० १८, ५७४, १४२८, १४३६, २६५, ३०५, ३६३, ३७५, ४०७, ४५३, ५४३, ६३३, ६३४, १०६१, ८८२ अथर्ववेद संहिता २/३२/३, ५/२३/१०, २०/११५/२, २०/१७/१, ७/५२/५, १३/२/१७, १८ और २०/२५/१—२ आदि।

३८. ऋग् ४/१३/४
३६. काव्यप्रकाश (वृत्ति) १०/१२७
४०. ऋग् ४/२/१७
४१. ऋग् १/१३०/४
४२. ऋग् ४/५/१३
४३. ऋग् २/५/३
४४. ऋग् ३/४५/४
४५. ऋग् ४/३१/४
४६. ऋग् ७/५६/६
४७. ऋग् ७/१६/१
४८. ऋग् ७/३३/६
४६. ऋग् १/४३/५
५०. ऋग् ७/७/१
५१. ऋग् ३/२/१
५२. ऋग् ४/१/८
५३. ऋग् २/१४/६
५४. ऋग् ४/६/७
५५. ऋग् ४/१६/१५
५६. ऋग् १/१६४/१८
५७. ऋग् ३/५२/५
५८. ऋग् १/६६/१
५६. ऋग् १/६२/४
६०. ऋग् १/१२४/७
६१. ऋक् १०/१४६/४

तृतीय अध्याय

वैदिक उपमान

(वेदों में देवता-उपमान वाली उपमाएँ)

वेदों में हम निर्मित होने वाले देवशास्त्र को देखते हैं। वेदों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी मनुष्य के मनोयन्त्र में देवनिर्मिति की परिपाटी उस प्रकार पवित्रता से हम नहीं देख पाते हैं। प्रकृति की गोद में रहते हुए वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के विभिन्न रूपों में अनेक देवताओं की उद्भावना की है। इस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, समुद्र, वायु, अग्नि और वृष्टि यह सब कुछ देवमय हो गया और निरन्तर नये से नये देवताओं की सृष्टि की गई। अथवा विश्व की अविश्वता अर्थात् संसार की असारता, मनुष्य का अल्प बलत्व, निराशा के क्षणों में पीड़ित हृदय वाले मनुष्य के कष्ट अथवा प्रार्थनाएँ सुनने के लिए और उसके सरल मार्ग सुझाने के लिए किसी ऊँची से ऊँची शक्ति की अनिवार्यता मानवजीवन को अत्यधिकता के साथ प्रभावित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की भावना का आविष्कार करती है। किन्तु मानव की मनोवृत्ति अनेक देवतावाद में चिरकाल तक सन्तुष्ट नहीं रहती है। मनुष्य का मन स्वभाव से ही यह शंका करता रहता है कि कौन सा देव वरिष्ठ, सबसे अधिक लम्बा, सर्वोत्तम, सर्वोच्च, नितान्त अलौकिक सत्य और सर्वश्रेष्ठ है? और इस प्रकार एक देवत्व की ओर प्रगमन करने वाले वैदिक ऋषियों द्वारा बहुतों में से एक की अथवा देवों की परस्पर तुलना, समानता का परीक्षण या असमानता का परीक्षण प्रारम्भ हुआ किन्तु विचलित होने वाली श्रद्धा से कुछ भी अभिलषित पदार्थ प्राप्त नहीं हो सकता है। इस भावना से ओत–प्रोत होकर वैदिक ऋषियों ने बहुतों में से एक देव को अन्य देव के समान प्रतिपादित करते हुए प्रदर्शित किया कि:– सभी देवता समान शक्तिशाली हैं, अतः समान भाव से ही पूजनीय हैं।

(क) वेदों में उपमान के रूप में प्रयुक्त देवताः-

वेदों में उपमान के रूप में प्रयुक्त देवताओं का वर्णन प्रयोगाधिक्य के क्रमानुसार नीचे किया जाता है:–

१. सूर्यः-

सूर्य तेजों का स्वामी है, इसलिए स्वभाव से ही मनुष्य उसकी उपासना करते

हैं। वैदिक देवताओं में सूर्य का उपमानत्व अधिकाधिक दिखलाई पडता है। उसके भौतिक रूप का प्रकट रूप से प्रस्फुटित होना ही इसका कारण प्रतीत होता है। वह ज्योति से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। इसलिए ऋषि सोम को सूर्य के समान ही अपनी किरणों से आकाश और भूमि मे व्याप्त होने की प्रार्थना करता है।

इन्द्र भी सूर्य के समान दोनों लोकों में विस्तार करता है–

"यत् सूर्यो न रोदसी अवर्धयत्।"[1]

अग्नि को प्रायशः प्रकाश का प्रसारक होने से सूर्य की उपमा दी जाती हैः–

"आ सूर्यो न भानुमद्भिरर्कैरग्ने ततन्थ रोदसी वि भासा।"[2]

पूजनीय अग्नि लपट–युक्त किरण से सब तरह से सूर्य के समान सुशोभित होता है–

"आ यः स्वर्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा।"[3]

वह चमकीले तेज से सूर्य के समान देदीप्यमान हो रहा है–

"स्वर्ण दीदेदरुषेण भानुना।"[4]

स्वरूप से भी अग्नि सूर्य के समान द्युतिमान है–

"स्वर्ण शुक्रम्।"[5]

रुद्र भी सूर्य के समान कान्तिमान है–

"यः शुक्र इव सूर्यः।"

मरुद्गण भी सूर्य के समान दर्शनीय है–

"दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्।"[6]

सोम भी सूर्य के समान दर्शनीय है–

"सूर्यासो न दर्शतासः (सोमासः)।"[7]

अग्नि और सूर्य दोनों ही अंधकार के नाशक हैं, यह उक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो गया है। इसलिए हम पढ़ते हैं–

"सूर्यो न रश्मिभिः शर्धन् तमांसि जिघ्नसे।"[8]

उच्च स्वर से आवाहन करने वाला अग्नि की प्रार्थना करता है कि आप अन्य से अप्राप्त हमारे धन को सूर्य के समान अधिक दीप्तिमान करोः–

"स्वर्ण शुशुचीत दुष्टरम्"[9]

सूर्य प्रतिदिन उदित होकर नवीन दिन का विधान करता है और दिनों की संख्या में वृद्धि करता है। अत एव जिस प्रकार सूर्य दिनों को बढ़ाता है, उसी प्रकार

मनुष्यों के जीवन को बढ़ाने के लिए सोम की प्रार्थना की जाती है–

"सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि।"[१०]

सूर्य आकाश में उन्नत का अतिक्रमण करता है, अर्थात् ऊँचाई से भी ऊपर अभियान करता है, उसका अभियान अनुपम और अभीष्ट है। अतः ऋषि कहता है कि जिस प्रकार सूर्य की गति अन्यों के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार इन्द्र का आगे बढ़ना भी अन्यों के द्वारा अलभ्य है–

"यस्यानाप्तः सूर्यस्येव यामः।"[११]

वायु अपनी महत्ता से आकाश और पृथ्वी से भी आगे बढ़ गये, जैसे कि सूर्य बादल अथवा वायुमण्डल से भी आगे बढ़ जाता है–

"प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः।"[१२]

देवता सोम भी सूर्य के समान भुवनों के ऊपर शोभायमान होता है:–

"अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि। सोमो देवो न सूर्यः।"[१३]

यहाँ सोम चन्द्रमा है और यह सोम उसी प्रकार कर्मों का मानसिक रूप से देखने वाला है, जिस प्रकार सूर्य सभी लोकों का द्रष्टा है–

"अयं सूर्य इवोपदृक्।"[१४]

महान् सूर्य के समान आकाश और पृथ्वी अग्नि को स्वीकार करते हैं–

"तमिद् यह्वं न रोदसी परिश्रवो बभूवतुः।"[१५]

गहरे भूरे रंग के अश्व के समान तीव्रगामी पवन से याचना करते हैं:–

"तद् वो यामि द्रविणं सद्य ऊतयो येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि।"[१६]

अर्थात् हे सद्य गमन करने वाले वायो! हम आपसे वह धन माँगते हैं, जिससे हम अपने पुत्र, भृत्य आदि का चतुर्मुखी विस्तार उसी प्रकार करें, कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों का प्रसार करता है।

अंगिराओं के साथ इन्द्र ने 'बल' नामक राक्षस को मारने के लिए वैसे ही वज्र को घुमाया, जैसे कि सूर्य राशियों (मेष आदि १२ राशियों) में चक्र (कालचक्र, वर्ष समूह) को घुमाता है–

"अवर्तयत्सूर्यो न चक्रं भिनद्बलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्।"[१७]

इन्द्र सभी मन्त्रों को उत्पन्न करने वाला है, जैसे कि सूर्य किरणों को उत्पन्न करता है–

"उस्त्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि।"[१८]

सब सूर्य को देख सकते हैं। इसलिए इन्द्र स्वर्ग में सूर्य के समान रथ के

बैलों (बलीवर्दो) में राजकीय शक्ति को धारण कराने के लिए कहता है, जिससे सभी उसको पहिचान सकें–

''इन्द्र क्षत्रासमातिपु रथप्रोष्ठेषु धारय। दिवीव सूर्य दृशे।''[१९]

इस प्रकार निश्चय ही वेदों में सूर्य दीप्तिमान् होने से, उच्च होने से, प्रकाश को प्रसारित करने से, और दिनों का अभिवर्धन करने से बहुत से देवताओं का उपमान हुआ है और प्रायः ऐसे स्थलों में सूर्य का भौतिक रूप ही प्रकट हुआ है, देवरूप नहीं।

२. अग्नि :-

देवताओं के अन्योऽन्य (परस्पर) के साथ सादृश्य के प्रसंग में अग्नि भी वेदों में बारम्बार प्रयुक्त हुआ है क्योंकि अग्नि देवत्व को प्राप्त प्राकृतिक उपादानों में प्रमुख है। अग्नि के वर्णन में उसके रूपों के वर्णन बहुत ही स्पष्ट हैं। वह सुनहरी दाढ़ी–मूँछ वाला, तेज दाढ़ वाला, जलते हुये दाँतों वाला और शीघ्रगामी है, वह काले मार्ग को पीछे छोड़ता है। धीरे–धीरे अग्नि देवता की कल्पना अधिकाधिक भावमयी, उन्नत और प्रौढ़ हुई और वह अधिकाधिक प्रमुख हो गई। क्योंकि अग्नि देव और मनुष्यों का मध्यस्थ दूत सहृदय, सहायक तथा मित्र के समान हो गया। इसीलिए जहाँ भी अग्नि को उपमान के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, वहाँ उसकी दयालुता और सहायताकारिता दोनों ही साधारण धर्म होते हैं। इन्द्र आदि देवताओं के उपमानत्व में साधारण धर्मत्व से देवत्व, पवित्र शौर्य सम्पन्न कर्मशीलता, दानपरायणता और स्तुति की योग्यता आदि से वर्णन किया जाता है। इस वर्णन में अभिव्यंजना की रीति विशेष से अपने वास्तविक अर्थ को प्रकट करने के अतिरिक्त न्यूनपाद की पूर्ति भी अध्याहार द्वारा कर ली जाती है। जैसे कि–भार्गव शौनक इन्द्र की प्रशंसा करते हुये कहता है कि सज्जनों के ज्येष्ठतम इन्द्र के लिए उसी प्रकार सुन्दर स्तुति समर्पित करता हूँ, जिस प्रकार यज्ञाग्नि की समिधाओं (लकड़ियों) से प्रज्वलित अग्नि के लिए आहुति या हवनीय द्रव्य अर्पित किये जाते हैं–

''प्र वः सतां ज्येष्ठतमाय सुष्टुतिमग्नाविव समिधाने हविर्भरे।''[२०]

वास्तव में ऐसे स्थलों में दोनों ही देवताओं के वहाँ प्रकृतभाव (उपमेय भाव) निष्पन्न होने से 'इव' आदि वाचक शब्द समुच्चय (समष्टि) अर्थ में समझने चाहिऐं।

मरुद्गणों की दीप्ति की तुलना अग्नि देवता से की जाती है–

''अग्निर्न ये भ्राजसा।''[२१]

उपर्युक्त उदाहरणों से हमने देखा कि वेदों में दीप्तिमान् होने से सूर्य अधिकतर अग्नि के उपमानत्व को प्राप्त होता है। किन्तु इसके विपरीत वेदों में प्रायशः अग्नि उपमान और सूर्य उपमेय के रूप में प्रयुक्त हुआ है–

"अग्निर्न शुक्रः।"[२२]

और यह उपमान और उपमेय की अदला–बदली हम ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर देखते हैं। रुद्र भी अग्नियों के समान अधिक दीप्तिमान् कहे गये हैं–

"अग्नयो यथा तुविद्युम्नाः।"[२३]

अनेक रूपों वाला अग्नि ही यहाँ अभीष्ट है, या उपमेय में आये हुये बहुवचन से युक्त होने से बहुवचन है, या तीन स्थान वाला अग्नि ही यहाँ अभीष्ट है। अथवा 'अग्नयः' यह अग्निज्वाला को निर्दिष्ट करता है :–

"अग्नयो न शुशुचानाः।"[२४]

इत्यादि में भी उपमानभूत अग्नि शब्द उपमेयभूत मरुद्गणों से अन्वयता (साहचर्य भाव) के कारण बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है।

"मित्रो यत्र वरुणो अज्यमानोऽग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम्।"[२५]

यहाँ मित्र और वरुण व्यक्त होते हुए अपनी कान्ति को उसी प्रकार सब तरफ फैलाते हैं कि जिस प्रकार अग्निदेव वृक्षों के समूह में अपनी दीप्ति को सब तरफ बिखेरता है।

प्रायशः तो देवताओं के कीर्तिकर कार्यों की तुलना अग्नि के दहकते हुये कर्म से की जाती है। यथा–

"रद्धं वृत्रमहिमिन्द्रस्य हन्मनाऽग्निर्न जम्भैरतृष्वन्नमावयत्।"[२६]

इस मन्त्र में इन्द्र की शक्तियों की समरूपता अग्नि के ज्वालारूपी दाँतों के साथ की गई है। जिस प्रकार अग्नि सारे ही अन्न को अपने दाँतों से चबाकर समाप्त कर देता है, वैसे ही इन्द्र की शक्तियाँ वृत्रासुर* को खाती हैं।

"अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व।"[२७]

यहाँ शत्रुओं को पराजित करने वाला होने के कारण मन्यु (क्रोध) की तुलना अग्नि से की गई है।

नाभाक ऋषि इन्द्र और अग्नि की स्तुति करते हुए कहता है : –

"हे इन्द्र और अग्नि! आपने हमें धन दिया। जैसे अग्नि हवा से ही वनों का दमन कर देता है वैसे ही हम आपके दिये हुये धन से संग्राम में डटी हुई शत्रु–सेनाओं को पराभूत करते हैं।"[२८]

तापस मन्यु–मन्यु की याचना करते हुए कहता है :–

"तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्रयन्तु नरो अग्निरूपाः।"[२९]

अर्थात् अग्नि के समान तीक्ष्ण दाह आदि कर्म वाले अग्नि रूपी नर युद्ध में

हमारी सहायता के लिए आवें।

अत्रि ऋषि मरुद्गणों की प्रार्थना करता है :–

"हे मरुद्गणो! शोक–विनाशक अग्नियों के समान आप हमें हमारे निन्दक शत्रुओं के पड़ोस (सामीप्य) से बचाओ।"[30]

"रुद्रगण भी अग्नियों के समान योद्धा कहे जाते हैं।"[31]

"अग्नेरिव प्रसितिर्नाह वर्तवे यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः।"[32]

इस मन्त्र में तो नया ही भाव दृष्टि में आता है। क्योंकि यहाँ ब्रह्मणस्पति से अनुगृहीत भक्त को अग्नि के ज्वाल–समूह की उपमा दी गई है। ब्रह्मणस्पति से सौमनस्य–वश चुना गया मनुष्य अग्नि के ज्वाल–समूह के समान निवारण या निवर्तन (लौटना) नहीं कर सकता है। 'अह' शब्द यहाँ शब्दों के अर्थों की सीमा नियत करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निश्चय ही इस प्रकार जहाँ कहीं अग्नि को उपमान बनाया जाता है, वहाँ प्रायशः साधारण धर्म–भाव से द्युति, दीप्ति, योग्यता (सामर्थ्य) और पराक्रम के कार्य करने का भाव इत्यादि विद्यमान रहता है।

३. इन्द्र :-

इन्द्र वैदिक आर्यों का राष्ट्रिय देवता है। उसके स्तुतिपरक सूक्तों के देखने से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों में उसकी सबसे अधिक प्रियता है। वृत्र के रिपु, हाथ में वज्र धारण करने वाले उस इन्द्र की अलौकिक बलशालिता और युद्धप्रियता का वर्णन बारम्बार किया गया है। वह युग अत्यधिक क्रियाशीलता का युग था और उस समय के लोग जिज्ञासा के और विजय के साहसिक कार्यों में संलग्न हुए। इसलिए विशेषता के साथ इन्द्र को योद्धाओं का निर्देशक कहा गया है। दैत्यों के दलन में और सोमरस के पान में उसका बल निश्चय ही अतुलनीय है। उसकी महिमा समुद्र के समान विस्तृत है। अद्वितीय और अनुपम होने के कारण शायद इन्द्र की तुलना इन्द्र से ही की गई है जैसे कि शुनः शेप ने कहा है–

"आ घ त्वावान्।"[33]

अर्थात् :– 'हे इन्द्र तुम तो अपने ही समान हो।" ऐसे स्थलों में हम 'अनन्वय' अलङ्कार का बीज भी देख सकते हैं।

इन्द्र और अग्नि इन दोनों ही देवताओं को परोपकार–परायण और पराक्रम–युक्त कर्म करने वाले होने के कारण परस्पर एक–दूसरे को एक–दूसरे की उपमा दी गई है। ऐसे स्थलों पर प्रायशः उपमेय और उपमान दोनों की निष्पन्नता द्रष्टव्य है और वाचक शब्द यहाँ समुच्चय (संग्रह या समष्टि) के अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसा कि त्रित आप्त्य कहता है :– 'इन्द्र के समान ही दानशील और दीप्तिमान् अग्नि की उपासना प्रातःकाल अपने स्तोत्रों और प्रणामों से करनी चाहिए। यथा–

'तमुस्रामिन्द्रं न रेजमानमग्निं गीर्भिर्नमोभिराकृणुध्वम्।''[३४]

वास्तव में यहाँ स्तोत्रों और प्रणामों से उपासना करना इन्द्र को भी अभिलषित है।

वसिष्ठ कहता है कि मैं बलवान् इन्द्र के समान ही हे अग्नि! तुम्हारे भी शौर्यमय कार्यों की प्रशंसा करता हूँ।

''इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दे।''[३५]

इन्द्र को अधिकतर अन्य देवताओं के समान भी उपमित किया जाता है, जैसे कि महान् कार्यो को सम्पादित करने से सोम को इन्द्र की उपमा दी जाती है:–

''इन्द्रो न यो महाकर्माणि चक्रिः।''[३६]

युद्ध में प्रचण्ड गर्जनशील होने के कारण भी उसे इन्द्र की उपमा दी जाती है:–

''इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ।''[३७]

मैत्रावरुणि (अगस्त्य का विशेषण) अश्विनीकुमारों को लक्ष्य कर कहता है–

''इन्द्रतमा हि धिष्ण्या।''[३८]

सुहोत्र के पुत्रगण पुरुमीळह और अजमीळह ऋषि कहते हैं–हे अश्विनी कुमारो! समय पर जिस प्रकार इन्द्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है उसी के समान तुम दोनों भी शक्ति–प्रदर्शन करो–

''मक्षू हि ष्मा गच्छथ ईवतो द्यूनिन्द्रो न शक्तिं परितक्म्यायाम्।''[३९]

ऋषभ वैराज या ऋषभ शाक्वर ऋषि अपने आप व्रणरहित रहते हुये शत्रुओं को मारने के कारण अपनी तुलना इन्द्र से करता है–

''अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।''[४०]

अर्थात् – मैं शत्रुओं को मारने वाला हूँ, मैं व्रणरहित हूँ, मैं इन्द्र के समान हूँ।

ध्रुव आङ्गिरस राज्याभिषेक प्राप्त राजा को इन्द्र के समान सदैव कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहने की सलाह देता है–

''इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ।''[४१]

इस प्रकार इन्द्र के उपमान होने पर प्रायशः शौर्यमयी, कीर्तिकर कर्मठता ही 'साधारण धर्म' होती है।

४. उषाः-

विद्वानों के लिए उषा से बढ़कर अन्य कोई महान् उत्सव (हर्ष) नहीं है। यूनान के रहने वाले प्राचीन कवियों ने भी देदीप्यमान और नर्तन करती हुई उषा (EOS) को देवी के रूप में चित्रित किया है। वेदों में प्रभातकालीन उषा का वर्णन एक कान्तिमती, रूपमती, नवयौवना स्त्री एवं सूर्य की और अश्विनी कुमारों की

प्रेमिका के रूप में किया गया है। उषा को लक्ष्य करके उसके अनुपम सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए प्रयुक्त सूक्तों में वैदिक ऋषि गण रमणीय रूपकों और रम्य उपमाओं में परस्पर होड़ लगाते हुये से प्रतीत होते हैं। वह स्वर्गीय बाला उषा माता के द्वारा सजाई गई, अपने सौन्दर्य पर गर्वित होने वाली, चमकीली चोली को धारण करने वाली युवती के समान पूर्व दिशा से जगत् में उसी प्रकार आती है, जैसे कोई कामिनी आवरण हटाकर रूप–छवि का उपभोग कराती हो यह उषा वेदों में अधिकतर तो उपमेय के रूप में प्रयुक्त हुई है और उसे रमणी की उपमा दी गई है किन्तु अन्यत्र वह स्वयं अपने उपमान के रूप में भी दिखाई पडती है–

"उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे।"[४२]

यहाँ पर वह स्वयं याज्ञिक की पत्नी उषा के समान चमकीली कही गई है। उषा में देवत्व का स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान करके ऋषि अन्य देवताओं के साथ उसकी स्तुति करता है और अन्य देवताओं से उसका सादृश्य स्थापित करता है। जैसे कि ऋषि कहता हैः–'इन्द्र महत्ता से दोनों लोकों में उसी प्रकार व्याप्त हो सकता है, जिस प्रकार देवी उषा उन दोनों लोकों में अपने प्रकाश से फैल जाती है। यथा–

"उभे यदिन्द्र रोदसी आप प्राथोषा इव"[४३]

इन्द्र के पुराने और नये उपकार और धन उषा के समान गिने नहीं जा सकते हैं–

"न त इन्द्र सुमतयो न रायः संचक्षे पूर्वा उषसो न नूत्नाः।"[४४]

मरुद्गण अपनी महान् देदीप्यमान ज्योति से अन्धकार को उसी प्रकार दूर करते हैं, जिस प्रकार उषा अपने चमकीले तेज के द्वारा अन्धकारमयी कृष्ण वर्ण वाली रात्रियों को दूर करती है–

"उषा न रामीररुणैरपोर्णुते"[४५]

"जिस प्रकार किरणें शोभायमान चमकीली उषा देवी की सेवा करती हैं, उसी प्रकार अङ्गुलियाँ अर्चनीय अग्नि की सेवा करती हैं।"[४६]

"ऋषि लता से निकलते हुए सोमरस की तुलना उषा से बाहर आते हुये सूर्य से करता है।"[४७]

वैदिक ऋषि ठीक प्रकार से जानता है कि एक बार विलीन होने वाली उषा दोबारा कभी लौटकर नहीं आती है। अतः परूरवा सोचता है कि वह उर्वशी उषा के समान फिर आवृत्ति न करने (लौटकर न आने) के लिए उससे अलग हुई हैः–

"प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।"[४८]

उषा से सम्बद्ध सूक्त निश्चय और निःसन्देह ही काव्यकला के श्रेष्ठ

उदाहरण स्वीकृत किये जाने चाहिएँ। अलौकिक सौन्दर्य का आकलन करने से, भाषा के अलंकृत होने से एवं प्रवाह और कल्पना की निर्मलता से उषा देवी से सम्बन्धित सभी सूक्त सहृदय जनों के हृदय को बलपूर्वक छूते हैं।

५. द्यौ :

वैदिक आर्यों की अनेक पदार्थो के अन्दर प्रवेश करने की मर्मभेदी (रहस्यों को प्रकट करने वाली) प्रवृत्ति के कारण स्वभाव से ही अनेक देवताओं की सृष्टि हुई, यह पहले से ही प्रसिद्ध है। अन्तरहित, बाधारहित, स्वच्छ और देदीप्यमान इस आकाशमण्डल को देखकर वैदिक ऋषि के मन में संसार की पूर्णता की भावना दृढ़ हो गई। उसे ऐसा लगा कि यह स्वच्छ नीला आकाश देवताओं का द्युतिमान् मनोहारी निवास स्थान है। सूर्य निकलता है और छिपता है, चन्द्रमा अपनी सोलह कलाओं–अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, और पूर्णामृता से मण्डित होते हुए भी धीरे–धीरे बूढ़ा हो जाता है और फिर उसकी सभी कलाएँ छीण हो जाती हैं और वह क्षयी हो जाता है। झंझावात (तूफान) उठते हैं और शान्त हो जाते हैं। मेघमालाएँ गड़गडाहट के साथ आकाश में विहार करती हैं। नक्षत्र अपने स्थानों को बदलते हैं तो भी आकाश उसी प्रकार सदा निश्चल रहता है। पृथ्वी का यह अलौकिक नीला वितान (शामियाना) ही वैदिक ऋषियों का 'द्यौ देवता' हुआ।

ग्रीकदेव इस आकाश देवता को अधिकतर ज़्यूपिटर (द्यौष्पितर्) इस नाम से पुकारता है और तब यह धरती भी वैदिक ऋषियों ने देवी मान ली। होमर महोदय ने भी पृथ्वी को देवताओं की माता और ताराजटित (सितारों भरे) आकाश की पत्नी कहा है और इस प्रकार द्यौ और पृथ्वी अलौकिक माता–पिता हो गये।

देवताओं का पिता होने के कारण आकाश सर्वधारक होने के रूप में प्रशंसित किया गया। जैसे कि–

"स कविः काव्या पुरुरूपं द्यौरिव पुष्यति।"[४९]

ऋषि ने इस मन्त्र में वरुण की स्तुति में कहा है कि कवि वरुण उसी प्रकार काव्यों का लालन करता है जैसे द्यौ प्रत्येक वस्तु के पृथक् रूपों का पालन करता है।

"द्यौर्न प्रथिना शवः।"[५०]

इस मन्त्र में सर्वत्र व्यापक होने से समान धर्मत्व के कारण द्यौ को इन्द्रशक्ति का उपमान बनाया गया है। "ऋषि दिवोदास की स्तुति के द्वारा शक्ति की प्राप्ति के लिए उसी प्रकार इन्द्र से प्रार्थना करता है जिस प्रकार द्यौ दिनों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है।"[५१]

"ऋषि अपने सजातीय बन्धुओं के साथ शत्रु को पौरुषशक्ति से उसी प्रकार

पराभूत करने की इच्छा करता है जिस प्रकार द्यौ पृथ्वी को पराजित करता है।"[५२]

जल में अग्नि के संचरण का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि–"जल अग्नि का उसी प्रकार उपभोग करता है जिस प्रकार द्यौ पृथ्वी का उपभोग करता है।"[५३]

द्यौ समुद्र के ऊपर–ऊपर रहता हुआ उसके ऊपर अनुशासन करता है। इसी प्रकार वरुण भी द्यौ के समान समुद्र के ऊपर शासन करता है, यह ऋग्वेद द्वारा प्रतिपादित होता है–

"अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद्।"[५४]

सत्य का पालन करने वाले महात्मा पुरुष अपने गौरव से उसी प्रकार अन्य मनुष्यों को पराभूत करते हैं, जिस प्रकार द्यौ अपने गौरव से पृथ्वी को अभिभूत करता है–

"ऋतायवो द्यावो न द्युम्नैरभि सन्ति मानुषान्।"[५५]

यहाँ उपमेय 'मानुषान्' के साथ संयुक्त होने से 'द्यावः' बहुवचनान्त है।

साँड के गर्जन को शब्दायमान द्यौ की उपमा दी जाती है:–

"द्यौर्न चक्रदद् भिया।"[५६] इसी प्रकार अग्नि के शब्द को –**"अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः।"**[५७] इत्यादि मन्त्रों में, और बृहस्पति के निनाद को –**"स्तनयन्निव द्यौः।"**[५८] आदि मन्त्रों में द्यौ के समान कहा गया है।

"बादलों से शोभायमान द्यौ के समान सुन्दर कृष्णवर्त्मा (अग्नि) सुशोभित होता है।"[५९] जिस प्रकार आकाश वर्षा के जल से सारे संसार को पवित्र करता है, इसी प्रकार यह पृथ्वी अपने रस से पावन करता है।"[६०]

इस प्रकार निश्चित रूप से द्यौ विस्तृत होने के कारण सबको अच्छादित करने के कारण तथा घोर गर्जन करने के कारण वरुण, इन्द्र और अग्नि आदि देवताओं का उपमान बना।

६. सविता-

शृंखला से हटकर वेदों में 'सविता' पद सूर्य के अतिरिक्त भी किसी देवता के लिए प्रयुक्त हुआ है। तो भी अधिकतर तो 'सविता' सूर्य से ही सम्बद्ध है। सम्भवतः पहले जीवन और गति का प्रेरक होने से 'सविता' सूर्य का विशेषण हुआ। किन्तु बाद में 'सविता' भावात्मक सूरज सम्बन्धी देवता से अलग गिना गया। तो भी ऋग्वेद में जहाँ कहीं भी वह (सविता) उपमान रूप में प्रयुक्त हुआ है, वहाँ–वहाँ सूर्य से अलग गुणों से युक्त वर्णित है।

सविता अपने सत्य और शीलत्व के कारण प्रसिद्ध है। और वह इस धर्म से अग्नि का उपमान हुआ–

''देवो न यः सविता सत्यमन्मा।''[६१]

''सोम भी सविता के समान पवित्र और सत्यशील कहा गया है।''[६२] सविता देव जिस प्रकार संसार में विहार करते है, उसी के समान ज्ञान अथवा चौसर का समूह विस्तृत जगत् में विहार करता है–

''त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।''[६३]

क्योंकि आक्षिक (ज्ञान से जीतने वाले ज्ञानीजन अथवा जुआ खेलने वाले) तब तक के ज्ञान से अथवा चौसर से चमकते हैं। वास्तव में तो यहाँ सविता के 'सत्यधर्मा' इस विशेषण से अक्षसंघ (ज्ञानियों अथवा जुआरियों के समूह) का भी सत्यधर्मत्व प्रकाशित होता है।

''सविता पृथ्वी पर रहता है' वैदिक ऋषियों का ऐसा विश्वास है। और अग्नि भी पृथ्वी निवासी है। इसीलिए ऋषि ने इन दोनों में सादृश्य स्थापित किया है।''[६४]

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है, जिस प्रकार सूर्य अपनी भुजाओं को फैलाता है–

''ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू।''[६५]

इस प्रकार सविता को उपमान बनाने में प्रायशः उसके सत्यधर्म–भाव को साधारण धर्म–भाव से लिया जाता है।

७. देवाः-

वेदों में पुराणशास्त्र अथवा देवशास्त्र कलात्मक वस्तु की रचना प्रक्रिया (पद्धति) में हुआ है। यह हमारे द्वारा पूर्व वर्णित है। देवरचना में मनुष्य का मन कदाचित् इतना न लगा हो इसलिए वैदिक ऋषियों ने उन देवताओं को व्यक्तिगत रूप से या वर्गों में पूजा और सन्तुष्ट किया। निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि प्रारम्भ में इन्द्र आदि देवताओं से भिन्न माने जाते थे। ऐसा विद्वानों का मत है।

'देवाः' (बहुत से देवता) यह बहुवचनान्त देव समुदाय वाचक पद का उपमानत्व से प्रयोग वैदिक आर्यों के बहुदेवतावाद से एक देवतावाद के लिए किए गए प्रयत्न को स्पष्ट करता है। ऋषि कहता है कि उसकी स्तुति देवताओं के समान इन्द्र को भी आसक्त करे।

''इन्द्र ओक्यं दिधिषन्त धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः।''[६६]

तथा–

''अध प्र सू न उप यन्तु धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः।''[६७]

यहाँ ऋषि इच्छा करता है कि उसका सूक्त देवताओं के समान सूर्य को भी प्राप्त हो।

तथा–

"नू मन्चान एषां देवाँ अच्छा न वक्षणा।"[६८]

यहाँ पर ऋषि कहता है कि देवताओं के समान मरुत् भी स्तोत्र से और हवि से अवधारणा करें।

यहाँ **'एषां'** इस उपमेय पद को 'मरुत्' चिन्हित करता है और **'देवाँ अच्छा'** यह 'उपमान' को लक्षित करता है। सोम के विषय में कहा है–**'सोमो देवो न सूर्यः।'**[६९] सोम वैसे ही चमकदार है जैसे कि सूर्य चमकदार है।

८. मित्र-

यद्यपि प्रायशः परस्पर मित्र, सत्य के संरक्षक एवं आदित्यो में अन्यतम मित्र और वरुण की सामूहिक रूप से स्तुति की जाती है, तो भी उपमानत्व से दोनों की पृथक्–पृथक् उपमानता हम देखते हैं। कभी 'मित्र' से 'सूर्य' अभीष्ट है तो कदाचित् 'ज्योति' अथवा 'आलोक' अभिलषित है। धीरे–धीरे 'मित्र' प्रातः कालीन प्रकाश से सम्बद्ध हो गया। सूर्य और भग (सूर्य के बारह रूपों में से एक) के साथ मित्र और वरुण भी 'आदित्य' कहे गये हैं। मित्र सर्वदर्शी, सत्यप्रिय और दर्शनीय देवता है। इस सन्दर्भ में वह सूर्य देवता का ही एक पक्ष माना जाता है। 'सोम' 'मित्र' के समान दर्शनीय कहा गया है–**"मित्रो न दर्शतः।"**[७०] सूर्य के समान मित्र भी मनुष्यों को प्रिय मित्र के समान उनके कार्यों में प्रेरणा देता है। मित्र की मित्रता को लक्षित करके ऋग्वेद में 'मित्र' पद श्लेष को व्यञ्जित करता है। जैसे कि–मित्र के समान लोगों को उनके कार्यों में प्रेरणा देने की समर्थता होने के कारण अग्नि को मित्र की उपमा दी जाती है:–**मित्रं न यातयज्जनम्।"**[७१]

मित्र मनुष्यों को सुख देने वाला और सहायता करने वाला है। इसी धर्म के कारण वह **"भवा मित्रो न शेव्यः"**[७२] और **'द्युभिर्हितं मित्रमिव'**[७३] आदि में उपमान के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

दयाशील होने के कारण और सहायता करने वाला होने के कारण मित्र सदा अभिलषित है।

इसलिए ऋषि कहता है–**"मित्र इव यो दिधिषाय्यो भूद्।"**[७४]

अग्नि मित्र के समान आदर–सत्कार के योग्य कहा गया है–**"मित्रो न यज्ञियः।"**[७५]

इन्द्र मित्र के समान प्रख्यात कहा गया है–**"मित्रो न श्रूयते।"**[७६]

मित्र के समान माहात्म्य इन्द्र को महिमामंडित करता है–**"त्वा महिमा सक्षदवसे महे मित्रं नावसे।"**[७७]

इन्द्र मित्र के रामान अपने यश का प्रसार करता है–"**मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या।**"[७८]

सोम मित्र के समान प्यारा, दीप्तिमान् अथवा शुद्ध है–

"**शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रः।**"[७९] अग्नि मित्र के समान दीप्तवर्ण है–"**शुक्रशोचिषमग्निं मित्रं न।**"[८०] अथवा सखा के समान कार्य–साधक होना, यह लुप्त साधारण धर्म का भाव है। जैसे मित्र या सखा धन प्राप्त कराता है, वैसे ही अग्नि अप्राप्त धन का प्राप्त करानेवाला होता हैः–

"**मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।**"[८१]

सायणाचार्य प्रायशः '**मित्रः न**' इस पद का 'आदित्य इव', अथवा 'सखेव' इस प्रकार व्याख्यान करता है। साधारणतया नपुंसकलिंग में प्रुयुक्त मित्रपद सखि वाचक है और पुलिंग में देवता वाचक है। किन्तु इसका व्यत्यय (वैपरीत्य) भी ऋग्वेद में पुनः देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के ऋषियों ने 'मित्र', पद का 'सखा और देवता' दोनों अर्थों में श्लिष्ट रूप में प्रयोग किया है।

९. वरुण-

वेदों में वरुण से सम्बन्धित सूक्त अधिकतर प्रौढ और प्रेरणायुक्त हैं। वैदिक आर्यों की नैतिकता का परम रक्षक, व्यभिचारियों को दण्ड देने वाला, सत्य का संरक्षक और क्षमाप्रार्थीजनों के पापों का निवारण करने वाला राजा वरुण सबके सब कृत्यों को जानता है। इसी सर्वज्ञत्व धर्म से वह जातवेदस् अग्नि के उपमानत्व को प्राप्त होता है–"**विश्वं स वेद वरुणो यथा।**"[८२]

वरुण मायावी है, प्रायशः ऐसा कहा जाता है और इसी धर्म के कारण ऋषि इन्द्र को वरुण के समान मायावी कहता है–"**वरुणो न मायी।**"[८३]

तथा–"**त्वं नो मित्रो वरुणो न मायी।**"[८४] इस प्रकार यहाँ मित्र को भी वरुण के समान मायावी कहा जाता है। बाद में तो वरुण समुद्रों का और नदियों का देवता हो गया। इसलिए ऋषि कहता है–जिस प्रकार वरुण समुद्रों को और नदियों को ढ़क कर लोगों को अनेक प्रकार का जल प्रदान करता है, इसी प्रकार रत्नों का देने वाला सोम याचना करने योग्य धन देता हैः–

"**वना वसानो वरुणो न सिन्धून्।**"[८५]

१०. सोम-

सोम प्रेरणा का देवता है। वैदिक सोम अवेस्ता के हओमेन (Haoma) का सजातीय माना जाता है अर्थात् जाति की समानता को प्राप्त होता है। क्योंकि सोमरस भावों को ऊपर उठाकर मनुष्यों को ऐसे कार्य करने की प्रेरणा देता है, जो सामान्य

अवस्था में उनके लिए दुष्कर और असम्भव प्रायः होते थे। अत एव सोम उनकी सम्मति में प्रत्यक्ष देवता ही हुआ। और इस प्रकार जन--मानस में देवत्व को प्राप्त सोम की शक्तियों की समानता अन्य देवताओं के साथ की जाने लगी, और वह भी दूसरे देवताओं का उपमान हुआ, ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक है।

वैदिक आर्यों का अत्यन्त प्यारा और अनेक प्रकार के कीर्तिकर कार्यों को सम्पादित करने वाला देवता इन्द्र हवनीय होने के कारण राजा सोम से समरूपता को प्राप्त होता है--

''सोमो न पीतो हव्यः सखिभ्यः।''[८६]

अग्नि सोम के समान 'विधाता' या 'स्रष्टा' कहा जाता है--

''सोमो न वेधा।''[८७]

''दूसरा ऋषि, अश्विनी कुमारों की स्तुति में गाता है कि उन दोनों ने सोम के समान स्रुवा (यज्ञ का चमचा) से रेभ को उठाया।''[८८]

जिस प्रकार अभिषुत लता रूपी सोम (रस) रसीले हो जाते हैं और उनके पीने पर पीने वालों के हृदयों में शरीर रक्षक होते हुये से बैठ जाते हैं उसी प्रकार यज्ञ में बुलाये गये और ध्यान में लाये गये मरुत् हृदयों में शरीर रक्षक होते हुये से बैठ जाते हैं--

''सोमासो न ये सुतास्तृप्तांशवो हृत्सु पीतासो दुवसो नासते।''[८९]

सभी सोम की इच्छा करते हैं और सोम सभी को अच्छा लगता है। अतएव स्तुति करने वाला अश्विनी कुमारों से प्रार्थना करता है कि वह अपने जाति वाले बन्धुओं के साथ अपने स्वामियों से सोम के समान इच्छा करे :--

''सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम्।''[९०]

अतिशय प्रिय और प्रसिद्ध सोमदेव का उपमान के रूप में प्रयोग तो कम ही हुआ है।

११. वायु-

यद्यपि वेदों में 'वायु' और 'वात' ये दोनों ही भौतिक (जीवित प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले) तत्त्व हैं और दोनों ही देवत्व को चिन्हित करते हैं, तो भी प्रधान रूप से 'वायु' देवता है। 'वात' तो भौतिक तत्त्व है। 'इन्द्र' और 'वायु' की स्तुति साथ--साथ की जाती है। 'वात' तो बादल के साथ सम्बद्ध है। तो भी वायु के उपमानत्व में साधारण धर्मत्व से उसका वेगपन, फुर्तीलापन और स्वच्छन्दगामित्व ही ग्रहण किया जाता है। जैसे कि प्रसन्न बार्हस्पत्य (बृहस्पति के शिष्य) ने बाजारों के बढई बृबु को वायु के समान क्षिप्रगामी (तेज चलने वाला) कहा है--

"यस्य वायोरिव द्रवद्।"[६१]

इसका अर्थ है–'वायु के समान क्षिप्रगामी जिस वृबु का।'

उषा देवी के लिए निन्दा करने के पावन पाठ में (वेद में) हम पढ़ते हैं–

"वायोरिव सुनृतानामुदर्के।"[६२]

यहाँ सायण कहता है–वायु के समान शीघ्र आरम्भ किये हुए सत्य, सुमधुर स्तुति रूपी वचनों के अन्त में। सोम देव वायु के समान यथेच्छ गमन करने वाले हैं–

"वायुर्न यो नियुत्वाँ इष्टयामा।"[६३]

भौतिक रूप के अत्यधिक प्रस्फुटित होने से वात का उपमान के रूप में विवेचन तो प्राकृतिक उपमानों में ही सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

१२. नक्त (रात) और उषा-

वैदिक ऋषि प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति प्रबलरूप से आकर्षित हुआ है। उसने उसकी विचित्रता को समझा और उसको अनुभूति में लाया। हमने यह ठीक प्रकार से देखा है कि वैदिक ऋषिगण किस प्रकार से उषा के वर्णन में प्रयुक्त अनुपम उपमाओं के द्वारा और उसके अनुरूप रूपकों के द्वारा परस्पर होड़ लगाते हैं। वे केवल उषा के वर्णन में ही नहीं रमे, अपितु नक्षत्रों से प्रकाशित रात्रि के वर्णन में भी उन्होंने अलौकिक आनन्द प्राप्त किया। क्योंकि उषा और रात दोनों ही स्नेह–सम्पन्न बहिनें हैं और आपस में एक दूसरे के पीछे चलने वाली हैं, इसलिए वैदिक ऋषि प्रेम–पूर्वक उन दोनों को 'नक्तोषासा' इस सामासिक नाम से अभिहित करता है। ये दोनों ही आकाश की पुत्रियाँ कही गई हैं और अलौकिक होने से वैदिक ऋषियों के द्वारा इन दोनों की स्तुति की जाती है। प्रसन्नता–प्राप्ति के लिए उन दोनों की स्तुति की जाती है। ऋषि काश्यप ने ठीक ही कहा है कि गहरे रंग के होने के कारण आकाश और पृथ्वी, रात और उषा (नक्तोषासा) के समान देखने योग्य हैं–

"सुशिल्पे बृहती मही पवमानो वृषण्यति। नक्तोषासा न दर्शते।"[६४]

अथवा 'मही' इत्यादि पद 'नक्तोषासा' के विशेषण हैं। तब तो–रात और दिन, रात और दिन के समान ही दर्शनीय हैं। इस प्रकार यहाँ 'अनन्वय' अलंकार की प्रतीति (स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान) होती है।

१३. नासत्या (अश्विनीकुमार)-

अकेले ऋग्वेद में ही अश्विनी कुमारों से सम्बन्धित प्रायः पचास सूक्त हैं। बहुत से दूसरे सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ अश्विनी कुमारों की स्तुति की जाती है। जन्म से जुड़वा और नित्य साथ रहने वाले उन दोनों को कोई अलग नहीं कर सकता है। वे हृष्ट–पुष्ट, लघु शरीर वाले, रोग का निवारण करने वाले, स्वर्ग के

पुत्र और आश्चर्यजनक कार्य करने वाले हैं। वे दोनों सर्वदा पीडित, दीनदुःखी, और पापी पतितों की सहायता करने में तत्पर रहते हैं। वे दोनों दाम्पत्य–प्रेम के पोषक और पति–पत्नी के जीवन के रक्षक हैं।

वैदिक ऋषियों ने अश्विनी कुमारों द्वारा किये गये कार्यो की बारम्बार प्रशंसा की है। उन्होंने अधिक आयु के ऋषि को फिर से युवा कर दिया और वन्दन की रक्षा की। अत्यन्त दया से द्रवित हृदयवाले वे दोनों स्तुति करने वालों को हर प्रकार से प्राप्य हैं और इसी धर्म के कारण वे दोनों इन्द्र के उपमान रूप में प्रतिष्ठित हुए–

''नासत्येव ग्म्यः।''[९५]

शौर्य और पराक्रम के कर्म करने वाले वे दोनों दुखियों के लिए आनन्द के स्रोत बन गये हैं। अपने कल्याणकारी धर्म से दोनों सोम के उपमान बने–

नासत्येव हव आ शंभविष्ठः[९६]

१४. पूषा-

बकरी आदि पशुओं का रक्षक, राहगीरों और किसानों का पथ–प्रदर्शक और रिपु के विनाश हेतु पथ–प्रदर्शन के लिए भक्त से अधिकतर स्तुति किये गये आदित्यों में से एक 'पूषा' भी वेदों में कहीं उपमानत्व से प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि ऋषि सोम की प्रशंसा करता हुआ कहता है–**''पूषेव धीजवनोऽसि सोम।''**[९७] अर्थात् हे सोम! तुम पूषा के समान मनोवेग हो, अथवा कर्म के प्रवर्तक हो।

१५. भग-

भग देवता धन और धान्य का देने वाला है। साधारण तौर से 'भग' यह पद धन, समृद्धि और उदारता को प्रकाशित करता है। इसलिए वेदों में बहुत से स्थलों पर यह पद श्लिष्ट रूप में प्रयुक्त हुआ है। पक्ष में यह देवता अर्थ को प्रकट करता है और अन्यत्र समृद्धि आदि अर्थ का द्योतन करता है। जैसा कि हम भग की स्तुति में पढ़ते हैं–**''उतेदानीं भगवन्तः स्याम।''**[९८]

पूषा के और अर्यमा के समान भग की भी स्तुति आदित्यों के साथ की जाती है। भग आश्चर्यजनक कर्म करने वाला है और इसी अभिप्राय से वह इन्द्र का उपमान हुआ है–**''भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद् रोदसी सुदंसा।''**[९९] ''अग्नि भग के समान विशेषरूप से इच्छित धन प्रदान करता है।''[१००] धन का दाता होने के कारण भग स्तोत्रों का योग्यतम देव माना गया है। इसलिए ऋ० १/१४४/३; ऋ० १०/३६/१०, ऋ० ५/३३/५, ऋ० ३/४६/३, और ऋ०१/१४१/१० इत्यादि मन्त्रों में अग्नि, अश्व, योद्धा और इन्द्र को स्तोत्रों की योग्यता रूपी समानधर्मता द्वारा 'भग' की उपमा दी जाती है।

स्तुति करने वाले जिस प्रकार 'भग' को विभूषित करते हैं, उसी प्रकार अग्नि

को भी अलङ्कृत करते हैं–''**आदिद्धोतारं वृणते दिविष्टिषु भगमिव पपृंचानास ऋञ्जते।**''[१०१]

१६. अंश-

यह देवता अतिप्रसिद्ध नहीं है उपमेयपन से स्वीकार किये गये अश्विनी कुमारों के उपमानत्व से, उपहार दान रूपी साधारण धर्म होने से इसे उपमित (सादृश्यज्ञानात्मक उपमान से युक्त) किया गया है–''**अंशेव नो भजतं चित्रमप्नः।**''[१०२]

उपमेय हुए अश्विनीकुमारों के अन्वय (व्याकरणविषयक क्रम) की संगति के अनुरोध से 'अंश' नामक अकेला देवता* भी द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है। अथवा 'अंशौ' अर्थात् अंशभग (द्विवचन)। क्योंकि–'अंशभगौ' वहुत से मन्त्रों में साथ–साथ पढे जाते हैं, यथा–''**भगो नरस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः।**''[१०३]

तथा–''**देवो भगः सविता रायो अंशः।**''[१०४] अन्यत्र ऋषि ने कहा हैः–''**अर्हन्ता चित्पुरो दधेऽशेव देवावर्वते।**''[१०५] अर्थात्–मैं अश्व लाभ के लिए, सर्वोपरिता से पूज्य देव अश्विनीकुमारों की 'अंश' के समान पूजा करता हूँ।

१७. अज-

अज हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा है, क्योंकि वह सोने के अण्डे से पैदा हुआ है। इसी कारण यह कहा गया है कि वह पृथ्वी और आकाश का धारण करने वाला है। अथवा अज 'अज एकपाद्' अर्थात् सूर्य होवे। 'अजति गच्छति, इति अजः' इस व्युत्पत्ति से भी अज सूर्य का पर्यायवाची (समानार्थक) प्रतीत होता है। इस विस्तृत पृथ्वी का धारक होने से, अथवा पोषक होने से वह अग्नि का उपमान है–''**अजो न क्षां दाधार पृथिवीम्।**''[१०६] अर्थात् यह अग्नि प्रकाशक होने से अज के समान भूमि को धारण करता है।

१८. अदिति :-

यह अदिति पदार्थ अबद्ध और असीमित है। क्योंकि अदिति किसी अदृश्य और अनन्त शक्ति का नाम है, जो निश्चय ही हमारा चारों ओर से उपभोग करती है। वह जहाँ–तहाँ अनन्त आकाश में और उससे परे भी अन्तर्हित (अन्दर रक्खी हुई) रहती है।

उदाहरणार्थ–''**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।**''[१०७]

इसी देवता से ही अन्य सब देवता उत्पन्न हुये हैं। यहाँ सबका आलिंगन करने वाली, सबको उत्पन्न करने वाली प्रकृति ही देवत्व को प्राप्त अदिति नाम से कही गई है। इसीलिए उसके व्रत स्वशासित, निश्चित, नित्य, दुःखरहित और कभी नष्ट न होने वाले हैं। और वही अदिति के प्रसंग में साधारण धर्मत्व से ग्रहण किये जाते हैं, जैसे कि –''**दीर्घं वो दात्रमदितेरिव व्रतम्।**''[१०८]

यहॉ मरुतों के उपहार अदिति के व्रतों के समान आश्रय और कभी पृथक् न किये जाने वाले हैं।

"पयो न दुग्धमदितेरिषिरम्।"[१०९]

यहाँ सोम को अदिति के दुग्ध की उपमा दी गई है। पवित्रता यहॉ साधारण धर्म है, क्योकि दुग्ध पवित्र होता है।

१९. अर्यमा-

प्रायशः वरुण, मित्र और भग के साथ गण में स्थित आदित्यों में से एक अर्यमा निश्चय ही दानशील होने से प्रशंसित किया जाता है।

"अर्यमणं न मन्द्रम्।।"[११०]

यहाँ मरुद्गण की स्वसौजन्य के कारण अर्यमा देवता से तुलना की गई है। **"दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम।"**[१११] यहाँ 'सोम' को 'अर्यमा' के समान सबकी वृद्धि करनेवाला माना गया है। 'दक्ष' का प्रयोग 'वृद्धि' के अर्थ में भी होता है, 'दक्ष्' धातु से **'श्रुदक्षिस्पृहिग्रहिभ्य आय्यः'** (उ०सू० ३/३७६) से 'आय्य' प्रत्यय होने पर 'दक्षाय्यः' पद बना है। वैसे दक्ष (दक्ष्+अच्) का अर्थ चतुर होता है, जैसे **'नाट्ये च दक्षाः वयम्'** (रत्नावलि :१/६)

२०. असुर-

प्रायशः 'असुर' यह पद वरुण और अन्य देवताओं का विशेषण ही है। किन्तु कहीं 'असुर' शब्द वरुण के अन्य नाम के रूप में प्रयुक्त होता है।[११२]

उसके वस्त्र (पोशाक) की वेदों में बहुत प्रशंसा की गई है। अग्नि अपनी किरणों के समूह को उसी प्रकार संचालित करता है, जैसे असुर अपनी पोशाक को—**"असुर इव निर्णिजम्।"**[११३]

२१. असुर्यः-

ऋग्वेद अपनी विस्तारता के कारण 'असुर्य' इस नाम के किसी देवता की भी स्तुति करता है। सम्भवतः 'असुर्य' यह आकाश या स्वर्ग का नाम हो। ऋषि मरुतों के सुख का वर्णन करता हुआ कहता है कि उनका उपहार शक्तिमती रानी असुर्या देवी के समान विस्तृत है—

"भद्रा वो रातिः पृणुतो न दक्षिणा पृथुजयी असुर्येव जञ्जती।"[११४]

२२. ऋभवः-

(यहाँ 'ऋभु' शब्द प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में प्रयुक्त है।) वेदों में बहुत से पौराणिक व्यक्ति हैं, (व्यक्ति—वि+अञ्ज्+क्तिन् स्त्रीलिंग शब्द है) जिनकी गिनती देवताओं (दिव्य शक्तियों) में की जा सकती है ऐसी विद्वानों की मान्यता है। इनमें

'ऋभु' सर्वाधिक प्रमुख हैं। निश्चय ही वे इन्द्र के साथ और मरुतों के साथ अथवा आदित्यों के साथ यज्ञ में उपस्थित होने के लिए अधिकतर बुलाये जाते हैं। इन्द्र का ऋभुओं के साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि इन्द्र को ऋग्वेद में प्राचीनतम ऋभुत्रय के समान प्रदर्शित किया गया है:–"**इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातः**"[११५]

यहाँ ऋभु को 'इन्द्र का पुत्र' कहा गया है। यज्ञ के अवसरों पर ऋभु भी सोमपान के लिए बुलाये जाते हैं।

ऋभु पदार्थ छोटे हाथों वाला अथवा कर–कुशल है इसीलिए वे ऋभुगण 'सुहस्त' (सुन्दर हाथ वाले) इस विशेषण से विमण्डित होते हैं :-- "**स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः।**"[११६] यह पद ऋग्वेद में अधिकतर इन्द्र, अग्नि अथवा आदित्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

"**प्रास्तौ दृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा। ऋभुर्न ऋतुभिर्मातरिश्वा।**"[११७]

यहाँ इन्द्र को अन्तरिक्ष में बढने वाले ऋभु की उपमा दी गई है। पवित्र कर्म करने वाला और बलबुद्धि वाला होना यह साधारण धर्म के रूप में लिया गया है और–

"**ऋभुर्न कृत्व्यं मदम्।**"[११८]

यहाँ पर सोम, ऋभु के समान कर्मों का करने वाला कहा गया है।

२३. त्वष्टा-

इन्द्र के वज्र का निर्माण करने वाला, ब्रह्मणस्पति के कुल्हाड़े को चमकाने वाला (शान पर चढ़ाकर तेज करने वाला) त्वष्टा (देवताओं का शिल्पी विश्वकर्मा) बहुत ही कुशल कारीगर है।

सम्पूर्ण संसार का निर्माण करने से वह सचमुच सभी जनों का जनक है।

प्रायशः पूषा, सविता, धाता और प्रजापति आदि समान व्यापार वाले देवताओं के समान ही वेदों में त्वष्टा की स्थिति का वर्णन किया गया है। तो भी उन बहुतों में से एक इस वैदिक देवता का स्वरूप गूढ़ और अस्पष्ट है तथा अति प्रसिद्ध भी नहीं दिखाई पड़ता है।

'**अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तक्ष्या।**'[११९] इस मन्त्र में ऋषि कामना करता है कि अग्नि उस से उसी प्रकार युक्त हो, जिस प्रकार त्वष्टा रूपों से युक्त (उपस्थित) होता है। क्योंकि त्वष्टा ने ही सब पदार्थों को आकार दिया है। वह विविध वस्तुओं के निर्माण में कलाकार के कौशल का प्रदर्शन करता है:–

"**त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान् त्समैरयं रोदसी धारयं च।**"[१२०] यहाँ वरुण अपनी प्रशंसा करता हुआ कहता है कि उसने सर्वज्ञ त्वष्टा के समान इन दोनों लोकों

का निर्माण किया है। यहाँ 'दोनों लोकों का निर्माण करने' के साथ ही 'सर्वज्ञत्व' भी साधारण धर्म प्रतीत होता है।

२४. तिष्यः-

''कृशानुमस्तन् तिष्यं सधरथ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे।''[१२१] इत्यादि स्थलों में तिष्य बहुत से देवताओं में से कोई एक देवता होने के कारण यज्ञ में बुलाया जाता है। सायण के अनुसार तिष्य आदित्य ही है। वास्तव में अवेस्ता के तिस्त्र्य शब्द से अभिन्न यह शब्द आकाश के नक्षत्र का वाचक है:[१२२] **''न यो युच्छति तिष्यो यथा दिवः।''** ऋग् ५/५४/१३

इस मन्त्र में तिष्य 'रा' (दान) का उपमान है। अभिप्राय यह है कि आकाश के सामीप्य से जिस प्रकार तिष्य नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार मरुतों से दिया गया दान भी नष्ट नहीं होता है। विशेष :–'तिष्य' २७ नक्षत्रों में आठवाँ नक्षत्र है, इसे 'पुष्य' भी कहते हैं''[१२३]

(अ) इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक देवता साधारणतः एक–दूसरे के साथ परस्पर उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु ऐसी उपमाओं में वाचक पद प्रायशः चकार के अर्थ को प्रकट करता है। और दोनों देवताओं का देवत्व साधारण धर्म के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार निस्सन्देह यहाँ पर प्रयुक्त साधारण धर्म, मन में परमात्मा की कल्पना का आविष्कार करता है। यद्यपि वैदिक ऋषि इस कल्पना के प्रति शायद सावधान न रहा हो।

(आ) 'देवता' उपमान के समान सादृश्य (तुलना) की दूसरी विशिष्टता यह है कि वैदिक कवि भावात्मक देवताओं को उपमान रूप में स्वीकार नहीं करता है। उसने वैयक्तिक देवताओं को ही उपमान बनाया है। (यद्यपि वे प्राकृतिक शक्तियों के ही अनेक प्रकार के रूप हैं।)

(इ) वैदिक ऋषियों के लिए प्रकृति भी सजीव ही हुई है। ग्रीक देवताओं की अपेक्षा यहाँ मानवीकरण (एन्थ्रोपोमॉर्फिज्म) कम ही है। ग्रीक–देवशास्त्र में देव और मनुष्यों को परस्पर समीप लाया गया है। इसलिए होमरिक कवियों ने मनुष्यों के लिए भी देवताओं के देवत्व की उपमानता के लिए प्रयोग किए। किन्तु वेदों में तो अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि श्रेणी के देवता मनुष्य लोक के मित्र होने पर भी परस्पर ही एक–दूसरे के उपमानत्व को प्राप्त हुए हैं। प्रायशः देवता मनुष्यों के उपमानत्व से प्रयुक्त नहीं हुए हैं अर्थात् देवताओं को मनुष्यों की उपमा नहीं दी गई है।

(ई) फिर जहाँ देवताओं की क्रिया मनुष्यों के समान धर्मत्व को प्राप्त हुई है, वहाँ अधिक चमत्कार दिखलाई पड़ता है। इन स्थलों में ऋषि की प्राकृतिक दृष्टि की प्रधानता है। दूसरे स्थानों पर तो साधारण धर्म से यही प्रकट होता है कि ऋषि,

समान (समरूप) देवता की ही अनेक नामों से (वचनों से) और अनेक प्रकार के विशेषणों से स्तुति करता है।

(ख) पुराणेतिहास से सम्बद्ध उपमान

वैदिक और प्राग्वैदिक ऋषि, नेता और योद्धा आदि पुराण–पुरुष और इतिहासपुरुष वेदों में बहुत से स्थलों पर तात्कालिक ऋषियों के, याज्ञिकों के, नेताओं के और राजाओं के उपमानत्व से स्वीकार किये हुए दिखलाई पड़ते हैं। स्वभाव से इन पौराणिक और ऐतिहासिक पुरुषो के उपमानों का काव्य की दृष्टि से महत्त्व नगण्य ही हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे उपमानों का प्रयोग भी कम ही है। तो भी वेदों में काव्यशास्त्र की दृष्टि से निरसन्देह इनका महत्त्व है। क्योंकि यहाँ समासगा, तद्धितगा, वाक्यगा, साङ्गा और निरङ्गा इन अनेक प्रकार के रूपों वाली उपमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रायशः इन उपमाओं में वाचकत्व से 'यथा' 'तथा' और 'वत्' का प्रयोग दिखलाई पड़ता है। कहीं–कहीं समान उपमेय के लिये अनेक उपमानों की माला के रूप में योजना की गई है। ऋषि पूर्वऋषियों के समान अपने अनुग्रह–रक्षण आदि के लिए देवता से प्रार्थना करता है। यथा–"आङ्गिरस (अंगिरा का पुत्र) हिरण्यस्तूप ऋषि, अग्नि देवता से अपने भवन में उसी प्रकार पधारने की प्रार्थना करता है, जिस प्रकार मनु आदि भवन में देवयजन स्थान पर पधारते हैं।"[१२४]

"प्रस्कण्व ऋषि अपने द्वारा किये गये आह्वान को अग्नि से उसी प्रकार सुनना चाहता है, जैसे कि वह अपने प्रिय–मेधा, अत्रि, विरूप और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों के आह्वान को सुनता है।"[१२५]

"अत्रि के पुत्र 'कुमार ऋषि' ने अग्नि को कहा कि –हे अग्नि देव! अनेक प्रकार से बनाई गई यज्ञ की स्थूणा (यूप) से बँधे हुए शुनः शेप ऋषि को तुमने छुड़ाया था। इसी प्रकार हमारे बन्धनों को खोल दो।"[१२६]

"श्यावाश्व ऋषि ने कहा कि समुद्र के पार उतारनेवाले नाविक के समान वैददश्वि और पुरुमीळ्ह सैकड़ों गौवें और अनेक प्रकार का धन मुझे दें।"[१२७]

कण्व गोत्र में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा के अतिथि ऋषि ने अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हुए अश्विनी कुमारों से कहा–हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों ने जिस प्रकार से कण्व के प्रिय मेध (यज्ञ) में मृत्यु के लिए स्तुति किये गये अत्रि, अंशु–अगस्त्य और सोभरि नामक ऋषियों को बचाया था, उसी प्रकार हमारी भी रक्षा करो।"[१२८]

आत्रेय के सद्गुण से युक्त आर्ष प्रयोग में हम पढ़ते हैं–

"मनुष्वत् त्वा नि धीमहि मनुष्वत् समिधीमहि।
अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान् देवयते यज।।"[१२९]

अर्थात् हे अग्ने ! हम मनु के समान तुझको पुष्टीकरण हेतु धारण करते हैं। मनु के समान तुझे समिधाओं से प्रज्वलित करते हैं। हे अंगिरा, देवताओं से अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिए मनु के समान देवताओ का यजन (यज्ञ) कर। इसी प्रकार–ऋक् ५/४/६; ऋ० ५/२२/१; ऋ० ५/७२/१; ऋ० ५/५१/८; ऋ० ८/३६/७; ऋ० ८/३७/७; ऋ० ८/५२/८ और ऋ० २/३१/६ मन्त्रों में भी आत्मरक्षण और अनुग्रह–प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थनाएँ की गई हैं।

"वैदिक ऋषि राजा मनु को अनेक प्रकार से उपमान बनाते हैं। दिवोदास का पुत्र राजर्षि प्रतर्दन सोम देवता को उसी प्रकार समक्ष आने को नम्रतापूर्वक निवेदित करता है, जैसे कि वह पूर्वकाल में राजा मनु को धन आदि देने के लिए गया था।"[१३०]

भार्गव जमदग्नि ऋषि इडा देवता के प्रति कहता है–"**इळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।**"[१३१] अर्थात्–इडा मनु के समान ही चेतना प्रदान करती हुई (हमारे यज्ञ में आवे)।

सर्पजाति के इरावत का पुत्र जरत्कर्ण ऋषि कहता है:–

"**तदिद्ध्यस्य सवनं विवेरपो यथा पुरा मनवे गातुमश्रेत्।।**"[१३२]

अर्थात्–इस बादल के स्नान से युक्त हमारे सोमयाग नामक कर्म में विशेष रूप से सम्मिलित हों। जैसे पूर्वकाल में राजा मनु के लिए गाने के लिए आये थे उसी प्रकार आवें।

अन्य भी बहुत से ऋषि उपमानत्व से भलीभाँति प्रयुक्त हुए हैं। पौराणिक, पुरोहित, होता (यजमान, हवन करनेवाला) अथवा अङ्गिरा प्रमुखता में मनु का अनुसरण करते हैं। "अंगिरा के समान ही ऋषि देवता से अपने सूक्त को सुनने की इच्छा करता है।"[१३३] और अंगिरा के समान ही वह देवता का आह्वान करता है–

"**अङ्गिरस्वद्धवामहे।**"[१३४] अत्रि, अगस्त्य, उशिज और उशना भी देवताओं के लिए सूक्त और हवि–प्रेषण रूपी साधारण धर्मवश उपमानत्व से प्रयुक्त हुए हैं। कल्प (मनुष्यों का ४३२०००००० वर्ष का समय) के अन्त तक यश देने वाले प्रसन्नता देने वाले अग्नि अथर्वाग्नि को प्रज्वलित करने के समय बारम्बार याद किये जाते हैं। ऋषि अग्नि देवता से प्रार्थना करता है कि वह अपनी दिव्य ज्योति से सत्य का विनाश करते हुए अज्ञान को उसी प्रकार भस्म कर दे, जैसे कि 'अथर्वा' ने राक्षसों को भस्म कर दिया था–

"**अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमन्वितं न्योष।**"[१३५] 'दध्यङ्ङथर्वा' राक्षसों को मारने वाला है, यह ऋग्वेद में प्रसिद्ध है।

ऋषि नोधा (नौ प्रकार या नौ गुणा) और भृगु गण सुन्दर स्तुति करने वाले,

हवन करने वाले और पराक्रमशाली कर्म करने वाले हुए हैं। नोधा के समान सम्पूर्ण शोभन वस्तुओ को प्रकाशित करने वाली होने के कारण उषा देवी की स्तुति ऋषि द्वारा की जाती है और भृगुगण राक्षसों के यज्ञ के विध्वंसक हैं, ऐसा कहा गया है। उसी प्रकार कुक्कुराधम को मारने के लिए सोम देव की सविनय प्रार्थना की जाती है कि जिस प्रकार प्राचीन काल में मख नामक अधम को भृगुगणों ने मारा था :

''अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः।''[१३६]

भृगु गोत्री प्रयोग नामक ऋषि कहता है–

''और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदा हुवे।
अग्निं समुद्रवाससम्।''[१३७]

समुद्र में रहने वाले शुद्ध वाडवाग्नि को और्व भृगु ने जिस प्रकार अधिगृहीत किया, उसी प्रकार मैं आह्वान करता हूँ।

भृगुगण सुन्दर शिल्पी और लकडी का सुन्दर काम करने वाले भी प्रतीत होते हैं। कक्षीवान् की लडकी घोषा नाम की थी वह ब्रह्मवादिनी और ऋषि थी, वह इस अर्थ को अधिकता से धारण करती हुई कहती है कि हम (वह और साथ अध्ययन करने वाली उसकी सहेलियॉ) अश्विनी कुमारों के लिए उसी प्रकार सूक्तों की रचना करती है, जिस प्रकार भृगुगणों ने अपने रथ की रचना की–

''एतं वा स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो रथम्।''[१३८]

कण्व के पुत्र ने कहा–**''अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्।''**[१३९]

अर्थात् मैं अपने पिता कण्व की भॉति नित्य मनन साधन द्वारा इन्द्रविषयक स्तोत्र से वाणी को अलङ्कृत करता हूॅ।

गृत्समद ने कहा–''हे अग्नि ! तुझसे प्रेरित होकर हम मनु के समान ही स्तोत्र बोलते हैं।''[१४०] और फिर स्तुति करने वालों को भी लक्ष्य करके कहता है–

''तदस्मै नव्यमाङ्गरस्वदर्चत।''[१४१]

अर्थात् जो पहले किसी से न देखे गये ऐसे नवीनतम स्तोत्र अङ्गिरा के सदृश इन्द्र के लिए बोलो।

इन उपमाओं में उपमेय उषा और सोम आदि देवताओं के तात्कालिक ऋषियों के उपमानत्व के साथ ही पूर्व के ऋषि, और पौराणिक व्यक्ति भी उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन्द्र तो अंगिरा ऋषि की सन्तानों में श्रेष्ठत्व से प्रसिद्ध है।

प्रायशः उपमान के रूप मे प्रयुक्त होने वाले मनु के विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि इस नाम का कोई प्राचीन ऋषि वाञ्छनीय है,

अथवा 'मन्' इस धातु से संज्ञान (जानकारी) मात्र ही वाञ्छनीय (अभिलषित) है। कितने ही स्थानों पर तो 'मनु' यह विशिष्ट नाम ही प्रतीत होता है।

जो हो, सो हो ! तो भी यहाँ पुराण और इतिहास के नेताओं का एक विशिष्ट वर्ग ही उपमानत्व से विद्यमान है। यूनान साहित्य में भी देवता एच्छिल (Achil) सदृश वीरों के साथ सादृश्य को प्राप्त हुए हैं। यद्यपि वहाँ इस जाति की विशेषताएँ बहुत ही कम हैं। पाश्चात्य त्रासदी (ट्रेजडी) लेखकों ने भी पौराणिक और ऐतिहासिक पुरुषो को उपमान बनाया है, किन्तु उनके द्वारा बनाये गये चित्र अतिरंजित और अस्वाभाविक हैं, ऐसा स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वेद का ऋषि अपने आप को पूर्ववर्ती ऋषियों की उपमा देता है। अनेक प्रकार से प्रस्तुत करने से ये उपमाएँ साधारण होती हुई भी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

इन जातीय उपमाओं में साधारणधर्मत्व से प्रायशः दो विषय होते है–

(१) अमुक देवता ने जिस प्रकार अमुक पूर्व पुरुष को अनुगृहीत किया, उसी प्रकार वह हमें भी अनुगृहीत करे। जिस प्रकार उसने पूर्व ऋषियों के आह्वान को सुना, उसी प्रकार वह हमारे आह्वान को भी सुने। जिस प्रकार उसने उन्हें धन आदि प्रदान किया, उसी प्रकार हमें भी वह धन दे। जिस प्रकार उसने अमुक–अमुक पूर्व पुरुषों को जालों से छुडाया, उसी प्रकार वह हमें भी बन्धन–मुक्त करावे।

इसी प्रकार और भी उनके द्वारा किये गये उदारतापूर्ण कार्य आदि।

(२) जिस प्रकार पूर्व ऋषियों ने नये–नये अलङ्कृत सूक्त प्रयुक्त किये हैं, उसी प्रकार हम भी करें।

(ग) मानव जीवन से लिये गये उपमान-

इस विषय से सम्बन्धित अतिविस्तृत अनुभूत वस्तुओं को ठीक प्रकार से आलोचना करने के लिए इस क्षेत्र के निम्नलिखित उपविभाग किये जा सकते हैं:–

(१) जीवन की अनेक प्रकार की अवस्थाओं में वर्तमान मानव का उपमान रूप में लेना– इस प्रकार के या इस समूह किंवा वर्ग के उपमान वैदिक आर्यों के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जीवन को चित्रित करते हैं।

(२) मानव शरीर के अनेक अंगों का उपमान रूप में प्रयोग।

(३) **सामान्य मानव**– इस वर्ग की उपमाओं में सामान्य पुरुष या स्त्री को उपमान स्वरूप ग्रहण किया जाता है। ऋग्वेद में जन, नर, मनुष्य, स्त्री और योषा आदि पद अनेक देवताओं के उपमान के रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह वर्ग स्वाभाविक रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है:–

(अ) नर का उपमानत्व, और

(ब) नारी का उपमानत्व

(४) मानवों के पारस्परिक सम्बन्धों से सम्बद्ध उपमान।

(५) सामाजिक वर्गों का उपमानत्व से लिया जाना :–

वैदिक समाज ठीक प्रकार से विकसित समाज हुआ है और वह अनेक वर्गों में सुव्यवस्थित रूप से बँटा हुआ था। किन्तु वहाँ कठोर जाति–प्रथा नहीं थी। इस प्रकार के इस वर्ग के चित्र वैदिक समाज के स्पष्ट दर्शन कराते हैं।

(६) घर की वस्तुओं का उपमानत्व से प्रयोग।

(७) अनेक प्रकार के यन्त्रों, पात्रों और अस्त्र–शस्त्रों का उपमानत्व।

(८) मनोविनोद और क्रीडा–केलियों का उपमानत्व।

इन वर्गों से जुड़ा हुआ जो चित्र उपस्थित होता है, वह वैदिक आर्यो की सभ्यता को और सांस्कृतिक इतिहास को यथावत् उपस्थित करता है। प्रत्येक वर्ग अपनी–अपनी विशेषता को धारण करता हुआ उपमा के आरम्भ और विकास को प्रदर्शित करता है। प्रायशः ये उपमाएँ सरल और आडम्बर से रहित हैं। उनमें उपमा के चारों तत्त्व विद्यमान हैं। ये उपमाएँ वैदिक कवि की अनुभूति, अभिव्यक्ति के और उसके उपमा–चयन करने की दक्षता के सुन्दर दृश्य हैं। ये चित्र अधिक चमत्कारी न होते हुये भी अपनी सरलता के कारण मनोहर हैं। इस समय हम उपर्युक्त वर्गों में उल्लिखित चित्रों को क्रमशः देख सकते हैं–

१. उपमान रूप में प्रयुक्त मनुष्य की अवस्थाएँ-

इस शीर्षक के अन्तर्गत चित्रों के विचार के सिलसिले में हम वैदिक मनुष्य को जन्म के पश्चात् पालकी में सवार होने से लेकर चिता–आरोहण तक समझ सकते हैं। निःसन्देह यहाँ उपमा परिभाषा की दृष्टि से परिपूर्ण है। यद्यपि उनमें अत्यधिक सौन्दर्य नहीं है। तो भी वे उपमाएँ बहुत पुराने जमाने के मानव के वृत्तान्त को सुस्पष्ट रूप से व्यक्त करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ उपमाएँ तो बहुत ही सुन्दर और विशेष रूप से कटीली और छबीली हैं। जैसे कि–शिशु को उपमान रूप में धारण करते हुए चित्र निश्चय ही अतिशय कलात्मक हैं। एवं यौवन के चित्रण भी अत्यधिक चित्ताकर्षक हैं।

गर्भः-

जिस प्रकार गर्भ गर्भिणी स्त्रियों में ठीक प्रकार से अन्तर्हित (अन्दर रखा हुआ) होता है, उसी प्रकार सभी विषयों का ज्ञाता यह अग्नि अरणि (शमी की लकड़ी का

टुकड़ा) में अन्तर्हित हैः–

''अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु।''[१४२]

''आकाश और पृथ्वी इन्द्र की इच्छा से उसी प्रकार सोम को अन्दर धारण करते हैं, जैसे माता गर्भ को धारण करती है।''[१४३]

''मरुत् फैलायी हुई पृथ्वी में जल को उसी प्रकार स्थापित करते हैं, जिस प्रकार पति पत्नी में गर्भ को स्थापित करता है।''[१४४]

''जिस प्रकार पिता अपनी विवाहिता स्त्री की कोख से अभी पैदा हुये पुत्र का आलिंगन और स्पर्श आदि से अनुराग करता है, उसी प्रकार स्तोत्र से अनुराग करने की प्रार्थना अग्नि से की जाती है।''[१४५]

शिशुः-

दो अरणियों ने अग्नि को नूतन सन्तति के समान जन्म दियाः–

''शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी।''[१४६]

'''नवम्' यह विशेषण ऋग्वेद में प्रायशः अग्नि को निर्दिष्ट करता है, किन्तु इससे शिशु का भी द्योतन होता है।''[१४७]

''कल–कल छल–छल करती हुई नदियाँ समुद्र की ओर उसी प्रकार दौड़ती हैं, जिस प्रकार माताएँ शिशु की ओर जाती हैं।''[१४८]

''पृथ्वी माता शिशु के समान पोषण करती हुई अग्नि को धारण करती है।''[१४९]

''मरुत् शिशुओं के समान सुन्दर हैं।''[१५०] ''सोम शिशु के समान खिलाड़ी है।''[१५१]

''मरुत् भी शिशुओं के समान खेल–प्रेमी हैं।''[१५२] ''ऋषिगण सोम को यज्ञों से, हविष्यों से, मिले हुये पदार्थों से और स्तुतियों से रुचिकर बनाते हैं, जिस प्रकार मनुष्य शिशु को अलंकारों से और दूध आदि से शोभित और पुष्ट करते हैं।''[१५३] ''जिस प्रकार बढ़े हुए दूध वाली माताएँ शिशु को बड़ा बनाती है, उसी प्रकार हमारी स्तुति रूपी वाणियाँ सोम को सवंर्धित करें।''[१५४]

''वह सोम उत्पन्न हुये शिशु के समान नीचे की ओर देखने वाले को वन में पुकारता है।''[१५५]

इच्छा करने वाला पुत्र जिस प्रकार माताओं द्वारा पयः पान से धारण किया जाता है, उसी प्रकार देवताओं को कामासक्त करने वाला अभीष्ट पदार्थों की वर्षा करने वाला और अनेक देवताओं से वरण करने योग्य सोम भोज्य पदार्थों से मातृरूपा श्रेष्ठ रात्रियों से ठीक प्रकार से धारण किया जाता हैः–**''सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः।''**[१५६]

यहाँ उपमा में 'मातृ' शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है जो 'अद्भिः' इस उपमेय पद से अनुगत है।

हमें पानी से तृप्त करती हुई नदी वैसे आवे जैसे शिशु को दूध पिलाती हुई पीन पयोधर वाली स्त्री आती हैः—**''शिशुं न पिप्युषीव वेति सिन्धुः।''**[१५७]

यहाँ पर उपमान मातृरूपानदी के स्नेह—वात्सल्य की कोमल भावना को निःसन्देह प्रकट करता है।

ये सभी उपमाएँ शैशव की महिमा की घोषणा करने से अत्यधिक रमणीय और आकर्षक हैं एवं किसी विशेषार्थ की संकेतक होने से अर्थात् तकनीकी दृष्टि से और कलात्मकता से ये सर्वथा परिपूर्ण हैं।

युवा और युवतीः-

"जिस प्रकार युवा पुरुष कन्याओं का आह्वान करता है, उसी प्रकार अश्विनी कुमारों से सूक्तों के सेवन करने की प्रार्थना की जाती हैः—

''स्तोमं जुषेथां युवशेव कन्यनाम्।''[१५८]

यहाँ उपमान में होने वाले द्विवचन उपमेय में होने वाले द्विवचन का अनुगामी है।

मनुष्य जिस प्रकार युवतियों के साहचर्य से युक्त प्रसन्न होता है, उसी प्रकार यह सोम भी सैंकड़ों प्रकार से छवि धारण करता हुआ युवती, मिश्रणशील सुन्दरी भोग्य रात्रियों के साथ सोमरस पान के समय हर्ष को प्राप्त होता हैः—

''मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा।''[१५९] तथा—''सोम रात्रियों के साथ उसी प्रकार प्रमुदित और हर्षित होता है, जिस प्रकार कमनीय कामिनियों के साथ मनुष्य मुदित होता है।''[१६०]

वर और वधूः-

"इन्द्र देव से सूक्त का उसी प्रकार सेवन करने की प्रार्थना की जाती है जिस प्रकार स्त्री की इच्छा करने वाला वर वरणीय युवती का सेवन करता है।''[१६१]

"जिस प्रकार धनवान् वर इच्छानुसार स्वर्ण के विशिष्ट आभूषणों से अपने शरीर के अवयवों को सजाते हैं, उसी प्रकार ये मरुद्गण भी विद्युत् नामक स्वर्णिम आभूषणों से अपने शरीरों को अलंकृत करते हैं।''[१६२]

"जिस प्रकार वर, इस विश्वास के साथ कि—'यह मेरी होगी, यह मेरी होगी' कन्या का सेवन करते हैं, इसी प्रकार देवता भी 'यह सोम मेरा है, यह सोम मेरा है; इस आस्था के साथ उसके पास विद्यमान हैं।''[१६३]

'पीहर में रहने वाली (पितृमती) आभूषणों से युक्त कन्या जिस प्रकार वर की

ओर जाती है, उसी प्रकार सोम भी उज्ज्वल–निर्मल होकर वायु की ओर जाते हैः–

''परिष्कृतास इन्दवो योषेव पित्र्यावती। वायुं सोमा असृक्षत।''[१६४]

विधवा-

''तिरछी चितवन वाली घोषा अश्विनी कुमारों से पूछती है–हमें सेवा करने अथवा इधर–उधर जाने के लिए कौन अपनी ओर उस प्रकार आकर्षित करता है? जैसे कि विधवा देवर को अपनी ओर आकृष्ट करती है।''[१६५]

वृद्ध-

जिस प्रकार बूढे पिता अपने ज़वान (युवा) पुत्रों को असुरों का वध करने की प्रेरणा देते हैं, उसी प्रकार देवताओं ने इन्द्र को असुरों का वध करने के लिए प्रेरित किया।''[१६६]

कण्व के पुत्र त्रिशोक ने इन्द्र के प्रति कहा–''जिस प्रकार क्षीण वृद्ध पुरुष दण्ड (डंडा) का सहारा लेते हैं, उसी प्रकार हम आपका आश्रय लेकर सोत्साह होते हैं।''[१६७]

इस प्रकार निःसन्देह ये उपमाएँ उपमान, उपमेय, वाचक शब्द और समान्यवाची पद से युक्त हैं एवं पारिभाषिकता से परिपूर्ण, मनोहर भावनाओ से भरी हुई, अपने सौष्ठव से तथा कल्पना की महिमा से सहसा हमारे मन में पैठ जाती हैं। ये उपमाएँ वेद में साहित्य शास्त्र के आरम्भ को भी भली–भाँति स्पष्ट करती है।

२-उपमान रूप से प्रयुक्त मानव के अंग-

लौकिक संस्कृतसाहित्य का पाठक शरीर के अंगों का उपमानत्व सुनकर आश्चर्य–चकित होगा क्योंकि वहाँ तो उपमेयत्व से स्वीकार किये गये शरीर के अंगों के विविध उपमानों की कल्पना की जाती है, जैसे कि–लता के समान सुकुमार, पतला शरीर, कमल के समान मुख, नीरज के समान नुकीले नयन आदि। ये विविध अंगों के प्रसिद्ध उपमान हुए हैं। किन्तु इसके विपरीत ऋग्वेद में मानव–शरीर के अंग, अनेक प्रकार के उपमेयों के उपमान रूप में दिखलाई पड़ते हैं, जैसे कि

अक्षि (आँखें)-

ऋषि श्यावाश्व मरुद्‌गणों को सम्बोधित करके कहता है–''जैसे चलते हुए मनुष्य को आँखें सही मार्ग पर ले जाती है, वैसे ही हमको सीधे मार्ग पर ले जाओ।''[१६८]

मित्र और वरुण आँखों से भी बढ़कर अतिशय मार्ग के जानने वाले हैंः–

''अक्षणश्चिद् गातुवित्तरा''[१६९]

यहाँ आभ्यन्तर, मध्य या भीतरी भाग में अतिशयोक्ति है जिसमें ऐसी

(अतिशयोक्तिगर्भा) उपमा है। "देवताओ के सयत मन अग्निदेव की ओर उसी प्रकार सचरण करते हैं, जिस प्रकार सभी प्राणियो की ऑखे सूर्य की ओर गमन करती हैं।"[७०]

"हे अश्विनी कुमारो ! जिस प्रकार दर्शन शक्ति से युक्त नेत्र लक्ष्य की ओर देखते है, उसी प्रकार तुम दोनों भी हमारी तरफ शुभ दृष्टि–युक्त आँखो से देखो।"[७१]

सूर्य का नेत्रपन से स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान बहुत ही प्रसिद्ध है, जैसे कि–"**सूर्यो न चक्षू रजसो विसर्जने।**"[७२]

कर्ण-

अश्विनी कुमारों से कानों के समान शुभ श्रवण की क्रिया वाले होने की प्रार्थना की जाती है–"**कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे।**"[७३]

तथा–हे अश्विनी कुमारो ! जैसे कान कहे हुए शब्द को जान लेते हैं, वैसे ही तुम दोनों भी स्तुति करने वाले भक्त को निःसन्देह अनुकूल जानो–"**कर्णेव शासुरनु हि स्मराथः।**"[७४]

विशेष–यहाँ वेङ्कटमाधव, ग्रासमैन और गेल्डनर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने 'शासुः' इस सकारान्त नपुंसक पद को शासनार्थ में ग्रहण किया है, किन्तु सायणाचार्य और स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि विद्वानों ने इसे प्रातिपदिक का षष्ठ्यन्त पद माना है। यहॉ पर '**अधीगर्थदयेषां कर्मणि**' पाणिनीय अष्टाध्यायी के २/३/५२ सूत्र के अनुसार कर्म में षष्ठी ही होनी चाहिए।

ओष्ठ-

मधु के आस्वादन एवं परीक्षण रूपी साधारण धर्म से अश्विनी कुमारो को ओष्ठों की उपमा दी जाती है, यथा–

"**ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता।**"[७५]

अर्थात्–मुख के उस भाग के लिए जिससे वर्णोच्चारण में काम लिया जाता है, मधुर रसीले वचन बोलने वाले होठों के समान हे अश्विनी कुमारो !

जिह्वा :-

जिस प्रकार दाँतो के द्वारा क्रमशः प्रेषित खाद्य पदार्थ को जिह्वा खा लेती है, उसी प्रकार बृहस्पति ने पर्वत पर चारों ओर से व्याप्त और अपावन पापी मनुष्यों से घिरे 'बल' नामक राक्षस को मार डालाः–

"**दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमादत्।**"[७६]

अगस्त्य ऋषि मरुतों से पूछता है–"हे मरुतो, ठोडी जिस प्रकार जिह्वा से चालित होती है उसी प्रकार निःसन्देह तुम्हारे अन्दर स्थित होकर तुम्हें कौन प्रेरित

करता है।"[१७७]

हस्त-

"इन्द्र ने हाथ के समान चाप से बल राक्षस को काट डाला।"[१७८]

"अश्विनीकुमार हाथो की तरह शरीर के लिए सुख के अत्यन्त उत्पादक हैं।"[१७९]

ऋषि अश्विनीकुमारों से प्रार्थना करता है:– हे अश्विनीकुमारो ! दोनों हाथो के समान सामर्थ्य हमारे सम्मुख होकर ठीक प्रकार से हमें प्रदान करो।"[१८०]

भुजा:-

"जिस प्रकार रक्षा करने वाले माता और पिता के हाथों की छाँह में (छत्र–छाया में) पुत्र सब ओर से उपभोग करता है, उसी प्रकार देवताओ का बन्धु माना जाने वाला पवित्र सोम आच्छादन करने वाले देव की छत्र–छाया में सब ओर से उपभोग करता है।"[१८१]

"अपने दोनों हाथ जिस प्रकार वाञ्छित धन लाकर आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार वरुण आदि देवता यजमान को धन से परिपूर्ण करते हैं।"[१८२]

स्तन:-

गृत्समद ने कहा–"हे अश्विनीकुमारो ! स्तनों के समान हमारे जीवन को तृप्त और समृद्ध करो।"[१८३]

कुक्षी :-

"आकाश और पृथ्वी इन्द्र की कोख के समान हैं।"[१८४]

जंघा:-

"दोनों अधिषवण पटल (सोमरस खींचने की चिपटी सतह) दो कूल्हों (पुट्ठों) के समान हैं।"[१८५]

पाद:-

"दोनों अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की जाती है कि वे चरणों के समान धन की ओर ले जावें।"[१८६]

"तैरते हुए पुरुष के पाद (चरण) जिस प्रकार जल को फैलाते हैं, उसी प्रकार अश्विनीकुमार तरणीय पानी में गोता लगाना जानते हैं अथवा घाट को जानते हैं।"[१८७]

यज्ञ करते हुए जनों को आत्रेय ऋषि ने कहा–"वरुण, मित्र और अर्यमा ये सब सर्ववित्, जिस प्रकार पादों का आश्रय लेकर सुख से स्थित होते है, उसी प्रकार व्रतों का आश्रय लेकर वे मनुष्य ठीक प्रकार से स्थित होते हैं।"[१८८]

नासिकाः-

गृत्समद कहता है–"हे अश्विनीकुमारो ! नाक के समान आप हमारे जीवन के रक्षक बनो।"[१५९]

योनि :-

सप्तवध्रि नामक आत्रेय ऋषि को चचेरे भाइयों ने वनस्पति से बनाई गई पेटी मे बॉध लिया, तदनन्तर वह मुक्ति की कामना करता हुआ कहता है कि–

"वि जिहीष्व वनस्पते योनिः सूष्यन्त्या इव।"[१६०]

अर्थात्–हे वनस्पति से बनाई गई पेटिके ! तू उसी प्रकार विस्तृत हो जा (खुल जा) जिस प्रकार प्रसवोन्मुखी स्त्री की योनि प्रशस्त हो जाती है।

विशेष–यह कथा, वृहद्देवता (५/८२–८६) को आधार बनाकर इस मन्त्र से सम्बद्ध की जाती है।

मज्जा-

वृहस्पति ने जिस प्रकार हड्डी से मज्जा को बड़ी मुश्किल से बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार गो रूपी शरीर वाले पशुओं से घिरे हुए 'बल' राक्षस के पर्वत से गायों को शक्ति से बाहर निकाला। यथा–

"बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार।"[१६१]

यह उपमा 'वल' के बन्धन से अन्तिम गाय को भी निकाल लिया, इस व्यापार की सम्पूर्णता को व्यक्त करती है। पशु की हड्डियों के जोड़ों (सन्धिस्थलों) में लगी हुई मज्जा (वसा) प्रायः हिंसक जीव–जन्तु के द्वारा उपेक्षित होती है, किन्तु यदि वह अत्यधिक भूखा है तब तो उसके द्वारा वह (मज्जा) भी नहीं छोडी जाती है।

स्वेदः-

युवनाश्व का पुत्र मान्धाता कहता है–"इन्द्र के चमकीले अस्त्र रिपु पर उसी प्रकार सभी ओर से नानामुखी होकर गिरे, जिस प्रकार शरीर से चारों ओर से स्वेद–बिन्दु गिरते हैं।"[१६२]

मन :-

तीव्रत्व धर्म के कारण मन उपमानत्व को प्राप्त होता है। प्रायशः 'मनोजुव' (विचार की भॉति आशुगामी) इस समस्त (समासयुक्त) शब्द से सादृश्य की अभिव्यंजना से ये उपमाएँ 'समासगा' हैं।

मेधावी विप्र रक्षा के लिए मन के समान वेगवान् इन्द्र और वायु का आह्वान करते हैं– **"इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये।"**[१६३]

"हे अश्विनीकुमारो ! तुम दोनों ने जल में डूबे हुए, आह्वान करने वाले भुज्यु को जल से निकालकर मन के समान वेगवान् शोभन ऐश्वर्ययुक्त रथ के द्वारा पिता के घर पहुँचाया।"[१९४]

इसी प्रकार ऋग्वेद की १/११६/१ ऋचा मे अश्विनीकुमारो के रथ को मन के समान वेगवान् प्रतिपादित किया गया है। एवं ऋग्वेद के १/१८६/५ वें मन्त्र में बादल मन के सनान वेगवान् कहे गये है। ऋग्वेद के १०/८१/७ वें मन्त्र में वाचस्पति भी मनोवेग के समान गमन करने वाला कहा गया है। आह्वानों पर अश्विनीकुमार भी मन के समान तेज दौड़ते हैं–

"मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता।"[१९५]

यहाँ 'तिग्मम्' यह क्रियाविशेषण अथवा उपमान विशेषण है। 'द्रवन्ता' यह साधारण धर्म है।

३. (अ) नर-सामान्य का उपमानत्व :-

"जिस प्रकार मनुष्य युवती की ओर जाता है, उसी प्रकार सोम अपने सांसारिक जीवन में दीक्षित (विवाहित) स्थान की ओर जाता है।"[१९६]

"जिस प्रकार मनुष्य नगर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार यह सोम सोमरस खींचने की चिपटी सतहों के ऊपर स्थित कलश में प्रवेश करता है।"[१९७]

"दो बडे पत्थर उस प्रकार सोम नामक पौधे के रस को परिमार्जित करते हैं जिस प्रकार मनुष्य हवनीय द्रव्य को शुद्ध करते हैं।"[१९८]

"इन्द्र मनुष्य के समान पाप से उत्पन्न होने वाले वृत्रासुर के साथ युद्ध में थक जाता है और डरता है।"[१९९]

"जिस प्रकार कोई मनुष्य ऊँचे स्थान से जल–युक्त कूप आदि प्रदेशों को देखकर उन्हें ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह इन्द्र भी अपने स्तुतिकर्ताओं को देखकर अनायास उन्हीं की ओर जाता है, अर्थात् उन्हें प्राप्त कर उनसे युक्त होता है।"[२००]

"मनुष्य सेवा के लिए जिस प्रकार अपने स्वामी को विशेष रूप से प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार इन्द्र के वहुत से स्तुतिकर्ताओं को मन–वाञ्छित दान विशिष्टता से प्राप्त होते हैं।"[२०१]

"हे इन्द्र! जिस प्रकार आहार का प्रतिनिधित्व करने वाले ब्रह्म की इच्छा करता हुआ मनुष्य शरीर को सम्पादित करता है, उसी प्रकार हम तुम्हारे लिए सोमलक्षण–युक्त अन्न को उत्कृष्टता के साथ सम्पादित करते हैं।"[२०२]

"हे बलवान् इन्द्र! गमन को चाहते हुये मनुष्य जिस प्रकार मार्गों को बनाते

हैं, उसी प्रकार गृत्समद ने अध्ययन और मनन करने योग्य स्तोत्र तुम्हारे लिए ही बनाये।"[२०३]

"वृत्रासुर के भय से अप्* समूह ने उससे दूर ही रहकर उस प्रकार अपने नेता इन्द्र का वरण किया, जिस प्रकार प्रजाजन राजा का वरण करते हैं।"[२०४]

"जिस प्रकार ऊँचे कद के दो लम्बे पुरुष गहरे पानी में दृढता को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् ठहर जाते हैं, उसी प्रकार अश्विनीकुमार मुश्किल से प्रवेश करने योग्य स्थानों में भी निवास स्थान पा लेते हैं।"[२०५]

शुनःशेप ने वरुण के प्रति कहा—"हे वरुण! हम ऋषि लोग भी कभी—कभी प्रमाद के कारण साधारण मनुष्यों के समान व्रतों को तोड देते हैं।"[२०६]

"शकट (सैनिक व्यूह विशेष)* वाले पज्र भी सामान्य प्रजा के समान यश की कामना करने वाले दिखाई पड़ते हैं।"[२०७]

गृत्समद कहता है—"जिस प्रकार सूर्य की किरणों से संतप्त हुआ मनुष्य छाँह में बैठता है और सुख प्राप्त करता है, उसी प्रकार मैं रुद्र की पूजा करूँ और पापरहित होता हुआ सुख प्राप्त करुँ।"[२०८]

"इन्द्र के प्रति उसने कहा—जिस प्रकार आहार का प्रतिनिधित्व करने वाले ब्रह्म की इच्छा करता हुआ मनुष्य शरीर का सम्पादन करता है, उसी प्रकार हे इन्द्र! तुम्हारे लिए हम सोम लक्षण वाले अन्न को उत्कृष्टता से सम्पादित करते हैं।"[२०९]

"जिस प्रकार सुन्दर घोडे वाला कोई पुरुष कठिनता से पार करने योग्य मार्गों को शीघ्र पार कर लेता है, उसी प्रकार मैं भी उन जालों से मुक्त हो जाऊँ।"[२१०]

"जिस प्रकार पतिजन पत्नियों के नितान्त सहवर्ती होते हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र! हम लोग तुम्हारे से सम्बन्धित सुन्दर स्तोत्रों से भली भाँति तुम्हारे नितान्त सहवर्ती हो जावें।"[२११]

(आ) नारी का उपमानत्व-

"सोम स्त्रियों के समान सुन्दर है।"[२१२]

"वे सज कर निःसन्देह स्त्री के समान अलङ्कृत हुये हैं।"[२१३]

"जैसे कोई स्त्री अपने प्रिय उपपति की स्तुति करती है, उसी प्रकार शब्द सोम की प्रशंसा करते हैं।"[२१४]

"चन्द्रमा की प्रभा स्त्री के समान सुन्दर दूध देने वाली है।"[२१५] अर्थात् जिस प्रकार स्त्री अपने पुत्रों को दूध देती है, उसी प्रकार सोम की दीप्ति यजमानों को धन आदि की देने वाली है।

"अश्विनी कुमार नारियों के समान शरीर से शोभायमान हैं।"[२१६]

"आकाश और पृथ्वी स्त्रियों के समान महान् हैं।"[२१७]

"जिस प्रकार दूर देश से समान मार्ग पर जाती हुई कर्मशील नारियाँ बारी–बारी से गीत गाती हैं, उसी प्रकार उषा सब ओर से नभ प्रदेश की अर्चना करती है।"[२१८]

"गृहकार्य की नेता स्त्री के समान उषा देवी उत्कृष्टता के साथ सबका पालन करती हुई प्रतिदिन आती हैं।"[२१९]

"जिस प्रकार संसार में प्रियतम में अनुरागवती कोई प्रबुद्ध स्त्री अपने पति को किसी भी अवस्था (सुख–दुःखावस्था) में नहीं छोड़ती है, उसी प्रकार यह उषा पूर्व आदि दिशाओं को नहीं छोड़ती है।"[२२०]

"महोत्सव की भीड़ में जाती हुई स्त्रियाँ जिस प्रकार स्वयं को सुसज्जित करती हैं, उसी प्रकार उषा सूर्य की किरणों से अपने आपको सजाती है।"[२२१]

"जिस प्रकार नारियाँ सम्मिलित होकर महोत्सव की ओर जाती है, उसी प्रकार वायु के आधार मिलकर अभीष्ट की ओर जाते हैं।"[२२२]

"जिस प्रकार परित्यक्ता (छोड़ी हुई) स्त्री सन्तान की प्राप्ति होने पर स्तनपान कराती हुई फिर भी प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, उसी प्रकार मुद्गलानी अपने पति पर स्वामित्व प्राप्त कर लेती हैं।"[२२३]

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई बाँझ स्त्री सन्तान प्राप्ति होने पर फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार मुद्गलानी ने भी प्रतिष्ठा प्राप्त की।

"अत्रि याचना करती हुई स्त्री के समान करुणापूर्ण स्वर से अश्विनी कुमारों का स्तवन करता है।"[२२४]

भाव यह है कि वह स्त्री ज़िस प्रकार अपने पति को प्रसन्न करती है, उसी के समान अत्रि अश्विनीकुमारों को प्रसन्न करता है।

"पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाली स्त्रियाँ जिस प्रकार सहवास के समय जंघाओं को विस्तारित कर लेती हैं, उन्हीं के सदृश अश्वारोही नर जंघा–प्रदेशों को विस्तृत कर लेते हैं।"[२२५]

"शुभ वर्णवाली उषा निःसन्देह स्त्री के समान अंगों को विशेष रूप से ज्ञापित करती हुई हमारे सामने आती है।"[२२६]

"ऋषि हवनीय द्रव्य के उपहार के साथ मरुत्संघ के पास जाने का उसी प्रकार परामर्श देता है, जिस प्रकार सौभाग्यवती कल्याणी उपहारों के साथ अपने प्रियमित्र के दर्शनार्थ गमन करती हैं।"[२२७]

यहाँ निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि प्रायशः जिन कार्यों में अथवा रूपों

में नारी का सौन्दर्य या लुभावनापन दिखलाई पड़ता है, मुख्य रूप से वही भाव उपमानधर्मत्व से स्वीकार किये गये हैं।

४. मानवों के पारस्परिक सम्बन्ध से सम्बद्ध उपमान-

वैदिक आर्यो का पारिवारिक जीवन अत्यन्त उन्नत और विविधता से परिपूर्ण रहा है। अधोलिखित उपमाओं से इसका सही अनुमान लगाया जा सकता है–

१. पिता-

वैदिक कुटुन्च पितृमूलक हुये हैं, इसलिए पिता अति सम्माननीय माना गया और वेदों में वह अत्यधिक उपमानत्व के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस वर्ग की उपमाएँ अधिकतर भावप्रवण अर्थात् भव्य भावों से भरी हुई हैं।

इन उपमाओं से प्रकट होता है कि वेदों में चित्रित समाज में पिता का कैसा ऊँचा स्थान होता था। उसी प्रकार ये उपमाएँ ज्येष्ठ और कनिष्ठ (बड़े–छोटे) पुरुषों का पारस्परिक प्रगाढ सम्बन्ध भी चित्रित करती हैं। शिशु का अपने स्नेह–प्रेरित पिता के पास निःशंक होकर जाना वहाँ बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त किया गया है। वहाँ अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि वह हमें उसी प्रकार सुलभ हो जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को सुगमता से प्राप्य होता है–

''स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।''[२२८]

ऋषि मरुद्गणों से अनुरोध पूर्वक प्रश्न करता है कि जिस प्रकार पिता पुत्र को अपने हाथों में उठा लेता है उसी प्रकार तुम हमें अपने हाथों में कब धारण करोगे?''[२२९]

''इन्द्र देवता से प्रार्थना की जाती है कि वह उसी प्रकार हमारी प्रार्थना सुने कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों की प्रार्थना सुनता है।''[२३०]

''जिस प्रकार माता–पिता गोद में बैठे हुये अपने पुत्र को स्नेहपूर्वक पालते–पोसते और सुरक्षित रखते हैं, उसी प्रकार आकाश और पृथिवी हमें भय के कारण पाप से बचाये (रक्षा करे)।''[२३१]

आकाश और पृथ्वी को पिता और माता के समान मानने की कल्पना सर्वथा वैदिक प्रतीत होती है। होमर आदि ने अपने काव्यों में कहीं भी यह उद्भावना (परिकल्पना) नहीं की है। यद्यपि होमर आदि के द्वारा प्रयुक्त जुपिटर पद की तुलना 'द्यौस्पितर' से की जा सकती है।

''जिस प्रकार पिता अभिलषित पुत्र की रक्षा करता है उसी प्रकार इन्द्र हमारी रक्षा करे।''[२३२]

''जिस प्रकार पिता अन्नदान से पुत्र के बल को बढ़ाता है, उसी प्रकार इन्द्र

वृष्टि के द्वारा सारे संसार के बल को बढाता है।"[२३३]

"जिस प्रकार पिता पुत्र का सब प्रकार से पालन करता है और सुख देता है, उसी प्रकार इन्द्र शत्रु आदि का वध कर हमारा पालन करे और हमें सुख दे।"[२३४]

"जिस प्रकार माता–पिता पुत्र को सब कुछ प्रदान करते हैं, उसी प्रकार अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की जाती है कि वे भक्त जनों को दान दें।"[२३५]

"पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दसनाभिः।"[२३६]

यहाँ पर हम एक नया ही भाव पाते हैं। क्योंकि यहॉ अश्विनी कुमारों ने माता–पिता के समान पुत्ररूपी इन्द्र की अपने प्रशस्य कर्म से रक्षा की। देवताओं के वैद्य होने से अश्विनी कुमारों का रक्षकत्व सिद्ध होता है।

"जिस प्रकार पुत्रों को माता–पिता सरलता से प्राप्य होते है, उसी प्रकार अश्विनीकुमार स्तुति करने वालों को सुगमता से प्राप्त होते हैं।"[२३७]

सोभरि ऋषि ने कहा–"जिस प्रकार पितृयज्ञ किया जाता है, उसी प्रकार अश्विनी कुमारों के लिए भक्त यज्ञ का अनुष्ठान करता है।"[२३८]

"सोम से प्रार्थना की जाती है कि वह उसी प्रकार सुखकारी हो जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए सुखकर होता है।"[२३९]

२. माता-

वैदिक परिवारों के पितृमूलक होने से 'पिता' का उपमानत्व अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। तो भी बहुत सी उपमाओं में वैदिक ऋषियों द्वारा 'माता' भी उपमानत्व के रूप में प्रयुक्त हुई है। अन्त्येष्टि सूक्त में हम अतिशय करुणामयी उपमा देखते हैं–

"माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि।"[२४०]

अर्थात् हे भूमि! जिस प्रकार माता अपने पुत्र को कपड़े की किनारी या झालर से ढ़क लेती है, उसी प्रकार मृतक मनुष्य को तू सामने होकर आच्छादित कर ले, अर्थात् उसे अपने में समा ले। ऋषि संचित हड्डियों को सम्बोधित कर कहता है–

"उपसर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।"[२४१]

"नदियाँ समुद्र के पास उसी प्रकार जाती हैं कि जिस प्रकार माताएँ पुत्र के पास जाती हैं।"[२४२]

"पुत्र की समृद्धि की कामना करने वाली माताएँ जिस प्रकार अपने दूध से उन्हें युक्त करती हैं, उसी प्रकार हे जल! तुम्हारा जो निजी अतिसुखदायी रस है, उसे तुम हमको बाँट दो।"[२४३]

"आकाश और पृथिवी वैश्वानर (अग्नि) के माता–पिता कहे जाते हैं।"[२४४]

३. पुत्रः-

"इन्द्र ने पुत्रों के समान रुद्रों से युक्त होकर अपने शत्रुओं को पराजित किया।"[२४५]

इस उपमा से पुत्र का पिता की सहायता का सम्पादनत्व व्यक्त होता है।

"मरुत् अग्नि को वैध पुत्र के समान धारण करते हुए मधुर हवनीय द्रव्यों में विहार करते हैं।"[२४६]

"चाहने के योग्य एवं स्वच्छ करने के योग्य पुत्र के समान सोम प्रसन्न करने वाला है।"[२४७]

"पिता के द्वारा जिस प्रकार पुत्र भली–भाँति पोषित होता है, उसी प्रकार हमारे द्वारा हवनीय द्रव्यों से अग्नि परिपूर्ण हुआ।"[२४८]

"जिस प्रकार पुत्र पिता की आज्ञा का परिपालन करते हुये उसकी बुद्धि का सेवन करते हैं, उसी प्रकार जो यजमान शीघ्रता करते हुये अग्नि के शासन को सुनते हैं वे सब उससे आदिष्ट कर्म करते हैं।"[२४९]

"नवजात शिशु के समान अग्नि घर में रमण (क्रीडा) करनेवाला किंवा जी बहलाने वाला होता है।"[२५०]

त्रित अग्नि का स्तवन करता है–"हे अग्नि! जिस प्रकार पुत्र धन से क्षीण माता–पिता को भेंट देता है, निःसन्देह उसी प्रकार तुम आकाश और पृथ्वी को अपने तेज से विस्तार देते हो।"[२५१]

"हे पूर्णतः देदीप्यमान देवताओं! हम तुमसे सम्बन्धित बहुत परिमाण वाले धन का उपभोग उसी प्रकार करते हैं, कि जिस प्रकार पुत्र धन का उपभोग करता है।"[२५२]

"जिस प्रकार पुत्र माता का भरण करते हैं, उसी प्रकार देवता यजमानों का भरण–पोषण करने वाले हैं–

"आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः।"[२५३]

पिता के समान उण्मा से युक्त होने वाले देवता यहाँ पर पुत्रत्व को प्राप्त हो गये हैं। वसिष्ठ का पुत्र शक्ति इन्द्र की स्तुति करता है–

'रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो पितरं हुवे।"[२५४]

इन शब्दों में विशिष्ट दर्शन लक्षित होता है–अगर कोई धन की इच्छा करने वाला पुत्र हो तो पिता का केवल दाहिना हाथ ही नहीं होता है अपितु वज्रहस्त भी होता है। अर्थात् पिता का केवल कृपादान ही नहीं, अपितु कठोर अनुशासन भी है।

"इन्द्र की स्तुति करता हुआ विश्वामित्र उसके वस्त्र के छोर (किनारा) को

उसी प्रकार ग्रहण करता है, जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के वस्त्र के छोर को पकड लेता है।"[२५५]

४. दुहिता-

"देवी उषा माता से सुसज्जित की गई पुत्री के समान अत्यन्त दीप्तिमती होकर शोभायमान हो रही है।"[२५६]

"पितृमती अलङ्कृत कन्या के समान सोम वायु की ओर जाते हैं।"[२५७]

"जीवन भर घर पर माता–पिता की सेवा शुश्रूषा करती हुई और जीर्ण होती हुई पुत्री जिस प्रकार घर पर रहकर ही भाग माँगती है, उसी प्रकार हे इन्द्र! मैं स्तुतिकर्ता प्राप्त धन आपसे माँगता हूँ।"[२५८]

५. पति-

जिस प्रकार पति पत्नी के पास जाता है, उसी प्रकार सोम परिमार्जित पात्र में जाता है:–

"पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतम्।"[२५९]

यह वाचक लुप्ता उपमा है।

६. पत्नी-

"जिस प्रकार उत्पादन करने वाली पत्नियाँ पति को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार फल को जन्म देने वाली स्तुतियाँ नित्य युवा इन्द्र की नितान्त सहवर्ती होती हैं।"[२६०]

"हे इन्द्र! कामिनी कान्ताएँ जिस प्रकार पति के पास जाती हैं, उसी प्रकार स्तुतियाँ तुम्हें प्राप्त करती हैं।"[२६१]

"जिस प्रकार अपनी पत्नी पति को सुख प्रदान करती है उसी प्रकार हे सोम! तुम यजमान को सुख प्रदान करते हो।"[२६२]

यमी ने यम को कहा–"सुरति क्रिया की कामना करने वाली मैं तेरे लिए अपने शरीर को उसी प्रकार प्रकाशित करूँगी, जिस प्रकार पत्नी पति के लिए अपने शरीर को प्रकाशित करती है।"[२६३]

"भगवती वाणी किसी के सामने तो स्वयं को (अपने अर्थ को) सर्वथा उद्घाटित करती है और किसी के सामने स्वयं को इस प्रकार प्रकाशित करती है कि जिस प्रकार संभोग की इच्छा रखने वाली सुन्दर वस्त्रों से विभूषित पत्नी ऋतुकाल में संभोग के लिए पति के सामने अपने आपको प्रकाशित करती है।"[२६४]

"ऋषि कामना करता है कि हे अग्नि! मैं हृदय में उसी प्रकार सम्पृक्त हो जाऊँ, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्र–आभूषण आदि से सुसज्जित कामिनी पत्नी पति के

हृदय के बीच में प्रियतमा के रूप में सम्पृक्त हो जाती है।''[२६५]

''जिस प्रकार पतियो के लिए सम्भोगकाल में शोभायमान होने वाली पत्नियाँ आश्रित हो जाती हैं, उसी प्रकार ये द्वार देवता इस कर्म में सर्वत्र फैलकर विशेष विस्तृत भाव से आश्रित हों।''[२६६]

''अँगुलियाँ प्रशस्त गमनशील इन्द्र की उसी प्रकार परिचर्या करती हैं, जिस प्रकार पत्नियॉ पति की शुश्रूषा करती हैं।''[२६७]

''जिस प्रकार पत्नियॉ अपने अंगों को अलंकृत करती हैं, उसी प्रकार मरुत् भी गमन में निमित्तभूत होने पर अपने अंगों को अलंकृत करते हैं।''[२६८]

''जिस प्रकार कामोत्कण्ठिता स्त्रियॉ अपने पति के पास जाती हैं, उसी प्रकार सहगमन करने वाली नदियॉ अपां पति समुद्र के पास आईं।''[२६९]

''जिस प्रकार पत्नी पति के पूर्व आमन्त्रण को बढाने के लिए शीघ्र गतिशील होती है, उसी प्रकार दिन रात देवियॉ भी पूर्व आह्वान को वढ़ाने के लिए शीघ्र आई हैं।''[२७०]

बहु पत्नियों वाले मनुष्य की व्याकुलता को प्रकट करता हुआ ऋषि कहता है–

''सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।''[२७१]

७. भ्राता-

''यह अग्नि बहने वाले जल का बन्धु है जैसे कि भाई बहिनों का अतिशय हितकारी होता है।''[२७२]

८. यमज (जन्म से जुड़वा)-

''अश्विनी कुमार साथ उत्पन्न होने वाली सन्ततियों के समान संचरण करते हुए हविपात्र रखे हुए स्थान की ओर जाते हैं।''[२७३]

''मरुद्गण साथ–साथ उत्पन्न होने वाले के समान परस्पर बल, रूप आदि से अत्यन्त समान रूपवाले हैं।''[२७४]

९. जामाता-

ऋषि सुरेन्द्र से प्रार्थना करता है कि ''जिस प्रकार गुण रहित कुत्सित दामाद तुरन्त बुलाये जाने पर भी दूर रहता है, उसी के समान तुम देर मत करो।''[२७५]

वैदिक ऋषि भी दुष्ट जामाता से त्रस्त दिखाई पड़ते हैं, जिसको बाद में लौकिक संस्कृत–साहित्य में दशवाँ ग्रह कहा गया हैः– **जामाता दशमो ग्रहः।** अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्य आदि नवग्रह तो होते ही हैं, उन्हीं के समान सदा वक्र और क्रूर रहने वाला, धन और मान का अपहरण करने वाला जामाता भी दसवाँ ग्रह होता है।

वेदों में 'वधू' का उपमान के रूप में प्रयोग दिखाई नहीं पडता है, 'वधू' से सामान्य और सम्बन्धी शब्द 'जामि:' (पुत्रवधू) ऐसा कहा गया है वैसे 'जामि' का अर्थ–बहन, पुत्री, नजदीकी सम्बन्ध रखने वाली और गुणवती सती–साध्वी स्त्री भी होता है।''[२७६]

स्तुति करने वाला जन इन्द्र को कहता है:–

''विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे।''[२७७]

और विश्वेदेवों से प्रार्थना की जाती है:–

''प्रीता इव ज्ञातयः काममेत्यारमे देवासोऽव धूनुता वसु।''[२७८]

१०. मित्र-

वैदिक ऋषियों द्वारा सामाजिक सम्बन्धों में मित्र की अत्यधिक स्तुति की गई है और सौहार्द किंवा सद्भाव को दिव्य माना है। प्रायशः मित्र को निःसन्देह उपकारक कहा गया है। निःसन्देह वह सदैव मित्र के समान प्रियदर्शन है–**''मित्रो न दर्शतः।''**[२७९]

देव–प्रसंग में **'मित्र'** पद प्रायः श्लिष्ट द्व्यर्थक प्रतीत होता है, और वह 'मित्र' नामक सर्वाधिक दयालु देव को और सुहृत् (सखा) को एक साथ उपस्थित करता है। यहाँ पर भी 'मित्र देव' अथवा 'सुहृत्' ये दोनों अर्थ सम्भावित होते हैं।

काण्व प्रगाथ सोम के प्रति कहता है–''हे सोम! हमारे द्वारा पिया गया (सोमरस) तुम्हारे हृदय के सुख के लिए हो, जिस प्रकार सखा अपने सखा के लिए सुन्दर सुखकर होता है।''[२८०]

दूसरे मन्त्र में सोम से प्रार्थना की जाती है–''हे सोम! जिस प्रकार सखा अपने सखा के लिए सत्य–मार्ग का बोध कराता है, उसी प्रकार तुम हमारे भी सिद्धिदायक बनो, और हमें सत्पथ का ज्ञापन कराओ।''[२८१]

जिस प्रकार सखा अपने सखा के लिए दीप्तिकारक होता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे लिए कान्तिदायक बनो।''[२८२]

अर्थात् जिस प्रकार कोई सखा अपने सखा के गौरव के लिए प्रयत्न करता है, उसी प्रकार तुम मुझ याज्ञिक के गौरव के लिए प्रयत्नशील बनो।

मित्रता अन्योऽन्यानुगामिनी कर्त्तव्यभावना को उत्पन्न करने वाली होती है। यह उपमा से निःसन्देह व्यञ्जित होता है।

अन्य ऋषि ने कहा–''इन्द्र मित्र के समान स्तुति करने वाले में कीर्ति का विस्तार करता है।''[२८३]

''सोम निःसन्देह प्रिय मित्र के समान पवित्र है।''[२८४]

"अग्नि मित्र के समान भक्त जनों में सुस्थित हवनीय द्रव्यों से तृप्त होता है।"[२८५]

"निःसन्देह वह यज्ञ का उसी प्रकार सुन्दर साधक है कि जिस प्रकार मित्र अपने मित्र के पानी भरे हुये खेत आदि को साधता हैः–

"मित्रं न क्षेत्रसाधसम्।"[२८६]

यहाँ सायण कहता है कि –"**क्षियन्ति निवसन्ति कर्मकरणार्थमत्रेति क्षेत्रो यज्ञः।**" अर्थात् यहाँ क्षेत्र यज्ञ का बोधक है।

वामदेव ऋभुगणों को सम्बोधित करते हुये कहता है कि –"हे ऋभुगणो! मित्र के समान कल्याण की कामना करते तुम द्रव्य, गोधन आदिधन और पुष्टि हमारे लिए धारण करो अर्थात् हमें प्रदान करो।"[२८७]

बृहस्पति के पुत्र शंयु ने कहा–"हम प्रिय मित्र के समान अमृत, जातवेदस् अग्नि की प्रशंसा करते हैं।"[२८८]

"यज्ञ करने वाला मित्र के समान अग्नि को ईंधन द्वारा प्रज्वलित कर कार्यान्वित करता है।"[२८९]

"हे बृहस्पति! सब प्रकार से सन्तुष्ट सखा जिस प्रकार सखा को दुर्नीति के पथ पर चलने से रोकता है, उसी प्रकार तुम भी हमें कुमार्गगामी होने से बचाकर यज्ञ आदि रूपी सन्मार्ग से युक्त कर फलदायक बनो।"[२९०]

मित्र के प्रमुख भाव प्रियता, साहाय्यकारिता और सन्मार्ग–निर्दिष्ट करना आदि ही अधिकतर साधारण धर्म के रूप में वेदों में लिये गये हैं।

११. अतिथि-

"अग्नि निःसन्देह अतिथि के समान प्रशंसनीय होता है।"[२९१] सुखासन पर बैठे हुये अतिथि के समान ही अग्नि सुखदायक ऋषि लक्षण युक्त आसन अथवा यज्ञ कर्म के लिए तैयार की हुई भूमि के आसन पर शयन करते हुये ठहरते हैं अर्थात् विश्राम करते हैं **"स्योनशीरतिथिर्न"**[२९२] । अथवा अतिथि इस पद का उत्तरार्थ से तात्पर्य है–अतिथि के समान प्रसन्न होने वाला या प्रसन्न करने वाला। अर्घ्य, पाद्य आदि प्रदान करने से सत्कार किये गये प्रसन्न अतिथि के समान अग्नि को हवि से तृप्त करना चाहिए।

५. उपमान के रूप में प्रयुक्त विविध समाजवर्ग-

वैदिक समाज सुविकसित और सुव्यवस्थित हुआ है। वहाँ मनुष्य स्वर्णकार, लुहार, शिल्पी और योद्धा आदि वर्गो में विभक्त थे। तो भी वहाँ जाति–भेद कठोर नहीं था। समाज का विभाजन गुण और कर्म के विभाग से ही हुआ था। किसान, क्षेत्रपाल, यात्री, कवि, स्वामी और सेवक आदि सभी प्रकार के मनुष्य वहाँ हुए। इन वर्गो

के चित्र निश्चय ही वैदिक सभ्यता के विकास के अध्ययन के लिए आकर्षक हैं।

१. राजा-

वैदिक समाज अनेक छोटे–छोटे अधिकृत दलों (गणों) में बँटा हुआ था, अधिकार में आये हुये गणों का नेता 'विश्पति' होता था। वेदों में अधिकतर देवताओं को विश्पति, सत्पति या कुलपति की उपमा दी गई है। ऋषि इन्द्र से दूर से आने की उसी प्रकार प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार नेता सभा में जाता है, अथवा जिस प्रकार राजा अपने आवास में जाता है:–

"विदथानीव सत्पतिरस्तं राजेव सत्पतिः।"[२९३]

यहाँ इस मन्त्र में 'सत्पति' यह पद 'विदथानि' इस पद से सम्बद्ध है। 'राजा' पद 'अरतम्' पद से युक्त है।

"सोम, राजा के समान दर्शनीय कहा गया है।"[२९४]

ऋषि उससे प्रार्थना करता है–हे शक्तिमान् सोम तुम राजा के समान ही बल से सब पापों का विनाश करते हुये हमें पवित्र करो।"[२९५]

"वह (सोम) कलश में उसी प्रकार जाता है, जिस प्रकार सत्यकर्मी राजा समिति में पहुँचता है।"[२९६]

अग्नि को भी राजा की उपमा दी जाती है। "राजा जिस प्रकार शत्रुओं का जड़ सहित विनाश कर देता है, उसी प्रकार अग्नि बडे–बड़े जंगलों को जला देता है।"[२९७]

अग्नि उसी प्रकार शीघ्र ही अनुष्ठान करने वाले यजमान को प्राप्त होता है, अर्थात् उससे प्रदत्त हविष्य को प्रप्त कर उसकी रक्षा करता है, कि जिस प्रकार राजा युवा, सुदृढ़ और सशक्त पुरुष को निःसन्देह सब कार्यों के लिए वरण करता है।"[२९८]

युद्ध में सेनापति राजा के समान होता था। सिंधुक्षित् प्रैयमेध कहता है–"हे सिन्धु! युद्ध करने वाले राजा के समान तुम्हीं सींचे हुए किनारों को जल से परिपूर्ण करते हो और इन जाती हुई सब नदियों के आगे जाते हो।"[२९९]

"भृगु के समान आचरण करता हुआ यजमान, राजा समान अग्नि को दूत सम्बन्धी कार्य से युक्त करता है।"[३००]

"राजपुत्रेव सवनावं गच्छथः।"[३०१]

यहाँ अश्विनी कुमारों को राजकुमारों की उपमा दी गई है।

"विश्पति अग्नि से भक्त के आह्वान को उसी प्रकार सुनने की प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार संसार में धनवान् राजा आदि स्तुतिगान करने वालों के स्तोत्र को सुनता है।"[३०२]

"निःसन्देह अग्नि जयशील राजा के समान शोभित होता है।"[३०३]

"मरुतों के चलने से फेंकने की क्रिया उत्पन्न होने पर पृथ्वी डर से उसी प्रकार काँपती है, कि जिस प्रकार आयु को हानि पहुँचाने वाले रोग आदि से जीर्ण हुआ प्रजापालक राजा दुश्मनों के भय से काँपता है।"[३०४]

राजा के उपमानत्व में गौरव, दर्शनीयत्व, रक्षकत्व, दयालुत्व और शत्रुनाशकत्व आदि गुण साधारण धर्म होते हैं।

२. दूतः-

अग्नि को प्रायशः देवताओं के लिए हविष्य वहन करने से दूत की उपमा दी जाती है। "क्योकि वह हवनीय द्रव्यों को स्वीकार करने के लिए और उसे देवताओं तक पहुँचाने के लिए पृथ्वी और आकश में परिभ्रमण करता है।"[३०५]

ब्रह्मा के अतिथि काण्व ने अश्विनीकुमारों को सम्बोधित कर कहा–"जिस प्रकार दूत स्वामी के वाक्य की याचना करता है, उसी प्रकार मैं आप दोनों की प्रीतियुक्त वाणी की याचना करता हूँ।"[३०६]

३. भृत्यः-

"सोम स्तुति करने वाले को उसी प्रकार धन प्रदान करता है, जिस प्रकार स्वामी सेवक का संपोषण करते हैं।"[३०७]

४. कवि-

वेद के ऋषियों का कथन है कि "अग्नि समस्त उत्पन्न वस्तुमात्र को जानता है। इसीलिए वह अपने अत्युच्च ज्ञान से कवि के समान माना गया है।"[३०८]

५. दाता-

हमें वेदों में दान दाताओं के चित्र भी मिलते हैं। जैसे कि "सोम धन दाता के समान सभी से वरण करने योग्य कहा जाता है।"[३०९]

६. गोपाल-

"वरुण निःसन्देह गोपाल के समान हमारे पशुओं का रक्षक है।"[३१०]

"जिस प्रकार ग्वाला पशुओं के समूह को हाँकता है, उसी प्रकार इन्द्र शत्रु की सेना को प्रेरित (आज्ञा–पालनार्थ निर्दिष्ट) करता है।"[३११]

"जिस प्रकार गोपाल पशुओं की देख–भाल करता है, उसी प्रकार सूर्य की आत्मा से उत्पन्न अग्नि सबका अधिपति होता हुआ प्राणिमात्र को रक्षा–हेतु देखता है।"[३१२]

"जिस प्रकार गो–पालक गाय को बुलाता हुआ अपनी ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार हम धन के लिए इन्द्र को अपने समक्ष करते हैं।"[३१३]

"हे अग्नि! मेधावी देवता मार्ग में पद–चिन्हों का अनुसरण करते हुये उसी प्रकार पानी रूपी गुफा में वर्तमान तुझको पा लेते हैं, जिस प्रकार चोर दूसरे के पशु आदि धन को चुराकर कठिनता से प्रवेश करने योग्य पहाड़ की कन्दरा में प्रविष्ट होता है।"[३१४]

"इसी प्रकार तैत्तिरीयों द्वारा अग्नि का पानी में प्रवेश साहित्य–परम्परा से माना जाता है।"[३१५]

७. लुहार-

आदि सृष्टि में ब्रह्मणस्पति ने उसी प्रकार देवताओं को उत्पन्न किया, जिस प्रकार लुहार प्रज्वलित करने के लिए धौंकनी से आग में फूॅक मारता है।"[३१६] अर्थात् धौंकनी की हवा से आग को प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित करता है।

८. नाविक-

"लोगों को किनारे पर पहुँचाता हुआ मल्लाह जिस प्रकार नाव को प्रेरित करता है, उसी प्रकर सोम ऋत (उचित) के पथ में होने वाली वाक् देवता को प्रेरित करता है।"[३१७]

"बार–बार शब्द कर, उठने के अर्थ को सूचित करता हुआ कपिञ्जल रूपी इन्द्र मल्लाह के समान नाव रूपी वाणी को प्रेरित करता है।"[३१८]

९. पथिक-

पथिक अथवा यात्री वेदों में, विशेषरूप से अधिकता के साथ उपमान रूप में गृहीत हुए हैं। अगस्त्य अश्विनीकुमारों के प्रति कहता है–"जिस प्रकार पथिक अपनी मंजिल पर शीघ्र पहुँचने के लिए उचित मार्ग से ही अभीप्सित दिशा की ओर जाता है, उसी प्रकार तुम दोनों भी मेरे आह्वान को लक्ष्य बनाकर मेरे पास आओ।"[३१९]

१०. प्रणयी-(जारपुरुष)

वेदों में हम प्रेमियों के उल्लासपूर्ण चित्र भी देख सकते हैं। सर्वत्र और सर्वकाल में होने वाले कलाकारों की कला की गलियों में जिस प्रकार ऐसे अनेक चित्र हैं, उसी प्रकार वैदिक कवियों की कल्पना–गलियों में भी ये चित्र बहुतायत से शोभायमान हैं।

"वायुदेव बहुप्रज्ञ यजमान को अपने सामर्थ्य से उसी प्रकार बोध कराने की चेष्टा करता है जैसे कि प्रणयी (जार) सोती हुई अपनी प्रेयसी को जगाता है।"[३२०]

यहाँ उपमेय (तुलना करने का विषय) देव प्रणयी के हृदय की कोमलता और रस–सिक्तता को व्यक्त करता है।

"निःसन्देह चन्द्रमा अपने स्थान को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार चलता

है, जिस प्रकार जार स्त्री को पाने के लिए चलता है, अथवा जिस प्रकार वर कन्या को प्राप्त करने के लिए जाता है।"[३२१]

११. मद्यप-

इन्द्र से पिये गये सोम रस उनके हृदयों में उसी प्रकार युद्ध करते हैं (हलचल मचाते हैं) जिस प्रकार सुरा पीने से उत्पन्न होने वाले दुष्ट मद आपस में युद्ध करते हैं।"[३२२]

घोरपुत्र कण्व ने मरुतों को लक्ष्य कर के कहा–"हे देवों! तुम तीव्रता से सब ओर जाते हो, जिस प्रकार मदिरापान से उन्मत्त हुये मनुष्य अपनी इच्छा से सब ओर विचरण करते हैं।"[३२३]

इस प्रकार मदोन्मत्त मनुष्य के दुर्गुण भी देवताओं के सद्गुण बन जाते हैं।

१२. चौर-

"जिस प्रकार चौर मनुष्यों के घर में रखे हुये धनों को भली भाँति जानता है, उसी प्रकार पूषा देव पृथ्वी में गड़े हुये धनों को जानता है।"[३२४]

देवता और चौर की समानता को स्थापित करती हुई यह उपमा निश्चय ही प्रथम दृष्ट्या (पहली निगाह में) देवता में कलङ्कत्व का आरोपण करती हुई प्रतीत होती है किन्तु वैदिक ऋषि की ऋजुता और सरलता को ध्यान में रखते हुये हम मुस्कराहट के साथ रसास्वादन ही करते हैं।

"एत उ त्ये प्रत्यदृश्रन् प्रदोषं तस्करा इव।"[३२५]

यहाँ रात के समय घूमने वाले होने के कारण साँपों की तुलना चौरों से की गई है। घनघोर अँधेरी रातों में जैसे हिसंक चौर दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही रात्रि में मारने वाले ये साँप भी हैं, और दिन में फिर दिखाई पड़ते हैं।

"अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।"[३२६]

यहाँ तो नक्षत्रों को चौर का गया है। आशय यह है कि चौर और तारे सूर्य के आगमन के डर से रातों के साथ ही भाग जाते हैं।

६. उपमान रूप में गृहीत गृह और गृह-वस्तुएँ-

सुन्दर गृह वैदिक कवियों का प्रिय उपमान रहा है। स्तुतिकर्ता देवता से अपने घर के समान ही अपने (स्तोता के) घर में पधारने की प्रार्थना करता है और घर के समान ही सुरक्षा तथा आनन्द प्रदान करने से भी देवता को घर की उपमा दी जाती है–

"उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम्।"[३२७]

यहाँ ऋषि बुढ़ापे में घर के समान ही प्रविष्ट होने की कामना करता है। यहाँ

उपमान के द्वारा कष्टरहित अभिलषित वार्धक्य की व्यञ्जना हुई है। दुर्बलता देने वाली होने के कारण वृद्धावस्था की कोई कामना नहीं करता है किन्तु यदि सुखसमृद्धि से और वीर सपूतों से या सुपुत्रियों से (सन्तति से) तथा अन्य सुखदायक साधनो की प्राप्ति से इस दोष की निवृत्ति हो गई हो तो यह वृद्धावस्था भी अपने घर के समान स्वागत के योग्य होती है। ऋषि ऐसे ही सौख्य से संयुक्त वार्धक्य में प्रवेश करने की इच्छा करता है।

कौटुम्बिक व्यवस्था के समुचित विकास हो जाने के कारण वैदिक पुरुष अपने घरों में अनेक प्रकार की वस्तुएँ रखते थे। वे धन को अपने आधीन करने में तत्पर रहते थे। वहाँ धन तो प्रायशः गोधन, गजधन और वाजि (अश्व) धन के रूप में होता था। बेशकीमती (बहुमूल्य) वस्त्र, आभूषण, सोना और चाँदी भी उनके लिए वाञ्छित वस्तुएँ रही हैं।

"सोम अपने उज्ज्वल कवच के समान आश्रयभूत द्रव्य का चारों ओर से उपभोग करता है।"[३२८]

"निःसन्देह मरुद्गण वस्त्र के कोने के समान आकाश और पृथ्वी को चलायमान करते हैं।"[३२९]

इस उपमा से यह भली भाँति व्यक्त होता है कि जिस प्रकार वस्त्र के कोने को हिलाना बहुत सरल होता है, उसी प्रकार मरुद्गण आकाश और पृथ्वी को अनायास ही कम्पित कर देते हैं।

इन्द्र के प्रति ऋषि कहता है-"मैंने वस्त्रों के समान ही उत्तम, भजन करने योग्य सुन्दर स्तोत्र रथ के समान किये-

"वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्।"[३३०]

यहाँ सायण ने 'स्तोत्र उपहार की तरह ग्रहण करने योग्य होते हैं', इस अभिप्राय से वस्त्र-निदर्शन कहा है। रथ का दृष्टान्त तो आगमन-साधन के प्रतिपादन के लिए है। अर्थ यह है कि स्तोत्रों को स्वीकार कर मुझे धन प्रदान करो।

"अश्विनी कुमार कर्मों का अथवा स्तुतियों का विस्तार उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार दो जुलाहे वस्त्रों का विस्तार करते हैं।"[३३१]

"ऋत्विक् वस्त्र के समान मननीय सामग्री अथवा कुशघास से वेदी के स्थान को ढकने के लिए प्रार्थना करता है।"[३३२] उसी प्रकार सब मनुष्य अग्नि की पूजा करके उससे धन प्राप्त करते हैं कि जिस प्रकार पुत्रगण बूढ़े पिता के पास से धन का आहरण करते हैं।"[३३३]

"अश्व पर जिस प्रकार वस्त्र आदि अलङ्कार होते हैं, उसी प्रकार सोम पर विरचित स्तोत्र अपनी श्रेष्ठता का दावा करते हैं।"[३३४]

"भृगुगणों ने देवत्व की प्राप्ति के लिए अग्नि को मनुष्यों में शोभन धन के समान धारण किया। अथवा धन के समान उपहार दिया।"[३३५]

"जिस प्रकार विश्वासपूर्वक प्रयुक्त पैतृक धन अच्छे अन्न का प्रदाता होता है, उसी प्रकार अग्नि भी सब यज्ञों में विश्वास के साथ व्यवहृत होता हुआ अन्न–प्रद होता है।"[३३६]

"प्रगाथ काण्व अभिषुत सोमरस का पिता के धन के समान मन से उपभोग करना चाहता है।"[३३७]

"जिस प्रकार समान पिता के पुत्र समान रूप से ही पिता के अन्न का उपभोग करने के योग्य होते हैं, उसी प्रकार सभी मनुष्य मरुद्गणों के आशीर्वाद के पात्र होते हैं।[३३८]

७. उपमानभूत यन्त्र और पात्र-

हम यह पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि वैदिक सभ्यता अच्छी तरह से विकसित थी। वैदिक आर्यजन अनेक प्रकार के यन्त्रों, पात्रों और अन्य उपकरणों के प्रयोग की उत्कृष्टता को प्राप्त कर चुके थे। वैदिक ऋषियों ने अपने दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले अनेक प्रकार के उपकरणों तथा वस्तुओं का उपमान के रूप में उपयोग किया है।

लड़ाई के मैदान में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र और शस्त्रों का उपमानत्व तो **"युद्धक्षेत्र से लिये गये उपमान"** इस वर्ग में स्थान पायेगा, यहाँ पर उपमानत्व के रूप में प्रयुक्त हुये अन्य उपकरण–समूह का वर्णन हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

"मनस्वी इन्द्र अपने लम्बे अंकुश के समान विस्तृत शक्ति को भी धारण करता है।"[३३९]

यम ने यमी को कहा–"अयि! असह्य भाषण से मुझे दुःख देने वाली तू मेरे अतिरिक्त अन्य किसी अपने समान पुरुष के साथ शीघ्र जा और जाकर वैसे ही धर्म, अर्थ और काम पदार्थों को प्राप्त कर, जैसे कि रथ के अंग पहिये रथ को प्राप्त कर उसे गतिशील करते हैं।"[३४०]

"चक्र में नाभि के समान वरुण में सब काव्य आश्रित हैं।"[३४१]

आकाश और पृथ्वी का पहले का और बाद का सम्बन्ध किसी से भी नहीं जाना जा सकता है। ये आकाश और पृथ्वी चक्रयुक्त की तरह क्रम से विद्यमान हैं–**वि वर्तेते अहनी चक्रियेव।**[३४२]

"आकाश और पृथ्वी साथ–साथ रहते हैं, जैसे रथ का पहिया आगे चलते हुए घोड़े के पीछे (साथ–साथ) रहता है।"[३४३]

"सोम ने अग्नि को कम्पित कर दिया, जिस प्रकार धीरे चलते हुए पहिये को

घोड़े कँपा देते हैं।"[३४४]

"सूर्य के समान प्रसिद्ध इन्द्र बहुत से तेजों को चक्कर कटाता है, जिस प्रकार सारथी पहियों को चक्कर कटाता है।"[३४५]

"इन्द्र ने कर्मो के द्वारा पृथ्वी और आकाश को उसी प्रकार सब ओर से अचल कर दिया, जिस प्रकार धुरी से रथ के पहियों को अचल कर दिया जाता है।"[३४६]

"धन निश्चय ही एक पुरुष से दूसरे पुरुष के पास उसी प्रकार पहुँच जाते हैं, जिस प्रकार रथ से सम्बन्धित पहियें कभी ऊपर और कभी नीचे होते रहते हैं।"[३४७]

"इन्द्र को सेना के सिरे पर रखते हैं अर्थात् आगे रखते हैं, जिस प्रकार नदी आदि के पार जाने के लिए नाव को आगे रखते हैं।"[३४८]

"जिस प्रकार मनुष्य नाव से गानी को पार करते हैं, उसी प्रकार बृहदुक्थ (एक राजा अथवा बहुत यशस्वी कोई विशिष्ट व्यक्ति) कठिनता से पार करने योग्य पृथ्वी की सभी दिशाओं और प्रदिशाओं को पार कर जाता है।"[३४९]

अग्नियुत अथवा अग्नियूप नामक ऋषि कहता है–

"जिस प्रकार नाव को नदी में प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार मैंने अर्चनीय मन्त्रों से स्तुति की।"[३५०]

गृत्समद कहता है–"हे इन्द्र! मैं नाव के समान आपत्तियों से पार उतारने वाले तुमको स्तोत्र से प्राप्त करता हूँ।"[३५१]

"जिस प्रकार मल्लाह नाव को प्रेरित करता है, उसी प्रकार कपिञ्जल वाणी को प्रेरित करता है।"[३५२]

"जिस प्रकार मल्लाह नाव से पथिक को नदियों के पार पहुँचाता है, उसी प्रकार इन्द्र के लिए स्तुति प्राप्त कराओ।"[३५३]

यहाँ सूक्त को पथिक की उपमा दी गई है, इन्द्र को नदी की और उसके हृदय के गहन धरातल को नदी के दूसरे तट की उपमा दी गई है। परन्तु इसके विपरीत–

"सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः।"[३५४]

तथा–**"आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे।"[३५५]**

इत्यादि में तो सूक्त को नाव की उपमा दी गई है।

देवताओं का अतिथि कहता है–"हे पूषन्! हमें नाई के हाथों में स्थित उस्तरे के समान भलीभाँति तीक्ष्ण बुद्धि वाले करो।"[३५६]

इस वर्ग में प्रायशः पूर्णोपमाएँ और कहीं–कहीं वाक्योपमाएँ पारिभाषिकता से

परिपूर्ण और काव्यात्मकता से मन को हरने वाली हैं और कहीं–कहीं द्विगुणित उपमेय के लिए द्विगुणित उपमान–योजना दिखाई पड़ती है।

८. उपमानभूत क्रीड़ाएँ और अन्य मनोरञ्जन के साधनः-

अश्व की पीठ पर सवार होकर दौडना, रथ–दौड़ की प्रतिस्पर्धाएँ, जुआ खेलना और शिकार करना आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएं वैदिक काल के आर्यजन करते थे। इसलिए वैदिक ऋषियों ने इन क्षेत्रों से भी उपमान लिए हैं।

कक्षीवान् अश्विनीकुमारों की स्तुति करता हुआ कहता है कि–हे अश्विनीकुमारो! तुम्हारा रथ 'कार्ष्म' के समान है। कार्ष्म शब्द 'काष्ठ' का वाचक है। "जिस प्रकार दौड की प्रतियोगिता की सीमा को ध्यान मे रखते हुए कोई शीघ्रगामी (तेज दौड़ने वाला) निर्दिष्ट लक्ष्यभूत काष्ठ तक सभी धावकों से पूर्व पहुँच जाता है, इसी प्रकार सभी देवताओं से पूर्व शीघ्र सीमा को प्राप्त करने वाले अनुष्ठान पूरक तुम्हारे अश्व पर जयन्ती के समान विजयिनी सूर्य की पुत्री सवार हो गई।"[३५७]

जुआरी के सदैव अधार्मिक होने से और समाज में उसकी प्रतिष्ठा की हानि होने से मनस्वियों ने द्यूत (जुआ खेलना) की निन्दा की थी। उषा उसी प्रकार प्राणिमात्र की आयु को जीर्ण करती है जिस प्रकार जुआरी अपने धन को कम करता हैः–

"श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः।"[३५८]

सायण तो 'श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः' इस व्युत्पत्ति से 'श्वघ्नी' इस पद का अर्थ 'व्याध–पत्नी' करता है।

(घ) यज्ञ सम्बन्धी उपमान-

वेद के ऋषियों ने निःसन्देह मानवजीवन को अतिशय प्रभावित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की भावना कर ली थी। उनके प्रति उनका भाव ही वैदिक धर्म की सृष्टि करता है। क्योंकि यज्ञ ही धर्म का अन्यतम विशिष्ट तत्व है। क्योंकि दर्शन के विरुद्ध, धर्म में कर्मकाण्ड मुख्य स्थान रखता है, यह सार्वभौमिक सत्य है। धर्मपरायण मनुष्य अपने व्यापारों से अपने इष्ट देवता को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। वेदों में वर्णित आर्य ने अहैतुकी (निष्प्रयोजन) भक्ति को अधिक सम्मान नहीं दिया। उसने देवताओं को समृद्ध उपहार समर्पित कर प्रतिफल स्वरूप सुदीर्घ जीवन, सुख–समृद्धि, वीर पुत्र प्राप्ति, रिपुओं पर विजय, रोगों से मुक्ति, प्रचुर भोज्य सामग्री और पेय पदार्थों की उनसे याचना की। इस प्रकार छलरहित आदान–प्रदान उसकी प्रवृत्ति का निमित्त बना। इसीलिए इसी कारण से यज्ञ उसके दैनिक जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसलिए वेद का ऋषि यज्ञक्षेत्र से स्वाभाविकता के साथ अनेक उपमान ग्रहण करता है। तथा स्वयं यज्ञ भी उपमानत्व से प्रयुक्त हुआ है।

१. यज्ञ-

असित ऋषि ने कहा–"ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि होने के कारण सप्तर्षियों से जिस प्रकार यज्ञ संस्कृत होता है, उसी प्रकार सोम पानी से संस्कृत होते हैं अर्थात् पानी से ही सोमरस परिष्कृत होते हैं।"[३५९]

"जिस प्रकार यजुर्वेद के मन्त्र से यज्ञ की रक्षा होती है, उसी प्रकार मित्र और वरुण पृथ्वी की रक्षा करते हैं।"[३६०]

२. होता-

ऋग्वेद में होता (हवन करनेवाला) भी उपमान के रूप मे अधिकतर प्रयुक्त हुआ है। "होता के समान अग्निदेवता, अर्चना करते हुये यजमान के घर को धन–ध ान्य से परिपूर्ण करता है।"[३६१]

भाव यह है कि 'होता' भिन्न–भिन्न कर्म करने से जिस प्रकार फलों से यजमान के घर को समृद्ध करता है, उसी प्रकार अग्नि भी भिन्न–भिन्न कर्मों का निमित्त बनकर याज्ञिक के घर को सम्पन्न करता है।

"होता पशुवाले के घर की ओर उसी प्रकार जाता है कि जिस प्रकार सोम कलशों की ओर जाता है।"[३६२]

"स्तुतिपाठ की ध्वनि करते हुये होता के समान शब्द करता हुआ सोम यज्ञों में जाता है।"[३६३]

"ऋषियों ने यज्ञ में पूर्व प्रज्ञान के लिए होता के समान देवता की प्रशंसा की।"[३६४]

३. दक्षिणा-

"धनिक दाता की दक्षिणा के समान मरुद्गणों का सुख श्रेष्ठ है।"[३६५]

४. प्रय (आहुति अथवा अन्न)-

'प्रय' शब्द आहुतिवाची और अन्नवाची है।* ऋषि कहता है–"मैं इन्द्र के लिये आहुति के समान स्तोत्र को ग्रहण करता हूँ। अर्थात् स्तोत्र को आहुति मानकर इन्द्र को अर्पित करता हूँ।"[३६६]

५. हविरूपी घृत-

"इन्द्र घृत के समान पवित्र पानी की वर्षा करता है।"[३६७]

"मादक घृत के समान मादक, निचोड़ा हुआ हमारा सोमरस कपर्दिन् सोम अथवा पूषा के लिये जाता है–

"अयं सोमः कपर्दिने घृतं न पवते मधु।"[३६८]

वास्तव में तो यहाँ घृत और सोम दोनों प्रासङ्गिक होते हुए भी उपमान और

उपमेय के रूप में कहे गये हैं।

प्रायशः मन्त्र द्वारा पवित्र घृत से स्तोत्र की तुलना की जाती है।

ऋषि कहता है–"हे वज्र के समान इन्द्र! हमारे इस स्तोत्र को मन्त्र से पवित्र किये गये घृत के समान शुद्ध समझो।"[३६९]

"हे अग्नि! मै तुम्हारे मुख में सुखदायी घृत के समान मननीय स्तोत्रों की आहुति देता हूँ।"[३७०]

(ङ) उपमानभूत पशु और पक्षी-

प्रकृति की गोद में रहने वाले वैदिक जनों के मनों में पशु, पक्षी और कीट आदि जीवों का अस्तित्व निश्चय ही उपेक्षा का विषय नहीं था। इसीलिये छोटे से छोटे जीवों का भी वैदिक ऋषियों के कल्पना–जगत् में मुक्त सञ्चरण हुआ। इस कारण से वेदों में अनेक प्रकार के पशु–पक्षी और कीट आदि उपमान रूप में दिखाई पड़ते हैं। गौ के समान निनादकारी, अश्व के समान तीव्रगामी और साँड के समान शक्तिमान् जैसी उपमाओं का वैदिक ऋषियों ने बहुधा प्रयोग किया है।

(अ) पशु-

१. **गौ**–कृषिप्रधान वैदिक समाज में गाय का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान था। गाय का उपमानत्व वेदों में कदम–कदम पर देखा जा सकता है। गाय के उपमानत्व में प्रायशः दूध आदि का उपहार प्रदान करना, स्नेहपूर्वक बछड़े की तरफ दौडना आदि साधारण धर्म के रूप में हैं। सरलता, सुशीलता और दयालुता के प्रतीक रूप में भी गाय को लिया गया है। उपहार ग्रहण करने के लिए देवताओं की कल्पना कुछ स्थलों पर गो–दोहन के तुल्य वर्णित हुई है। प्रायशः देवताओ की तुलना दूध देने वाली गायों से की गई है। स्तुति करने वाले, बहुत दूध देने वाली गाय के समान सोम को दुहते हैं।"[३७१]

"जिस प्रकार मातृस्नेहातिरेक के कारण रिसते हुये थनोवाली होकर अपने बछड़े को दूध प्रदान करती है, उसी प्रकार मरुद्गण हविष्य प्रदान करने वाले को बहुत अन्न और धन से सींचते हैं अर्थात् पुष्ट करते हैं।"[३७२]

"हे याज्ञिको! जिस प्रकार गाय दूध से पूर्ण है, उसी प्रकार फल के देने वाले और रक्षा करने वाले इन्द्र को सोमरस से पूर्ण कर दो।"[३७३]

"हे इन्द्र! घास से तृप्त हुई गाय जिस प्रकार बछड़े को भूख की बाधा (पीड़ा) से बचाती है उसी प्रकार हमें विघ्न–बाधाओं से रहित करो।"[३७४]

"ऋषि मरुतों के संघ को गायों के संघ के समान बुलाता है।"[३७५]

"घास आदि खाने के लिए जिस प्रकार गौवें रमण करती हैं, उसी प्रकार

मरुद्गण भी स्तुति करने वाले के यज्ञ में रमण करें।"[३७६]

"हे सोम! जिस प्रकार गौवें सुन्दर घास में अनुकूलता के साथ रमण करती हैं, उसी प्रकार तुम हमारे हृदय में रमण करो।"[३७७]

"हे अग्नि दूध देने वाली गाय के समान तुम्हारी बुद्धि यज्ञों में विभिन्न धन समूह को दुहने वाली है।"[३७८]

"मरुद्गण गौवों के सींग के समान उत्तम मुकुट और पगड़ी आदि को प्रतिष्ठा के लिए धारण करते हैं।"[३७९]

"नव प्रसूतिका (नये बछड़े को जन्म देने वाली) गौवें जैसे घर की ओर जाती हैं, वैसे ही सोम द्रोण (जल से भरे हुए) कलश की ओर जाते हैं।"[३८०]

"जिस प्रकार गौवें गोशालाओं की इच्छा करती हैं, उसी प्रकार मुझ शुनःशेप की बुद्धियाँ वरुण को चाहती हैं।"[३८१]

"दूध देने वाली गौवे जिस प्रकार बछड़े के लिए दूध टपकाती हैं, उसी प्रकार सोमरस इन्द्र के लिए स्यन्दित होते हैं, अर्थात् टपकते हैं।"[३८२]

"जिस प्रकार गाय दूध से बछड़े की तरफ जाती है, उसी प्रकार सोम अपने रस से वज्रधारी इन्द्र की तरफ जाते हैं।"[३८३]

"जिस प्रकार गौ माताएँ नवजात वत्स को चाटती हैं, उसी प्रकार क्षतिरहित जल इन्द्र के अभिलषित प्रिय सोम की ओर जाते हैं।"[३८४]

"जिस प्रकार गौवें गोशाला में रहती हैं, उसी प्रकार धन की कामना करने वाले और अनेक कर्म करने वाले हम लोक में रहते हैं।"[३८५]

बछड़ों के लिए रँभाती हुई गौवें, अनेक स्थानों पर उपमान बनाई गई हैं। "मरुद्गणों की अनुग्रहमयी बुद्धि बछड़े के लिए रँभाती हुई गाय के समान सब प्रकार से हमारी ओर आवे।"[३८६]

"जिस प्रकार गौ माताएँ बछड़ों को पुकारती हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण सोमपान के लिए इन्द्र का आह्वान करते हैं।"[३८७]

"जिस प्रकार रम्भारव करती हुई गौवें बछड़े की ओर आती हैं, उसी प्रकार शब्द करते हुए सोम पात्र की ओर आ रहे हैं।"[३८८]

"उसी प्रकार यज्ञ के दिन, स्तुति के लक्षणों से युक्त वाणियाँ, चन्द्रमा को लक्ष्य करके शब्द करती हैं कि जिस प्रकार दूध टपकाती हुई गौवें गोशाला में बछड़ों को लक्ष्य करके शब्द करती हैं।"[३८९]

"अग्नि गो समूह (गौओं की टोली) के समान शोभायमान है।"[३९०]

२. वृषभ-

वेदों मे वैल भी शक्तिरूपी साधारण धर्म से अनेक बार उपमानत्व के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

"टोली का स्वामी वैल (सॉड) जिस प्रकार सींगों को हिलाता हुआ तेज करता है, उसी प्रकार यह सोन सींग के समान ऊँची किरणों को सोमरस निचोड़ने के समय क्षुब्ध कर रहा है।"[३९१]

"जिस प्रकार वैल अपने सींग पैने करता है, उसी प्रकार इन्द्र युद्ध के लिए अपने वज्र को पैना (तीक्ष्ण) कर रहा है।"[३९२]

"प्रसन्न होता हुआ वह निःसन्देह सॉड की तरह आचरण करता है।"[३९३]

"जिस प्रकार रँभाता हुआ (शब्द करता हुआ) सॉड गायों के झुण्ड की ओर जाता है, उसी प्रकार सोम स्तुतियों की ओर जाता हुआ शब्द करता है।"[३९४]

"मरुद्गण सॉड की भाँति मुश्किल से वश में करने योग्य हैं।"[३९५]

"निरन्तर गतिशील वृषभों के समान मरुद्गण रात्रियों को पार कर जाते हैं। अर्थात् आगे बढ़ जाते हैं।"[३९६]

३. अश्व-

वैदिक समाज में अश्व का स्थान भी अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण था और वह अश्व अत्य, अर्वा, वाजी, सप्ती आदि अनेक नामों से वर्णित है। उपयोगिता के साथ उसको उपमान बनाने के लिए वेदों में अनेक विशेषण पदों का प्रयोग किया गया है। उसके उपमानत्व में साधारणधर्मिता से उसका तीव्रगामी होना, उसकी क्रीड़ा–परता, उसका उपहारों को आहरण करने का भाव और उसकी योग्यता आदि विद्यमान हैं।

"ऋत्विक् जन अग्नि को धारण करके उसी प्रकार यज्ञ में ले जाते हैं कि जिस प्रकार रथ में जुडे हुए घोड़े रथ के स्वामी को धारण करके इच्छित या निर्दिष्ट स्थान पर ले जाते हैं"[३९७]

"अग्नि उसी प्रकार लकड़ियों में ज्वालारूपी जिह्वा को अत्यधिक प्रकम्पित करता है, जिस प्रकार रथ के योग्य घोड़ा दंश (डाँस मक्खी) आदि को निवारण करने के साधन पूँछ के बालों को हिलाता है।"[३९८]

"अग्नि रथ के ढोने वाले (खींचने वाले) घोड़े के समान शब्द करता है।"[३९९]

"रथ में जुडे हुए वक्रगति वाले घोड़े के समान तुम्हारे (विश्वेदेवों के) गण हमारी स्तुति या कर्म को प्राप्त करें।"[४००]

"हे इन्द्र! और हे ब्रह्मणस्पति! रथ में नियुक्त अथवा जाने वाले दो घोड़े जिस

प्रकार अन्न और घास आदि की तरफ शीघ्र आते हैं, उसी प्रकार तुम दोनो भी हमारी हवि (हवनीय द्रव्यों) की ओर अनुकूलतापूर्वक आओ।"[४०१]

"हे घूमने वाली पृथ्वी! निःसन्देह तू हिनहिनाते हुये घोडे के समान भरनेवाले (तृप्त करने वाले) बादल को आगे फेंकती है (उभारती है)।"[४०२]

"विद्वान् मैं घोड़े के समान यज्ञात्मक धुर् (सिरा) में अपने आप को नियुक्त कर उसका वहन करता हूँ।"[४०३]

"तीव्र गतिमान् और बलवान् घोड़े के समान बभ्रु चार हजार गौवों को जीतता है।"[४०४]

"मरुद्गण घोड़ों के समान देदीप्यमान अथवा लाल रंग के है।"[४०५]

"वे घोड़ों के समान प्रशंसा के योग्य श्रेष्ठ और शीघ्र गमनशील अर्थात् तेज चालवाले हैं।"[४०६]

"स्तुति करने वालों ने स्तोत्रों से इन्द्र को उस प्रकार बढ़ाया, कि जिस प्रकार पानी से घोड़ों को पुष्ट किया जाता है।"[४०७]

"अँगुली रूपी दस स्त्रियाँ घोड़े जैसे बलवान् सोम की शुश्रूषा करती हैं।"[४०८]

"शब्द करते हुए घोड़ों के समान ध्वनि करते हुये सोम आये।"[४०९]

"निचोड़े हुये रस से उत्पादित सोम छोड़े हुये घोड़े के समान पात्र की ओर जाता है।"[४१०]

"रथ में जुड़े हुये घोड़ों के समान यज्ञाग्नि और सोमों ने सम्पूर्ण वाञ्छित द्रव्यों का विधान किया। अर्थात् जिस प्रकार वे घोड़े रथ को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार पवमान (यज्ञाग्नि) और सोमों ने हमें धन प्रदान किया।"[४१२]

"सोम घोड़ों के समान तीव्र गमन करते हैं अर्थात् तेज चलते हैं।"[४१३]

"जिस प्रकार रथ सम्बन्धी घोड़ा छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी और आकाश रूपी सोम रस निचोड़ने की धुली हुई पवित्र शिलाओं (पटलों अथवा हथेलियों) पर आचमन किया हुआ सोम छोड़ दिया।"[४१४]

"जिस प्रकार गमन काल में रथ की धुरी अधिक तीव्र चलती है, उसी प्रकार सोम अर्घ्य देने के पात्र में बढ़--चढ़कर जाता है।"[४१५]

"आनन्दरूपी सोम भी देवता के लिए पवित्र मन को लाँघ जाता है। प्रेरणा देने वाले याज्ञिक यज्ञ में मदकारी सोम के रस को उसी प्रकार सजाते हैं, जिस प्रकार अमृत के लिए घोड़े को सजाते हैं।"[४१५]

"सोम घोड़े की तरह चिल्लाता है।"[४१६]

"जिस प्रकार घोड़े अरतबल से निकलते हैं, उसी प्रकार सोम अर्घ्य देने के पात्र से निकलते हैं।"[४१७]

"जिस प्रकार घोड़ा सर्वोपरि शक्ति रखने वाला होता हुआ टोली में शब्द करता है, उसी प्रकार रस की वर्षा करने वाला सोम शब्द करता हुआ स्थित होता है।"[४१८]

"रथ के वाहक अश्व के समान तेज चलने वाला सोम (रस) कलशों की ओर रिसता है। अर्थात् बूँद–बूँद गिरता है।"[४१९]

"सोम घोड़े के समान क्रीड़ा करता हुआ अर्घ्य देने के पात्र के चारो ओर जाता है।"[४२०]

"सोम लगातार चलने वाले घोड़े के समान संग्राम में शत्रुओं को मारता है।"[४२१]

४. वत्स-

निःसन्देह बछडे के भाव से भी सोम का प्रत्यक्ष ज्ञान (विभावन) किया जाता है। "गो माता की औडी (बाँक, स्तनों के पास का स्थान) में जिस प्रकार बछड़ा दूध पीने के लिए माला बनाता है, अर्थात् चक्कर काटता है, उसी प्रकार सबका पोषक होने से औडी स्थान पर रहने वाले इन्द्र में सोम मद के लिये हमारे द्वारा माला बनाता है।"[४२२]

"वायु अथवा यज्ञाग्नि के समान सोम माता के स्थानीय आकाश और पृथ्वी को बार–बार देखते हुये उसी प्रकार अत्यन्त शब्द करता है, जिस प्रकार बछड़ा अपनी माता गौ को देखता हुआ शब्द करता है।"[४२३]

५. भैंसा-

"जिस प्रकार भैंसे वन में चरने के लिए जाते हैं, उसी प्रकार सोम प़ात्रों में विशेष रूप से जाते हैं।"[४२४]

"भैंस के समान सोम की परिचर्या (टहल, शुश्रूषा) की जाती है।"[४२५]

६. छाग (बकरा)-

"अश्विनीकुमार दो बकरों के समान जुड़वा उत्पन्न हुये।"[४२६]

७. श्वा (कुत्ता)-

"जिस प्रकार बाधा पहुँचाने वालों से रक्षा करते हुये दो कुत्ते शरीर की भावी चोट को दूर करते हैं, उसी प्रकार हे अश्विनीकुमारो! तुम हमारे शरीर के अंगों के लिये चोट न पहुँचाने वाले बनो।"[४२७]

८. हरिण-

"अश्विनी कुमार अपने पुत्र सोमों के लिए हरिणों के समान दौड़ते हैं।"[४२८]

९. सिंह-

"क्रुद्ध सिंह के समान शत्रुगण मेरे चारों ओर खड़े हैं।"[४२९]

"अग्नि अनेक प्रकार के वनों में अत्यधिक शब्द करते हुए सिंह के समान विद्यमान रहते हैं।"[४३०]

"गुफा में प्रविष्ट हुये सिंह के समान अग्नि पानी में आश्रय लिये हुये हैं।"[४३१]

"मरुद्गण सिंहों के समान अत्यन्त गरजते हैं।"[४३२]

१०. ऋक्ष (रीछ)-

मरुद्गणों का बल रीछ के समान सामर्थ्यवान् है।

अथवा प्राणहरण से ही शान्त होने वाला है।"[४३३]

११. ऊँट-

"ऊँट के समान पूषा संग्राम से पार ले जाता है।"[४३४]

१२. पशु-

अधिकतर स्वयं पशु शब्द भी उपमान बना लिया जाता है। "अग्नि पशु के समान स्वच्छन्द घूमने वाला है, वह नियन्त्रक की उपेक्षा कर के जाता है।"[४३५]

"वह अग्नि तृणराशि को खण्डित करने वाले पशु के समान, तृण और काष्ठ आदि जहाँ फैंके या बिखेरे गये हों, ऐसे जल रहित प्रदेश को सब तरफ से जला देता है।"[४३६]

"जिस प्रकार पशु में कोई वृषभ (सॉड) वीर्य का आधान करता है, उसी प्रकार सोम, सोमपान करने के लकड़ी के चमचे के आकार के यज्ञपात्र आदि में अपने रस को रख देता है।"[४३७]

"जिस प्रकार पशु घास को चर कर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हे अग्नि! तू बहुत से वनों को दग्ध करने वाला होता है।"[४३८]

अर्थात् घास पर छोड़ा हुआ अत्यन्त भूखा पशु जैसे सब घास को खा जाता है, उसी प्रकार अग्नि वनों को जला कर खा जाता है या भस्म कर देता है।

१३. मृग-

वेदों में 'मृग' शब्द भी सामान्यतः पशु का वाचक ही कहा गया है। सायण तो 'मृग' शब्द को सिंहवाची मानता है।

"रुद्र को मृग के समान भयंकर कहा गया है।"[४३९]

"मरुद्गण भी मृग के समान भयंकर हैं।"[४४०]

घोर पुत्र कण्व ऋषि कहता है–"हे मरुद्गणों ! तुम्हारी स्तुति करने वाला

जन कभी असेवनीय न हों, जिस प्रकार तृण के भक्षणीय होने पर मृग कभी भी असेव्य नहीं होता है। (किन्तु सदा तृण–भक्षण करता है, फिर भी सेव्य है)"[४४१]

"सोम पय (पानी) आदि से मिश्रित होकर मृग की तरह जाता है।"[४४२]

"कुएँ में गिरे हुए त्रित को आधियाँ (मानसिक पीड़ाएँ) उस प्रकार खाती है, जिस प्रकार पानी की ओर जाते हुये प्यासे हरिण को भेडिया मार्ग में ही खा लेता है।"[४४३]

"जिस प्रकार बोझ ढोनेवाला पशु ठीक ढंग से चलाने के योग्य होता है, उसी प्रकार यह सोम स्तुति करनेवालों के द्वारा विनियन्ता (शासक) बनाने योग्य होता है।"[४४४]

(आ) पक्षी-

(१) विः, वयः-

वेदों में सामान्यतया पक्षी को और पक्षियों की अनेक जातियों को भी उपमान के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ऋग्वेद में **विः**, और **वयः** ये दोनों शब्द 'पक्षी' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

"जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसले में रहता है, उसी प्रकार सोम अपने पात्र में रहता है।"[४४५]

"जिस प्रकार पक्षी वृक्ष पर बैठता है, उसी प्रकार हरे रंग का सोम, सोमरस निचोड़ने के पटल पर आसीन रहता है।"[४४६]

"तेजी के साथ बहने वाली नदियाँ (सिन्धु) पक्षियों के समान धरती पर गिरती हैं।"[४४७]

"घोंसलों में रहने वाले पक्षी जिस प्रकार उडने की तैयारी करते हैं, उसी प्रकार नदियों को प्रसन्न करनेवाले जलों ने समुद्र को लक्ष्य कर जाने (बहने) का उपक्रम किया।"[४४८]

"मरुद्गण पक्षियों की पंक्ति के समान दिन भर (सूर्य छिपने तक) उड़ते हैं।"[४४९]

"जिस प्रकार पक्षी वास–स्थान से परे दूसरे देश में चले जाते हैं, उसी प्रकार रथ उत्कटतापूर्वक जाते हैं।"[४५०]

(२) शकुन-

'शकुन' शब्द का प्रयोग भी पक्षी के अर्थ में किया जाता है। "सोम की मित्रता चाहने वाले जन पक्षियों के समान सूर्य के पास जाते हैं।"[४५१]

"सोम पक्षी के समान अर्घ्य देने के पात्र में जाता है।"[४५२]

"उडने वाला पक्षी जिस प्रकार वृक्षों पर बैठ जाता है, उसी प्रकार घटित होने वाला सोम घड़ों में बैठ जाता है।"[४५३]

(३) पर्णवी-

'पर्णवी' पद भी पक्षीवाची है। "सोम, पक्षी की तरह उड़ता है।"[४५४]

"यह्वः" पद भी पक्षीवाची है। "शाखा को छोड़ते हुए पक्षियों के समान अग्नि की ज्वालाएँ आकाश की ओर फैल रही हैं।"[४५५]

(४) श्येन (बाज) अपने फुर्तीलेपन किंवा वेगत्व से बाज निःसन्देह वैदिक आर्यों का अत्यन्त प्रिय रहा है। "भयभीत हुये इन्द्र ने बाज के समान बहती हुई ९९ नदियों के जलों को पार कर लिया।"[४५६]

"हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों बाज के समान जाओ।"[४५७]

"निःसन्देह वे दोनों यजमान के लिए बाज के समान तीव्र वेग से जाते हैं।"[४५८]

"सोम, बाज के समान शीघ्र आ कर मनुष्यों में बैठता है।"[४५९]

"और वह बाज के समान आ कर जलों में बैठता है।"[४६०]

"जिस प्रकार बाज शीघ्र आकर अपने स्थान पर बैठता है, उसी प्रकार सोम अपने स्थान पर बैठता है।"[४६१]

"जिस प्रकार बाज कवच अथवा छाल जैसे सुन्दर घोंसले में प्रवेश करता है, उसी प्रकार सोम अत्यन्त शब्द करता हुआ काष्ठपात्र और कलशों की ओर जाता है।"[४६२]

(५) हंस

"पंक्तिबद्ध होकर दौड़ने का प्रयत्न करते हुए घोड़ों की तुलना हंसों से की गई है।"[४६३]

इस प्रकार पशु–पक्षियों को पशु–पक्षियों की उपमा दी गई है।

"अग्नि के वस्त्र धारण की हुई और कतार में गाड़ी गई यज्ञ की स्थूणाएँ भी आकाश में पंक्तिबद्ध होकर उड़ते हुए हंसों के समान शोभित होती हैं।"[४६४]

"जिस प्रकार हंस अपने निवास स्थानों की ओर जाते हैं, उसी प्रकार मरुद्गणों से सोम के मद (सोमरस) के लिए आने की प्रार्थना की जाती है।"[४६५]

"हंसों के समान तीव्रगामी अश्विनीकुमारों से, निचोड़े गये सोमरस के निकट जाने की प्रार्थना की जाती है।"[४६६]

"जिस प्रकार हंस अपनी मतवाली चाल से अथवा मधुर ध्वनि से मनुष्यों को अथवा हंसों को अपने वश में कर लेता है, उसी प्रकार यह सोम सभी स्तुति करने वालों की बुद्धियों को अपने वश में कर लेता है।"[४६७]

"वृषभगण हंसों की भाँति शीघ्र गये।"[४६८]

"श्येन (बाज) को उपमान बनाने में उसकी गति के वेग की व्यञ्जना की

जाती है एवं हंस के उपमानत्व में उसका सौन्दर्य व्यञ्जित होता है। हंस की मधुर वाणी भी प्रसिद्ध है इसीलिए यह उपमा दी गई है:–

''हंसा इव कृणुथ श्लोकम्।''[४६९]

अर्थात् हंसों के समान (मधुर वाणी में) श्लोक कहो।

(६) चकवा-चकवी

अश्विनी कुमारो की चाल चक्रवाक जोड़े के समान मानी है, यथा:–

''चक्रवाकेव प्रति वस्तोरुस्रा।''[४७०]

(७) गृध्र (गीध)-

अश्विनीकुमारों से धनवान् स्तुतिकर्ता के पास उसी प्रकार आने की प्रार्थना की जाती है कि जिस प्रकार फलवाले वृक्ष के पास गीध युगल आता है।''[४७१]

(८) कपोत-कपोती-

''इन्द्र सोम को उसी प्रकार निरन्तरता से प्राप्त करता है कि जिस प्रकार कबूतर गर्भ धारण करनेवाली कबूतरी को प्राप्त करता है:–

''अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।''[४७२]

यहाँ इन्द्र की तुलना कबूतर से और सोम की तुलना कबूतरी से की गई है। कबूतरी के लिए 'गर्भिणी' विशेषण प्रयुक्त करने से निश्चय ही यह उपमा अत्यन्त मर्मस्पर्शी हो गई है। कबूतर जिस प्रकार प्रेम से उत्कण्ठा से और कोमल भावना से कबूतरी के पास जाता है, उसी प्रकार इन्द्र सोम (रस) के पास जाता है। यह भाव भली–भाँति भासित हुआ है।

भाव यह है कि जिस प्रकार कबूतरी गर्भवती है उसी प्रकार सोम भी बल से गर्भवान् है। अर्थात् वह अपने में मदोत्पन्न शक्ति अन्तर्निहित किए हुए है।

(इ) कीट आदि-

(१) अहि (साँप)-जिस प्रकार साँप पुरानी त्वचा (केंचुली) को छोड़ देता है, उसी प्रकार सोम, सोमरस निचोडने आदि कर्म के द्वारा त्वचा को छोड़ देता है।[४७३]

(२) मूषक:-''जिस प्रकार चुहियां जुलाहे से बुने हुये अन्न और रस से लिप्त हुये धागों को खा लेती हैं, उसी प्रकार त्रित को मानसिक पीडाएँ खाती हैं।''[४७४]

वेदों में पशु–पक्षियों से सम्बन्धित उपमाएँ बहुतायत से पाई जाती हैं। ये उपमाएँ उपमेय, उपमान, वाचकपद और साधारण धर्म से युक्त, समस्तवस्तुविषयक और साङ्ग हैं। उपमेय और उपमान की चमत्कारपूर्ण समानता को प्रदर्शित करती हुईं ये उपमाएँ निश्चय ही सहृदयों के हृदयों को संवेदनाओं से युक्त कर हमारे

चित्तों को सहसा ही आकर्षित करती है, अर्थात् अत्यन्त प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

वैदिक ऋषियों ने वहाँ प्रायशः वात्सल्य प्रेम के लिए अथवा त्याग और उत्सुकता की भावना का आविष्कार करने के लिए 'गाय' को उपमान बनाया है। वात्सल्य की पात्रता के लिए बछड़े को, शक्तिमत्ता के लिए बैल, रीछ और भैंसे को, रक्षकत्व के लिए कुत्ते को, ऊँची गर्जना, भयंकरता और हिंसकत्व के लिए सिह को, पार ले जाने के लिए ऊँट को और स्वच्छन्दगामित्व के लिए साधारण रूप से पशु को उपमान का विषय बनाया है।

इसी प्रकार सामान्यतः पक्षी और विशेषतः बाज अपनी तीव्र गति के कारण उपमानत्व को प्राप्त हुये हैं। पंक्तिबद्धता सुन्दर चाल और मधुर ध्वनि के लिए हंस उपमान बने दिखाई पडते हैं। अपनी गति की विशेषता से और एक–दूसरे के प्रति दृढ अनुराग के कारण चकवा–चकवी ने उपमानत्व प्राप्त किया है। इसी प्रकार वैदिक ऋषियों ने प्रेम–प्रदर्शन के लिए कबूतर, लालचीपन के लिए गिद्ध, पुरानी त्वचा छोडने के लिए सांप और धागा–छेदन (कर्तन) रूपी साधारण धर्म के लिए चूहा अथवा चुहिया को उपमान बनाया है।

(च) युद्ध सम्बन्धी उपमान-

वेदों में वर्णित मनुष्य महान् योद्धा हैं। इसीलिए ऋग्वेद में युद्धक्षेत्र से लिये गये बहुत से उपमान दिखाई पड़ते हैं। जैसे कि–

(१) संग्राम का घोड़ाः-"अन्न के लाभ के लिए अर्घ्यपात्र की ओर छोड़े गये शीघ्रगामी सोम, संग्राम के लिए प्रेरित किये गये घोड़ों की भाँति शोभायमान होते हैं।"[४७५]

"यह चन्द्रमा संग्राम में जानेवाले घोड़े के समान जल में शब्द करता है।"[४७६]

(२) शूर

"गौवों के निमित्त जिस प्रकार वहादुर पुरुष संग्राम में स्थित होता है, उसी प्रकार सोम पात्र में ठहरता है।"[४७७]

जिस प्रकार शूर–वीर युद्ध की ओर जाता है, उसी प्रकार सोम द्रोण कलशों (काष्ठपात्रों) की ओर जाता है।"[४७८]

(३) अशनि (इन्द्र का वज्र):-

"सोम ने आकाश के विचित्र वज्र (इन्द्र का वज्र) के समान वैश्वानर (अग्नि) नामक महान् तेज को उत्पन्न किया।"[४७९]

(४) योद्धाः-

"जिस प्रकार वध करने वाले योद्धा युद्ध भूमि में प्रवेश करते हुये आक्रमण

करते हैं, उसी प्रकार स्तुति करनेवालों के स्तोत्रों से प्रेरित होकर बलिष्ठ सोम संयत होता हुआ यज्ञ नामक युद्ध में आक्रमण करता है।"[४८०]

(५) इषु (वाण):-

"जिस प्रकार बाण धनुष पर रखा जाता है, उसी प्रकार हमारी (हमसे की गई) स्तुति यज्ञाग्नि पर रखी जाती है!"[४८१]

"जिस प्रकार हन्ता योद्धाओं का तीव्रता से ठीक ढंग से छोड़ गया वाण शीघ्र ही लक्ष्य पर पहुँचता है, उसी प्रकार ठीक ढंग से विस्तार को प्राप्त हुआ, शीघ्रगामी, मधुयुक्त यह सोम अर्घ्य देने के पात्र के चारो ओर पहुँचता है।"[४८२]

(६) संग्राम का रथ:-

"जिस प्रकार रथ युद्ध की ओर जाते हैं, उसी प्रकार सोम (रस) इन्द्र की ओर जाते हैं।[४८३]

"यह सोम शूरवीर के समान हाथों में शस्त्र धारण करता है।"[४८४]

(७) कवची (कवचधारी):-

"हे शत्रुओ को नष्ट करने वाले सोम ! कवचधारी के समान तुन शत्रुओं का वध करो।"[४८५]

(८) धनुर्धारी:-"अंगिरा का पुत्र कृष्ण नामक ऋषि कहता है–हे अन्तरात्मा! बड़े से वडे हृदयवेधी बाण को ठीक ढंग से चलाते हुए बाणवाही धनुर्धारी के समान इन्द्र के लिए हमारे द्वारा की गई स्तुति को पहुँचाओ।"[४८६]

(९) संग्राम की ध्वजा:-"जिस प्रकार संग्राम में लड़ते हुये दोनों पक्षों का ध्वज, दूसरे ध्वज से संयुक्त होता है, उसी प्रकार इन्द्र की दोनों प्रकार की ज्योति परस्पर संयुक्त होती है।"[४८७]

इन्द्र की एक ज्योति का नाम 'अग्नि' और दूसरी का नाम 'सूर्य' है।

(१०) कवच:-"जिस प्रकार कोई पुरुष सम्पूर्ण शरीर को आच्छादित करने वाले कवच को धारण करके, बाद में उस कवच को अलग कर देता है, उसी प्रकार हे अश्विनीकुमारो! मेरे सारे शरीर में व्याप्त हो कर स्थित बुढापे को मेरे पास से दूर भगाओ, अर्थात् मुझे जरा–मुक्त करो।"[४८८]

"हे आदित्यो! जिस प्रकार योद्धा कवचों से ढके हुए रहते हैं उसी प्रकार हम भी आप सबसे ढके हुए रहें।"[४८९]

(११) दुन्दुभि:-"हे खरल! यद्यपि तू प्रचण्ड आघात (धान आदि को ओखल में डालकर मूसल से कूटना) के लिए घर–घर में प्रयुक्त होता है, तो भी यहाँ वैदिक कर्म में तीव्र मूसल के प्रहार से अत्यन्त देदीप्यमान घोर ध्वनियुक्त शब्द उसी प्रकार

करो, जिस प्रकार युद्ध में जय प्राप्त करने वाले राजाओं की दुन्दुभियाँ महान् ध्वनि करती हैं।"[४९०]

(१२) आयुध :-"योद्धा जिस प्रकार घिसकर शस्त्रों को पैना करते हैं, उसी प्रकार अपनी कान्ति से संसार को चमकाती हुई उषाएं जाती हैं।"[४९१]

(१३) दुर्ग :-"इन्द्र ने किलों के समान पानी के आच्छादन बाँधों को तोड़ दिया।"[४९२]

"घषर्णशील योद्धा जिस प्रकार किले की पूजा करते हैं, उसी प्रकार तुम श्रेष्ठता के साथ इन्द्र की अर्चना करो।"[४९३]

युद्ध सम्बन्धी ये उपमाएँ निश्चय ही मन को हरने वाली हैं।

(छ)उपमानभूत प्राकृतिक पदार्थ :-वैदिक ऋषियों ने प्रकृति को जगत् की आत्मा माना है। प्राकृतिक पदार्थों के साथ उनका स्वाभाविक तादात्म्य (एकरूपता) स्थापित हुआ था। अतः स्वभाव से ही अनेक प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों से लिये गये उपमान किसी अतीव सुन्दर और नूतन समानता की सृष्टि करते हैं।

(१) सूर्य की किरणें :-"जिस प्रकार सूर्य की किरणें दिनों की तरफ आती हैं। इसी प्रकार विश्वेदेव सोम की ओर आते हैं।"[४९४]

"मरुद्गण सूर्य की किरणों के समान दीप्ति वाले हैं।"[४९५]

"हे सोम! जिस प्रकार सूर्य किरणों से दिनों को प्रपूरित करता है, उसी प्रकार तुम आकाश और पृथ्वी को भर दो।"[४९६]

"सूर्य की किरणों के समान सोम प्रकाशयुक्त है।"[४९७]

"सूर्य की किरणों के समान वे सब एक साथ चारों ओर जाते हैं।"[४९८]

"कान्तिमान् तेज से अग्नि सूर्य के समान देदीप्यमान है।"[४९९]

गृत्समद अग्नि से प्रार्थना करता है कि "हमारा धन सूर्य के समान अधिक देदीप्यमान हो।"[५००]

"दिन में चमकदार विस्तृत गमन करने वाले सूर्य के समान गविष्ठिर ने नमस्कार अथवा हवि से युक्त स्तोत्र को अग्नि में शरण दी थी।"[५०१]

"जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण लोकों को देखनेवाला है, उसी प्रकार सोम सब कर्मों को सामीप्य से देखने वाला है।"[५०२]

"जिस प्रकार सूर्यदेव सब लोकों को पवित्र करता हुआ सब भुवनों के शीर्ष स्थान पर प्रमुखता के साथ रहता है, उसी प्रकार यह सोम भी सब लोकों को पवित्र करता हुआ समस्त लोकों के मध्य में प्रधानता के साथ स्थित है।"[५०३]

"सूर्य के समान ही सोम पार गया"[५०४]

"सोम सूर्यों के समान ही दर्शनीय है।"[505]

"हम सूरज और चाँद के समान ही कल्याण–पथ पर चलें।"[506]

यहाँ सायण का मत है कि जिस प्रकार वे दोनों (चाँद–सूरज) राक्षसों आदि के द्वारा विघ्न न किये गये आलम्ब रहित मार्ग पर संचरण करते हैं। (उसी प्रकार हम चलें)

"जिस प्रकार तेज के विसर्जन में सूर्य दर्शन के साधन मण्डल को धारण करता है, उसी प्रकार मरुद्‌गण वृष्टि के विसर्जन के लिए सबके प्रकाशक तेज को धारण करते हैं।"[507]

(२) द्यौ (आकाश) :-"इन्द्र का बल आकाश के समान प्रचुर है।"[508]

"जिस प्रकार आकाश के लोक नक्षत्रों से प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार मरुद्‌गण अपने अलंकारों से जाने जाते हैं।"[509]

"अग्निदेव आकाश के समान विस्तृत है।"[510]

"अग्नि के वीर्य से उसकी लपटें आकाश की किरणों के समान प्रकाशित होती हैं।"[511]

"जिस प्रकार आकाश नक्षत्रों से सर्वत्र व्याप्त होता है, उसी प्रकार अग्नि अपनी चिनगारियों से आकाश और पृथ्वी में सर्वत्र फैल जाता है।"[512]

"हे सोम! जिस प्रकार आकाश से वर्षा की निःसंग धाराएँ प्रजाजनों के लिए असीम अन्न प्रदान करती हैं। उसी प्रकार तुम्हारी संगरहित धाराएँ हमें अपरिमित अन्न प्रदान करती हैं।"[513]

"सब जगह जाती हुई आकाश सम्बन्धी वर्षायें जिस प्रकार सब की प्रसन्नता के लिए होती हैं। उसी प्रकार मरुद्‌गणों के रथ प्रसन्नतादायक हैं।"[514]

"बादलों से बरसते हुये, आकाश में उत्पन्न होने वाले जल, जिस प्रकार पहाडों की ओर जाते हैं, उसी प्रकार सोम, सूर्य की ओर जाते हैं।"[515]

"वर्षा के समान आकाश के सामीप्य से छनता हुआ सोम सर्वत्र फैल जाता है।"[516]

"जिस प्रकार आकाश के दिनों की सम्बन्धिनी किरणें छोड़ी जाती हैं, उसी प्रकार सोमरस की धाराऐं छोड़ी जाती हैं।"[517]

"मरुद्‌गण महत्ता से आकाश के समान विस्तृत हैं।"[518]

"अग्नि की ध्वनि आकाश को शब्दायमान करती हुई ऊपर को जाती है।"[519]

(३) समुद्र :-

"इन्द्र की कोख समुद्र की तरह बढ़ती है।"[520]

"दस महीने का गर्भ जन्म लेने के लिए समुद्र के समान चलायमान होता है।"[५२२]

"धन की इच्छा से जिस प्रकार वणिक् जन, धन के लिए संचार के निमित्त बनी नाव से समुद्र मे यात्रा करते है, उसी प्रकार स्तुति करने वाले भक्तजन भी अपने अभीप्सित धन आदि के लाभ के लिए इन्द्र की स्तुति करते हैं।"[५२३]

"जिस प्रकार समुद्र पृथ्वी के चारों ओर फैल जाते हैं। उसी प्रकार सोम यज्ञों में फैल जाते हैं।"[५२४]

(४) नदियाँ :-

"जिस प्रकार नदियाँ नीचे स्थान की ओर जाती है, उसी प्रकार सोम भी इन्द्र और वायु की ओर जाते हैं।"[५२४] काण्व मेधातिथि ऋषि ने कहा–"हे इन्द्र! मेरी स्तुतियाँ उसी प्रकार तुमको प्राप्त हों, जिस प्रकार जल निम्न स्थल को प्राप्त करते हैं।"[५२५]

"जिस प्रकार जल निम्न भूस्थलों को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार यजमान के यज्ञ इन्द्र का भजन करते हैं।"[५२६]

"जिस प्रकार मल्लाह नाव द्वारा नदी से पार पहुँचाता है, उसी प्रकार हे अग्नि! हमारे दुःख से युक्त सम्पूर्ण पापों को परे हटाओ।"[५२७]

"जिस प्रकार बड़ी नदियाँ समुद्र को परिपूर्ण करती हैं, उसी प्रकार स्तुति रूपी वाणियाँ अग्नि को पूर्ण करती हैं और सामर्थ्य के आधार पर उसे वढाती हैं।"[५२८]

"जिस प्रकार जल सब ओर से समुद्र को भरते है, उसी प्रकार इन्द्र अपने भक्त को धन से पूर्ण करते हैं।"[५२९]

"जिस प्रकार नदियाँ समुद्र को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार स्तोत्र बृहस्पति को प्राप्त करते हैं।"[५३०]

"जिस प्रकार पानी समुद्र की ओर एवं जिस प्रकार नहरें सरोवर की ओर बहती हैं, उसी प्रकार सोम, इन्द्र की ओर बहते हैं।"[५३२]

"जिस प्रकार जल ढलवॉ (नीचे को बहने वाला) मार्ग से प्रवहमान होते हैं, उसी प्रकार सोम इन्द्र के समीप जाते हैं।"[५३३]

"जिस प्रकार तीव्रता युक्त पानी अन्तरिक्ष से नीचे गिरता है, उसी प्रकार विधाता के निचोड़े गये सोमरस की तृप्त करने वाली धारा अनायास ही अर्घ्य पात्र में जाती हैं।"[५३३]

"जिस प्रकार नदियाँ ढलवाँ प्रदेश से जाती हैं, उसी प्रकार शत्रुओं को मारते हुए तीव्र गतिशील विस्तृत सोम द्रोण कलशों (काष्ठपात्रों) की ओर जाते हैं।"[५३४]

"जिस प्रकार नदियॉ अनायास ही समुद्र की ओर जाती हैं, उसी प्रकार निचोड़े गये सोमरस कलशों की ओर जाते हैं।"[५३५]

"जिस प्रकार जल ढलवॉ मार्ग से इधर–उधर जाता है, उसी प्रकार अग्नि अनुकूल मार्ग से इधर–उधर जाता है।"[५३६]

"ऋषि अग्नि से प्रार्थना करता है कि "हे अग्नि! हम तुम्हारी कृपा से सब शत्रुओ से उसी प्रकार पार हो जाये, जिस प्रकार जल की धारा से पार होते हैं।"[५३७]

"मरुद्गण नदियों के समान गमनशील होते हैं।"[५३८]

"जल के समान शत्रुओं को पराभूत करने के सामर्थ्य से युक्त मरुद्गण निश्चय ही आक्रमणकारी बल से बढते हुए, समस्त शत्रुओं को पराभूत करते हैं।"[५३९]

"जल के निधान कुएँ के समान धन–निधान इन्द्र को हम सोमरस से सींचते हैं।"[५४०]

"जिस प्रकार लहरें जल में सदा उठा करती हैं उसी प्रकार सोम रस प्याले की ओर जाते हैं।"[५४१]

"हे सोम! तुम्हारे वेग उसी प्रकार ऊपर को जाते हैं कि जिस प्रकार समुद्र की लहर की ध्वनि ऊपर को जाती है।"[५४२]

"हे सोम! तू देव सम्बन्धी संघों को मस्त करता हुआ समुद्र की लहर के समान पवित्रीकरण करता है।"[५४३]

"हे सोम! तू जल के समान शीघ्र पवित्रीकरण करता हुआ हमारे लिए सुन्दर (अनुकूल) मतिवाला हो।"[५४४]

"हे सोम! जिस प्रकार सिन्धु पानी से तृप्त करता है, उसी प्रकार तू देवताओं के पान के लिए वसतीवर्य (पात्रश्रेष्ठ) नामक जल से हमें तृप्त करता है।"[५४५]

"यह निचोड़ा गया सोमरस जल समूह की भाँति इधर–उधर उत्तम प्रकार से क्रीड़ा करता हुआ पवित्र करता है।"[५४६]

"श्यावाश्व ऋषि ने मरुद्गणों को सम्बोधित कर कहा–हे मरुद्गणों! यह हमारे द्वारा की गई स्तुति तुम्हारी ओर उसी प्रकार आ रही है, जिस प्रकार पानी की इच्छा करने वाले प्यासे को आकाश के समीप से जल की बूँदें मिलती हैं, अर्थात् स्तुति करने वाले के समीप झरने उपहार रूप में आते हैं।"[५४७]

"जब शस्त्रधारी मरुद्गण क्रीड़ा करते हैं, तब पानी की तरह पूजा और आदर–मान साथ–साथ दौड़ते हैं।[५४८]

"अश्विनीकुमार नदी के स्रोत की तरह शीघ्र जाने वाले हैं।"[५४९]

"महान् स्राव (धारा) के समान जैसे कि गंगा आदि का स्रोत विभक्त हो कर निम्न स्थलों की ओर बहता है, उसी प्रकार ब्रह्मणस्पति अपने बल से तत्तत् देवगृहों में पृथक–पृथक् गया।"[५५०]

(५) वृष्टि-बादलः- जिस प्रकार वृष्टि से जौं (यव) प्रसन्न होता है, उसी प्रकार यज्ञ की इच्छा करने वाला अग्नि स्रुवे आदि के आने से प्रसन्न होता है।"[५५१]

"सभी प्राणियों के स्वामी वरुण देवता उसी प्रकार अपने जल अथवा बादल से पृथ्वी को आर्द्र करता है कि जिस प्रकार वर्षा यवों (जौं) को गीला करती है।"[५५२]

ऋषि ने सोम के लिए कहा—"हे सोम! बरसने वाले बादल के समान तू अपने रस की धारा से पवित्रीकरण कर।"[५५३]

"जिस प्रकार वृष्टियॉं पृथ्वी को प्रसन्न करने के लिए आकाश से रिसती हैं, उसी प्रकार द्रव रूपी सोम (रस) इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए सब ओर से रिसे (क्षरित हुये)।"[५५४]

"ये सोम बादलों की वर्षा के समान बिना प्रयास ही निकलते है।"[५५५]

"वह सोम वर्षा की महती धारा के समान अन्न को बढाता है।"[५५६]

"हे सोम! जिस प्रकार बादल वर्षा का निर्माण करता है, उसी प्रकार तू मन के साथ जुड़े हुये ध्यान करने योग्य स्तोत्र की रचना कर।"[५५७]

(६) विद्युत्ः-"बरसने वाले मरुद्गण, बादलों में उत्पन्न होने वाली बिजलियों के समान सारे जग को जगमगाते हैं।"[५५८]

"इन्द्र ने जलों को मार्ग बनाकर स्थित वृत्र (बादल) को विद्युत् की अग्नि से वृक्ष के समान मार दिया।"[५५९]

"बृहस्पति से प्रार्थना की जाती हैं कि वह द्वार को घेरने वाले असुर के वीरों को ताप देने वाले वज्र से प्रताड़ित करे।"[५६०]

सोम से प्रार्थना की जाती है कि "जिस प्रकार बिजली बादलों का दोहन करती है, वह उसी प्रकार आकाश और पृथ्वी का दोहन करे।"[५६१]

"हे इन्द्र! आकाश के सामीप्य से बादलों से प्रेरित बिजली के समान शब्द करती हुई सोम (रस) की धारा तुम्हारे लिए रिसती (क्षरित होती) है अथवा पवित्रीकरण करती है।"[५६२]

"इन्द्र ने शम्बर की पुरानी नगरी को चकमक पत्थर के समान वज्र से विच्छिन्न कर दिया।"[५६३]

(७) वात-अश्विनीकुमार वायु के समान बूढे नहीं हो सकते हैं।"[५६४]

"जिस प्रकार वात कमल—सरोवर को सब ओर से सञ्चालित करता है। उसी प्रकार दस महीनें का गर्भ भी हिले—डुले।"[५६५]

"जिस प्रकार वात अन्तरिक्ष में व्याप्त होता है, उसी के सदृश इस सोम को इन्द्र के लिए धाराओं का नितान्त सहवर्ती करो अर्थात्, धाराओं में विस्तृत रूप से

फैलने वाला बना दो।"[५६६]

"सोम वायु के समान अनायास ही निकलते हैं। यह अध्याहार (न्यनूपदता को पूरा करना अथवा अनुमान) से जोडने के योग्य हैं।"[५६७]

"मरुद्गण वातों के समान शत्रुओं को कँपाने वाले और गमनशील हैं।[५६८]

इस स्थल पर सायण कहता है कि–यहाँ मारुतों सूक्त में मारुतों का ही दृष्टान्त देना, सञ्चरण स्वभावी वायु पदार्थ का उसके अभिमानी भेद के कारण विरोधी नहीं है:–

"अत्र मारुते सूक्ते मरुतामेव दृष्टान्तकथनं सञ्चरणस्वभाववायुपदार्थ तदभिमानी देवताभेदेनाविरुद्धम्।"

"वे मरुत् वातों के समान स्वयं ही श्रेष्ठ योग में दत्तचित्त और अपने काम में संलग्न हैं।"[५६९]

(८) पर्वत, अश्मा (पत्थर) और वज्र-वेदों में अजेय और दुर्धर्ष होने के कारण पर्वत उपमान रूप में लिये गये हैं।

"मरुद्गण प्रायशः पर्वत अथवा अद्रि के समान अधृष्य कहे जाते हैं।"[५७०]

"मरुद्गण वज्र के तुल्य शत्रुओं को मारने वाले हैं।"[५७१]

"जिस प्रकार सोम चन्द्रमा पर्वत के ऊपरी प्रदेश में अन्तरंग विश्वास से आगे जाता है, उसी प्रकार हे–इन्द्र! तुम्हारे ठोड़ी रूपी सरोवर में हमसे दिया हुआ सोम (रस) आरोहण करे।"[५७२]

"जिस प्रकार सोम रस निचोड़ने का पत्थर रस को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार जल प्रवाह इन्द्र के लिए स्तुति रूपी वाणी को प्रेरित करता है।"[५७३]

"शत्रु की ओर भेजे गये पत्थर के सदृश अश्विनी कुमार शत्रु को उत्पीडित करें।"[५७४]

(९) अग्निः-मरुद्गण अग्नियों के समान अपने आप ही चमकीले हैं।"[५७५]

"निःसन्देह वे अग्नियों के समान जाज्वल्यमान हैं।"[५७६]

"अग्नियों की जिह्वाओं (ज्वालाओं) के समान वे विशेष रूप से प्रकाश करने वाले हैं।"[५७७]

"वे अग्नि के समान देदीप्यमान हैं।"[५७८]

(१०) पृथ्वी

हे अश्विनीकुमारो! तुम पृथ्वी के समान हमारे जलों को प्रेरित करो :–

"क्षामेव नः समजतं रजांसि।"[५७९]

यहाँ रजस् शब्द उदक (जल) वाची है, क्योंकि–**''उदकं रज उच्यते''** (निरुक्त ४/१६) अर्थात् उदक रजः कहा जाता है।

''हे मरुद्गणों ! तुम जिस प्रकार किरणों को चलाते हो; उसी प्रकार पृथ्वी को संचालित करो।''[५८०]

(११) दिन

''मरुद्गण उसी प्रकार सबके लिए समान हैं कि जिस प्रकार दिन सबके लिए एक समान साठ घडीवाले और सात (रविवार आदि) संख्या वाले होते हैं।''[५८१]

''इन्द्र दिनों के समान धनवान् हैं।''[५८२]

यहाँ सायण का मंतव्य है कि–धन दिनों में ही उत्पन्न होते हैं, रात्रियों में नहीं।

(१२) फलः-

''हे देव ! हमारे द्वारा किये गये सब पापो को ढ़ीले किये गये बन्धनों (फलों) के समान खोल दो, अर्थात्, हमें पापमुक्त करो।''[५८३]

''षष्टिं सहस्त्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय।''[५८४]

अर्थात्–शत्रुओं का वध करने वाले इस सोम ने हमें शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार साठ हजार धन प्रदान किया जिस प्रकार फल का इच्छुक पके हुये फलों से लदे हुये वृक्ष को हिलाता है।

इस प्रकार इस वर्ग में प्रकृति से लिये गये अनेक प्रकार के उपमान विविध वर्गों से लिये गये विविध उपमेयों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

वहाँ उपमेय और उपमान में कुछ विलक्षण ही सादृश्य दिखाई पडता है। इन उपमाओं में प्रयुक्त उपयुक्त विशेषण पद, वर्णनात्मक वाक्यांश, समृद्ध शब्द भण्डार और उसी वर्ण्य वस्तु के अनेक नाम वैदिक ऋषि की अभिव्यक्ति की प्रबलता को, अनुभूति की गम्भीरता को और चिन्तन की सम्पन्नता (भाव प्रवणता) को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। यहाँ वेद में प्रायशः दीप्तिमत्ता के लिए सूर्य और अग्नि, विस्तार के लिए आकाश, वर्धनशीलत्व और कम्पनशीलता (हिलने–डुलने का भाव) के लिए समुद्र, निम्न प्रदेश में शीघ्र जाने के लिए नदियाँ, पावनता, तृप्तिशीलता और आर्द्रता के लिए जल, अनायास रिसने के भाव के लिए वृष्टि धारा, संचलन शीलता के लिए वात (मरुद्गण) और दुर्धर्षता के लिए पर्वत आदि विभिन्न उपमान विभिन्न धर्मों की व्यञ्जना के लिए प्रकृति से लिये हुये दिखाई पड़ते हैं एवं इस उपमान–योजना से निःसन्देह उन ऋषियों का सूक्ष्म प्रकृति–पर्यवेक्षण भी प्रतिभासित होता है। मुख्यतः द्युति और गति का भाव ही उनकी अभिव्यक्ति का लक्ष्य रहा है, यह भी इन उपमानों

से ज्ञात होता है।

(ज) विविध उपमानः- "अग्नि के शरीर का संवर्धन अपने संवर्धन के समान ही रमणीय है।"[५८५]

"दान का इच्छुक सोम दान के समान अर्घ्य देने के पात्र में जाता है।"[५८६]

"अग्नि, प्यासे के समान शीघ्रता करता हुआ वनों को जलातां है।"[५८७]

"पवित्र करता हुआ सोम अपनी दीप्तियों को चमकाता हुआ टपकता है।"[५८८]

ऋषि ने सोम से कहा—"जिस प्रकार तृष्णा (प्यास) जलरहित स्थान में स्थित मनुष्य को पा कर मार देती है, उसी प्रकार तू उन शत्रुओं को मार डाल।"[५८९]

"हे सोम ! तू मरुद्गणों के बल के समान वलवान् है, (अतः उन्हीं की तरह) पवित्रीकरण कर।"[५९०]

"चाहने वाले यजमानों की कामना के समान जो सोम देवताओं को दिया गया।"[५९१] (वह मनोकामनापूर्ण करे)

"हे सोम ! तुम मुझे पापों से बँधे हुए को पवित्र करते हुए गाँठ के समान अलग करो। अर्थात् जिस प्रकार गाँठ खुलते ही बन्धन समाप्त हो जाता है उसी प्रकार मुझे पाप मुक्त करो।"[५९२]

"दूरस्थ देश से जिस प्रकार सामवेद की ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसी प्रकार तुम्हारी वह सामगान की ध्वनि सबके द्वारा सुनी जाती है।"[५९३] सोम रस निचोड़ने के अभिप्राय से यह कहा। "निःसन्देह अश्विनीकुमार ही असुर विघातक, अमर, महान् बल को निश्चित व्रतों के समान मनुष्यों में सम्यक् प्रकार से व्याप्त करते हैं।"[५९४]

"जिस प्रकार पृथिवी आदि नव द्रव्य घट–पट आदि नीले–पीले रूपों को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार सूर्य देव दीप्ति का विभाजन करते हैं।"[५९५]

"हे मरुद्गणो! बलवान्, प्रदीप, बढ़ा हुआ और वर्षा करने वाला इन्द्र तुम्हारे गर्जन के समान संसार को कम्पित करता है।"[५९६]

"मरुद्गण की ध्वनि के समान अग्नि भी पकड़ा नहीं जा सकता है।"[५९७] अर्थात् अग्नि भी वायु के समान अग्राह्य है।

"जिस प्रकार त्रित प्रतिवादी के वाक्यों को खण्डित करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य शत्रुओं के दृढ और चमकीले धनों का भेदन करता है।"[५९८]

गृत्समद ने कहा—"रहने के अयोग्य गड्ढे वाले स्थान जिस प्रकार वर्जनीय होते हैं, उसी प्रकार हमें पापों को छोड़ देना चाहिए।[५९९]

"जाते हुए दिन और रात, दोनों देवताओं ने बुनने में कुशल कलाकारों के

समान परस्पर एक–दूसरे की स्तुति की।"[६००]

"घर में ठीक ढंग से स्थापित किये गये छत के आधारभूत खम्बे के समान आकाश दृढ़ हो गया।"[६०१]

"स्मृति को जगाने वाले अग्नि (परमात्मा) ने मनुष्यों को उसी प्रकार धारण किया, जिस प्रकार बॉस को धारण करने के लिए वायु से सुरक्षित खम्बा घर के ऊपर रखे बाँस को धारण करता है।"[६०२]

"हे वरुण ! मेरे निकट से रस्सी के समान पाप को ढीला करो, अर्थात्, जिस प्रकार रस्सी को खोलकर वस्तु को मुक्त किया जाता है, उसी प्रकार मुझे पाप के बन्धन से छुड़ाओ।"[६०३]

"अश्विनीकुमार (अश्व आदि के) खुरों के समान वेग से जाते हैं।"[६०४]

निःसन्देह वे दोनों पशु के सींग के समान देवताओं में शीर्ष स्थान पर हैं। अर्थात् सर्वप्रथम हैं।"[६०५]

यहॉ भी उपमानों के क्षेत्र का विस्तार स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

सारांशः-

वैदिक ऋषियों की अनुभूति का दायरा अत्यन्त विस्तृत और विविधता–पूर्ण रहा है। नित्य ही प्रकृति की गोद में खेलनेवाले उन ऋषियों का प्रकृति के साथ कोई निश्छल सम्बन्ध और कोई विलक्षण तादात्म्य (प्रकृति की अभिन्नता) हुआ है। प्रकृति के विभिन्न रूपों में उन्होंने विविध देवताओं की परिकल्पना की। उनकी जीवन–दृष्टि निःसन्देह बड़ी उदार थी। कोई भी वस्तु उनके लिए उपेक्षा का विषय नहीं बनी। इसीलिए उनके कल्पना–लोक में देवता के रूप में सम्भावित, चेतनीकृत प्राकृतिक शक्तियों का और विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों का, पशुओं का और पक्षियों का, मनुष्यों का और उसके शरीर के सम्पूर्ण अवयवों का, अनेक प्रकार के पात्र, अस्त्र और यन्त्रों का, तथा विनोदपूर्ण क्रीड़ा–केलियों का, गृहों का और गृह की वस्तुओं का, एवं मानव के मन की विविध दशा का और समाज के वर्गों का उन्मुक्त संचरण था। वैदिक कवि इन सभी क्षेत्रों से यथोचित उपमानों का संचयन करता है। यह उपमान–चयन वेद के ऋषि की अनुभूति का और अभिव्यक्ति की शक्ति का सुन्दर निदर्शन है। वहॉ उपमान और उपमेय का बहुत ही विलक्षण सादृश्य दिखाई पड़ता है। जैसे कि–दीप्तिमत्ता के लिए सूर्य और अग्नि, विस्तार के लिए आकाश, वर्धनशीलता और कम्पनत्व के लिए समुद्र, पवित्रता के लिए जल, अनायास टपकने के भाव (क्षरणत्व) के लिए वर्षा की धारा, संचलनशीलता के लिए वात (मरुत्), दुर्लंघनीयता के लिए पर्वत तथा इसी प्रकार के अनेक उपमान प्रकृति से लिये गये हैं। उसी प्रकार साधारणतया पक्षी और विशेषतः श्येन (बाज) अपने उड़ने के वेग

के कारण उपमानत्व को प्राप्त हुए हैं। पंक्तिबद्धता, सुन्दरचाल और मधुरता के लिए हंसों को उपमान बनाया गया है। अपनी गति की विशेषता और परस्पर एक–दूसरे के प्रति अनन्य प्रीति के कारण चकवा–चकवी के जोड़े ने उपमानत्व को प्राप्त किया है। इसी प्रकार प्रेम–प्रदर्शन के लिए कबूतर, लोभीपन के लिए गिद्ध, पुरानी त्वचा छोडने के लिए साँप। धागा, रस्सी, डोर और तार आदि को काटने के लिए चूहा अथवा चूहिया को उपमान बनाया। अधिक क्या, कुछ उपमाएँ तो अतीव रमणीय एवं विशिष्ट छटा छिटकाने वाली हैं। जैसे कि–गर्भ और शिशु को उपमान रूप में ग्रहण करते हुए चित्र तो निश्चय ही विचित्र कलात्मक हैं। नारी के उपमानत्व में वे ही भाव मुख्यतः ग्रहण किये गये हैं, जो कि नारी की कोमलता, कमनीयता और लुभावनापन के अभिव्यंजक हैं। जैसे कि–"जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियों में गर्भ रहता है, उसी के सदृश यह अग्नि अरणि के टुकड़ों में अथवा यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के लिए लकड़ी की दो समिधाओं में निहित है।" इसी प्रकार–इन्द्र की इच्छा से आकाश और पृथ्वी, सोम को वैसे ही अपने अन्दर धारण करते हैं जैसे माता गर्भ को धारण करती है। मरुद्गण फैलाई हुई पृथ्वी में पानी को उसी प्रकार रखते हैं, जिस प्रकार पति, पत्नी में गर्भ स्थापित करता है। दो अरणियों ने नवीन सन्तति के समान अग्नि को उत्पन्न किया। मरुद्गुण बच्चों के समान सुन्दर और खिलाड़ी हैं। वह सोम नवजात शिशु के समान वन में क्रन्दन करता है। ये सभी उपमाएँ बचपन की महिमा का वर्णन करने से अत्यधिक रमणीय और आकर्षक हैं।

यौवन के चित्र भी बड़े ही मनोहर हैं। मानव–जीवन से लिये गये उपमान, केवल वैदिक आर्यों के जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवन का चित्रण ही नहीं करते हैं, अपितु इनसे चिपका हुआ जो चित्र उभरकर सामने आता है, वह वैदिक आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और सांस्कृतिक इतिहास को भी यथावत्, उचित रूप से आविष्कृत करता है। इन उपमानों से यह भी अनुमान सम्यक् रूप से लगाया जा सकता है कि वैदिक आर्यों का कौटुम्बिक जीवन अत्यन्त उन्नत और विविधता–पूर्ण था।

वैदिक उपमाओं में प्रयुक्त उपयुक्त विशेषण पद, वर्णनात्मक वाक्यांश, समृद्ध शब्द–भाण्डार और उसी वस्तु के अनेक नाम वैदिक ऋषि की अनुभूति की गम्भीरता, अभिव्यक्ति की प्रबलता और चिन्तन की सम्पन्नता को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ऋग्, ८/१२/७
२. ऋ०, ६/४/६
३. ऋग्, २/८/४
४. ऋ०, २/२/८
५. ऋ०, २/२/७
६. ऋ०, ५/५५/४
७. ऋ०, ६/१०१/१२
८. ऋ०, ८/४३/३२

९. ऋ०, २/२/१०
१०. ऋ०, ८/४८/७
११. ऋ०, १/१००/२
१२. ऋ०, १०/७७/३
१३. ऋ०, ६/५४/३
१४. ऋ०, ६/५४/२
१५. ऋ०, ५/१६/४
१६. ऋ०, ५/५४/१५
१७. ऋग्, २/११/२०
१८. ऋ०, २/२३/२
१९. ऋ०, १०/६०/५
२०. ऋग्, २/१६/१
२१. ऋ०, १०/७८/२
२२. ऋ०, ८/२५/१९
२३. ऋ०, ५/८७/७
२४. ऋ०, २/३४/१
२५. ऋ०, १०/३१/९
२६. ऋ०, १०/११३/८
* अन्धकार का मूर्तरूप माना जाने वाला राक्षस
२७. ऋ०, १०/८४/२
२८. ऋ०, ८/४०/१
२९. ऋ०, १०/८४/१
३०. ऋ०, ५/८७/६
३१. ऋ०, ५/८७/७
३२. ऋ०, २/२५/३
३३. ऋ०, १/३०/१४
३४. ऋ०, १०/६/५
३५. ऋ०, ७/६/१
३६. ऋ०, ९/८८/४
३७. ऋ०, ९/६७/१३
३८. ऋ०, १/१८२/२
३९. ऋ०, ४/४३/३
४०. ऋ०, १०/१६६/२
४१. ऋ०, १०/१७३/२
४२. ऋ०, १/५७/३
४३. ऋग्, १०/१३४/१
४४. ऋ०, ७/१८/२०
४५. ऋ०, २/३४/१२
४६. ऋ०, १/७१/१
४७. ऋ०, १/१२१/६
४८. ऋ०, १०/६५/२
४९. ऋ०, ८/४१/५
५०. ऋ०, १/८/५
५१. ऋ०, १/१३०/१०
५२. ऋ०, १०/५६/३
५३. ऋ०, १/६५/३
५४. ऋ०, ७/८७/६
५५. ऋ०, १०/११५/७
५६. ऋ०, ८/७/२६
५७. ऋ०, १०/४५/४
५८. ऋ०, १०/६७/५
५९. ऋ०, २/४/६
६०. ऋ०, १०/१३२/६
६१. ऋग्, १/७३/२
६२. ऋ०, ९/६७/४८
६३. ऋग्, १०/३४/८
६४. द्रष्टव्य ऋक् १/७३/३
६५. ऋग् ७/७६/२
६६. ऋग्, १/१३२/५
६७. ऋ०, १/१३९/१
६८. ऋ०, ५/५२/१५
६९. ऋ०, ९/६३/१३
७०. ऋ०, ९/२/६
७१. ऋ०, ८/१०२/१२
७२. ऋ०, १/१५६/१
७३. ऋ०, १०/७/५
७४. ऋ०, ५/१०/२
७५. ऋ०, २/४/१
७६. ऋ०, १०/२२/१
७७. ऋ०, १/१२९/१०
७८. ऋ०, १०/२२/२
७९. ऋ०, ९/८८/८
८०. ऋ०, २/२/३

८१. ऋ०, १/७७/३
८२. ऋक्, १०/११/१
८३ ऋ०, १०/६६/१०
८४. ऋ०, १०/१४७/५
८५. ऋ०, ६/६०/२
८६. ऋ०, ८/६६/२१
८७. ऋ०, १/६५/१०
८८. द्रष्टव्य १/११६/२४
८९. ऋ० १/१६८/३
९०. ऋ०, १०/३६/२
९१. ऋक्, ६/४५/३२
९२. ऋ०, १/११३/१८
९३. ऋ०, ६/८८/३
९४. ऋक्, ६/५/६
९५. ऋ०, १/१७३/४
९६. ऋ०, ६/८८/३
९७. ऋ०, ६/८८/३
९८. ऋ०, ७/४१/४
९९. ऋ०, १/६२/७
१००. द्रष्टव्य ऋ० ५/१६/२
१०१. ऋ०, १/१४१/६
१०२. ऋ०, १०/१०६/६
* देवता (देव+तल्+टाप्) स्त्रीलिंग शब्द है। इसका अर्थ–देव (पुं०) है।
१०३. ऋ०, २/२७/१
१०४. ऋ०, ५/४२/५
१०५. ऋ०, ५/८६/५
१०६. ऋ०, १/६७/३
१०७. ऋ०, १/८६/१०
१०८. ऋ०, १/१६६/१२
१०९. ऋ०, ६/६६/१५
११०. ऋ०, ६/४८/१४
१११. ऋ०, १/६१/३; ६/८८/८
११२. द्रष्टव्य–वैदिक कोश, (डॉ० सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू वि०वि०), पृ०–३१
११३. ऋ०, ८/१६/२३
११४. ऋ०, १/१६८/७
११५ ऋक्, ४/३४/४
११६. ऋ०, ४/३३/८
११७. ऋ०, १०/१०५/६
११८. ऋ०, १०/१४४/२
११९. ऋक्, ८/१०२/८
१२०. ऋ०, ४/४२/३
१२१. ऋ०, १०/६४/८
१२२. वैदिक कोश, पृ. १७४, २२८
१२३. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, पृ० ४३०
१२४. ऋ०, १/३१/१७
१२५. ऋ०, १/४५/३
१२६. ऋ०, ५/२/७
१२७. ऋ०, ५/६१/१०
१२८. ऋक्, ८/५/२५ व ८/५/२६
१२९. ऋक्, ५/२१/१
१३०. ऋक्, ६/६६/१२
१३१. ऋ० १०/११०/८
१३२. ऋ० १०/७६/३
१३३. ऋक्, १/३१/१७ व १/४५/३
१३४. ऋ० ८/४३/१३
१३५. ऋ० १०/८७/१२
१३६. ऋ० ६/१०१/१३
१३७. ऋ० ८/१०२/४
१३८. ऋ० १०/३६/१४
१३९. ऋ० ८/६/११
१४०. ऋ०, २/१०/६
१४१. ऋ०, २/१७/१
१४२. ऋ०, ३/२६/२
१४३. ऋ०, ३/४६/५
१४४. ऋ०, ५/५८/७
१४५. ऋ०, ३/१५/२
१४६. ऋ०, ५/६/३

१४७. ऋ०, ६/८६/३६
१४८. द्रष्टव्य–ऋ०, १०/७५/४
१४६. द्रष्टव्य–ऋ०, १०/४/३
१५०. द्रष्टव्य–ऋ०, ७/५६/१६
१५१. द्रष्टव्य–ऋ०, ६/११०/१०
१५२. द्रष्टव्य–ऋ०, १०/७८/६
१५३. ऋ०, ६/१०५/१ तथा ऋ० ६/१०४/१
१५४. ऋ०, ६/६१/१४
१५५. ऋ०, ६/७४/१
१५६. ऋग् ६/६३/२
१५७. ऋ० १/१८६/५
१५८. ऋ०, ८/३५/५
१५६. ऋ०, ६/८६/१६
१६०. ऋ०, १०/३०/५
१६१. ऋ०, ३/५२/३ व ३/६२/८
१६२. ऋ०, ५/६०/४
१६३. ऋ०, १/८३/२
१६४. ऋ०, ६/४६/२
१६५. ऋ०, १०/४०/२
१६६. ऋ०, ४/१६/२
१६७. ऋ०, ८/४५/२०
१६८. ऋ०, ५/५४/६
१६६. ऋ०, ८/२५/६
१७०. ऋ०, ५/१/४
१७१. द्रष्टव्य–ऋ०, २/३६/५
१७२. ऋ० ५/५६/३
१७३. ऋ० २/३६/६
१७४. ऋ० १०/१०६/६
१७५. ऋ०, २/३६/६
१७६. ऋ०, १०/६८/६
१७७. ऋ० १/१६८/५
१७८. ऋ० १०/६७/६
१७६. ऋ० २/३६/५
१८०. ऋ० २/३६/७
१८१. ऋ० ६/१०१/१४
१८२. ऋ० १/४१/२
१८३. ऋक् २/३६/६
१८४. ऋक् १/१७३/६
१८५. ऋक् १/२८/२
१८६. ऋक् २/३६/५
१८७. ऋक् १०/१०६/६
१८८. ऋक् ५/६७/३
१८६. ऋक् २/३६/६
१६०. ऋग् ५/७८/५
१६१. ऋग्–१०/६८/६
१६२. ऋ० १०/१३४/५
१६३. ऋ० १/२३/३
१६४. ऋ० १/११७/१५
१६५. ऋग् १०/६१/३
१६६. ऋग् ६/६३/२
१६७. ऋग् ६/१०७/१०
१६८. ऋग् १०/७६/७
१६६. ऋग् १०/१०५/३
२००. ऋग् ८/६२/६
२०१. ऋग् १०/२२/६
२०२. ऋग् २/२०/१
२०३. ऋग् २/१६/८
* अप्–जल (परिनिष्ठित भाषा में केवल बहुवचन में ही रूप होता है, यथा–आपः आदि)
२०४. ऋग् १०/१२४/८
२०५. ऋग् १०/१०६/६
२०६. ऋग् १/२५/१
* द्रष्टव्य–मनु० ७/१८७
२०७. ऋग् १/१२६/५
२०८. ऋग् २/३३/६
२०६. ऋग् २/२०/१
२१०. ऋग् २/२७/१६
२११. ऋग् २/१६/८
२१२. ऋ० ६/७७/३
२१३. ऋ० ६/४६/२
२१४. ऋ० ६/३२/५
२१५. ऋ० ६/६६/२४

२१६ ऋ० २/३६/२
२१७. ऋ० १०/६३/१
२१८. ऋ० १/६२/३
२१६. ऋ० १/४८/५
२२०. ऋ० १/१२४/३
२२१. ऋ० १/१२४/८
२२२. ऋ० १०/१६८/२
२२३. ऋ० १०/१०२/११
२२४. ऋ० ५/७८/४
२२५. ऋ० ५/६१/३
२२६. ऋ० ५/८०/५ तथा ५/८०/६
२२७. ऋ० ५/५२/१४
२२८. ऋ० १/१/६
२२६. ऋ० १/३८/१
२३०. ऋग् १/१०४/६
२३१. ऋ० १/१८५/२
२३२. ऋ० १०/२२/३
२३३. ऋ० १०/२३/५
२३४. ऋ० १०/२५/३
२३५. ऋ० १०/३६/६
२३६. ऋ० १०/१३१/५
२३७. ऋ० १०/१०६/४
२३८. ऋ० ८/२१/१४
२३६. ऋ० ८/४८/४
२४०. ऋग् १०/१८/११
२४१. ऋग् १०/१८/१०
२४२. ऋग् १०/७५/४
२४३. ऋग् १०/६/२
२४४. ऋग् ३/३/११ तथा १/५६/४ आदि।
२४५. ऋग् १/१००/५
२४६. ऋग् १/१६६/२
२४७. ऋग् ६/१०७/१३
२४८. ऋग् ८/१६/२७
२४६. ऋग् १/६८/६
२५०. ऋग् १/६६/३
२५१. ऋग् १०/१/७
२५२. ऋग् ८/२७/२२
२५३. ऋग् ७/४३/३
२५४. ऋग् ७/३२/२
२५५. ऋग् ३/३५/२
२५६. ऋग् १/१२३/११
२५७. ऋग् ६/४६/२
२५८. ऋग् २/१७/७
२५६. ऋग् ६/८६/३२
२६०. ऋग् १/१८६/७
२६१. ऋग् १/६२/११
२६२. ऋग् ६/८२/४
२६३. ऋग् १०/१०/७
२६४. ऋग् १०/७१/४
२६५. ऋग् १०/६१/१३
२६६. ऋग् १०/११०/५
२६७. ऋग् १/६२/१०
२६८. ऋग् १/८५/१
२६६. ऋग् १०/१११/१०
२७०. ऋग् १/१२२/२
२७१. ऋग् १/१०५/८
२७२. ऋग् १/६५/४
२७३. ऋग् १०/१३/२
२७४. ऋग् ५/५७/४
२७५. ऋग् ८/२/२०
२७६. द्रष्टव्य–आप्टे, संस्कृत–हिन्दी कोश, १६६७ का संस्करण, पृष्ठ–४०३
२७७. ऋग् १०/२३/७
२७८. ऋग् १०/६६/१४
२७६. ऋग् ६/२/६
२८०. ऋग् ८/४८/४
२८१. ऋग् ६/१०४/५
२८२. ऋग् ६/१०५/५
२८३. ऋग् १०/२२/२
२८४. ऋग् ६/८८/८
२८५. ऋग् ८/२३/८
२८६. ऋग् ८/३१/१४
२८७. ऋग् ४/३३/१०

२८८. ऋग् ६/४८/१
२८९. ऋग् १/१४३/७
२९०. ऋग् १/१६०/६
२९१. ऋग् ८/१६/८
२९२. ऋग् १/७३/१
२९३. ऋग् १/१३०/१
२९४. ऋग् ६/८२/१
२९५. ऋग् ६/६०/६
२९६. ऋग् ६/६२/६
२९७. ऋग् १/६५/४
२९८. ऋग् १/६७/१
२९९. ऋग् १०/७५/४
३००. ऋग् १/७१/४
३०१. ऋग् १०/४०/३
३०२. ऋग् १/२७/१२
३०३. ऋग् १/१२८/७
३०४. ऋग् १/३७/८
३०५. ऋग् १/१७३/३
३०६. ऋग् ८/५/३
३०७. ऋग् ६/६७/३८
३०८. ऋग् ८/८४/२
३०९. ऋग् ६/८८/३
३१०. ऋग् ८/८१/४
३११. ऋग् ५/३१/१
३१२. ऋग् ७/१३/३
३१३. ऋग् १०/२३/६
३१४. ऋग् १/६५/१
३१५. तैत्तिरीय संहिता २/६/६/१
३१६. ऋग् १०/७२/२
३१७. ऋग् ६/६५/२
३१८. ऋग् २/४२/१
३१९. ऋग् १/१८३/५
३२०. ऋग् १/१३४/३
३२१. ऋग् ६/१०१/१४
३२२. ऋग् ८/२/१२
३२३. ऋग् १/३६/५
३२४. ऋग् ८/२६/६
३२५. ऋग् १/१६१/५
३२६. ऋग् १/५०/२
३२७. ऋग् १/११६/२५
३२८. ऋग् ६/६६/४
३२९. ऋग् १/३७/६
३३०. ऋग् ५/२६/१५
३३१. ऋग् १०/१०६/१
३३२. ऋग् १/१४०/१
३३३. ऋग् १/७०/५
३३४. ऋग् ६/६४/१
३३५. ऋग् १/५८/६; १/६०/१, १/६६/१
३३६. ऋग् १/७३/१
३३७. ऋग् ८/४८/७
३३८. ऋग् ८/२०/१३
३३९. ऋग् १०/१३४/६
३४०. ऋग् १०/१०/८
३४१. ऋग् ८/४१/६
३४२. ऋग् १/१८५/१ तथा निरुक्त ३/२२
३४३. ऋग् ८/६/३८
३४४. ऋग् १०/६१/१६
३४५. ऋग् १०/८६/२
३४६. ऋग् १०/८६/४
३४७. ऋग् १०/११७/५
३४८. ऋग् १/१३१/२
३४९. ऋग् १०/५६/७
३५०. ऋग् १०/११६/६
३५१. ऋग् २/१६/७
३५२. ऋग् २/४२/१; ६/६५/२
३५३. ऋग् ८/६६/११
३५४. ऋग् १०/११६/६
३५५. ऋग् १/४६/७
३५६. ऋग् ८/४/१६
३५७. द्रष्टव्य—सायण भाष्य ऋ. १/११६/१७
३५८. ऋग् १/६२/१०

अथर्ववेद (२०/३४/४) में भी 'श्वघ्नीव' पद प्रयुक्त हुआ है।
३५९. ऋग् ९/१०/३
३६०. ऋग् ५/६२/५
३६१. ऋग् १/७३/१
३६२. ऋग् ९/९२/६
३६३. ऋग् ९/९७/४७
३६४. ऋग् ८/१२/३३
३६५. ऋग् १/१६८/७
* Food or drink, dainties, libations (मोनियर विलियम्'स डिक्शनरी)
३६६. ऋग् १/६१/१
३६७. ऋग् १०/९६/१
३६८. ऋग् ९/६७/११
३६९. ऋग् ८/१२/४
३७०. ऋग् ८/३९/३
३७१. ऋग् १/१३७/३
३७२. ऋग् २/३४/८
३७३. ऋग् २/१४/१०
३७४. ऋग् २/१६/८
३७५. ऋग् ५/५६/५
३७६. ऋग् ५/५३/१६
३७७. ऋग् १/९१/१३
३७८. ऋग् २/२/९
३७९. ऋग् ५/५९/३
३८०. ऋग् ९/६६/१२
३८१. ऋग् १/२५/१६
३८२. ऋग् ९/६८/१
३८३. ऋग् ९/८६/२
३८४. ऋग् ९/१००/१; १/१८६/७; ९/१००/७
३८५. ऋग् ९/११२/३
३८६. ऋग् २/३४/१५
३८७. ऋग् ९/१२/२
३८८. ऋग् ९/१३/७
३८९. ऋग् ९/९४/२
३९०. ऋग् ५/२/४
३९१. ऋग् ९/१५/४
३९२. ऋग् १/५५/१
३९३. ऋग् ९/४७/१; ७१/३; ९/१०८/२
३९४. ऋग् १/७१/९; ९/७६/५; ९६/२०; ११०/९
३९५. ऋग् ५/५६/४; ५/५६/३
३९६. ऋग् ५/५२/३
३९७. ऋग् १/१८४/३
३९८. ऋग् २/४/४
३९९. ऋग् २/४/६
४००. ऋग् २/३१/७
४०१. ऋग् २/२४/१२
४०२. ऋग् ५/८४/२
४०३. ऋग् ५/४६/१
४०४. ऋग् ५/३०/१४
४०५. ऋग् ५/५९/५; ५/५९/३
४०६. ऋग् १०/७८/५
४०७. ऋग् २/१३/५
४०८. ऋग् ९/६/५
४०९. ऋग् ९/१०/१
४१०. ऋग् ९/१६/१; ९/८७/७
४११. ऋग् ९/२१/४
४१२. ऋग् ९/६५/२६
४१३. ऋग् ९/३६/१
४१४. ऋग् ९/५४/४
४१५. ऋग् ९/६२/६
४१६. ऋग् ९/९४/३; ९/९७/१८; ९/९७/२८ आदि
४१७. ऋग् ९/६६/१०
४१८. ऋग् ९/७७/५
४१९. ऋग् ९/८१/२; ९/९३/१
४२०. ऋग् ९/८६/२६; ९/८६/४४

४२१. ऋग् ६/६६/१५
४२२. ऋग् ६/६६/१
४२३. ऋग् ६/७०/६
४२४. ऋग् ६/३३/१
४२५. ऋग् १/६५/४
४२६. ऋग् २/३६/२
४२७. ऋग् २/३६/४
४२८. ऋग् ५/७८/२
४२९. ऋग् ५/१५/३
४३०. ऋग् ३/२/११
४३१. ऋग् ३/६/४
४३२. ऋग् १/६४/८
४३३. ऋग् ५/५६/३
४३४. ऋग् १/१३८/२
४३५. ऋग् २/४/७
४३६. ऋग् ५/७/७
४३७. ऋग् ६/६६/६
४३८. ऋग् ५/६/४
४३९. ऋग् २/३३/११
४४०. ऋग् २/३४/१
४४१. ऋग् १/३८/५
४४२. ऋग् ६/३२/४
४४३. ऋग् १/१०५/७
४४४. ऋग् ६/६६/१५
४४५. ऋग् ६/६२/१५
४४६. ऋग् ६/७२/५
४४७. ऋग् २/२८/४
४४८. ऋग् २/१६/२
४४९. ऋग् ५/५६/७
४५०. ऋग् २/३१/१
४५१. ऋग् ६/१०७/२०
४५२. ऋग् ६/८६/१३
४५३. ऋग् ६/६६/२३
४५४. ऋग् ६/३/१
४५५. ऋग् ५/१/१
४५६. ऋग् १/३२/१४
४५७. ऋग् ५/७४/६
४५८. ऋग् ८/३५/६
४५९. ऋग् ६/३८/४
४६०. ऋग् ६/५७/३, ६/८६/३५
४६१. ऋग् ६/६१/२१, ६५/१६; ६/७१/६
४६२. ऋग् ६/६७/१४; ६/६७/१५ आदि
४६३. ऋग् १/१६३/१०
४६४. ऋग् ३/८/६
४६५. ऋग् २/३४/५
४६६. ऋग् ५/७८/१–३; ८/३५/८
४६७. ऋग् ६/३२/३
४६८. ऋग् ६/६७/८
४६९. ऋग् ३/५३/१०
४७०. ऋग् २/३६/३
४७१. ऋग् २/३६/१
४७२. ऋग् १/३०/४
सामवेद (मंत्र सं. १५६६)
४७३. ऋग् ६/८६/४४
४७४. ऋग् १/१०५/८
४७५. ऋग् ६/१३/६
४७६. ऋग् ६/४३/५
४७७. ऋग् ६/१६/६
४७८. ऋग् ६/३७/५; ६२/१६
४७९. ऋग् ६/६१/१६
४८०. ऋग् ६/६४/२६
४८१. ऋग् ६/६६/१
४८२. ऋग् ६/६६/२
४८३. ऋग् ६/६६/६; ६/६२/१
४८४. ऋग् ६/७६/२
४८५. ऋग् ६/१०८/६
४८६. ऋग् १०/४२/१
४८७. ऋग् १/१०३/१
४८८. ऋग् १/११६/१०
४८९. ऋग् ८/४७/८
४९०. ऋग् १/२८/५
४९१. ऋग् १/६२/१
४९२. ऋग् १/१७४/८
४९३. ऋग् ८/६६/८

४६४. ऋग् १/३/८
४६५. ऋग् ५/५५/३
४६६. ऋग् ६/४१/५
४६७. ऋग् ६/६४/७
४६८. ऋग् ६/६६/६
४६६. ऋग् २/२/८
५००. ऋग् २/२/१०
५०१. ऋग् ५/१/१२
५०२. ऋग् ६/५४/२
५०३. ऋग् ६/५३/३
५०४. ऋग् ६/६४/६
५०५. ऋग् ६/१०१/१२
५०६. ऋग् ५/५१/१५
५०७. ऋग् ५/५६/३
५०८. ऋग् १/८/५
५०६. ऋग् २/३४/२
५१०. ऋग् २/२/२
५११. ऋग् ५/१७/३
५१२. ऋग् २/२/५
५१३. ऋग् ६/५७/१; ६२/२८
५१४. ऋग् ५/५३/५
५१५. ऋग् ६/८८/६
५१६. ऋग् ६/८६/१
५१७. ऋग् ६/६७/३०
५१८. ऋग् ५/५७/४
५१६. ऋग् ५/२५/८
५२०. ऋग् १/८/७
५२१. ऋग् ५/७८/८
५२२. ऋग् १/५६/२
५२३. ऋग् ६/८०/१
५२४. ऋग् ५/५१/७; ४/४७/२
५२५. ऋग् ८/३२/२३
५२६. ऋग् १/५७/२
५२७. ऋग् ५/४/६
५२८. ऋग् ५/११/५
५२६. ऋग् १/८३/१
५३०. ऋग् १/१६०/७
५३१. ऋग् १०/४३/७
५३२. ऋग् ६/६/४
५३३. ऋग् ६/१६/७
५३४. ऋग् ६/१७/१
५३५. ऋग् ६/८८/६
५३६. ऋग् २/४/६
५३७. ऋग् २/७/३
५३८. ऋग् १०/७८/७
५३६. ऋग् १/१६७/६
५४०. ऋग् २१/१६/७
५४१. ऋग् ६/३३/१
५४२. ऋग् ६/५०/१
५४३. ऋग् ६/८०/५
५४४. ऋग् ३/८८/७
५४५. ऋग् ६/१०७/१२
५४६. ऋग् ६/१०८/५
५४७. ऋग् ५/५७/१
५४८. ऋग् ५/६०/३
५४६. ऋग् २/३६/५
५५०. ऋग् २/२४/१४
५५१. ऋग् २/५/६
५५२. ऋग् ५/८५/३
५५३. ऋग् ६/२/६
५५४. ऋग् ६/१७/२
५५५. ऋग् ६/२२/२
५५६. ऋग् ६/८६/४४
५५७. ऋग् ६/१००/३
५५८. ऋग् २/३४/२
५५६. ऋग् २/१४/२
५६०. ऋग् २/३०/४
५६१. ऋग् ६/७६/३
५६२. ऋग् ६८/८७/८
५६३. ऋग् २/१४/६
५६४. ऋग् २/३६/५
५६५. ऋग् ५/७८/७; ५/७८/८
५६६. ऋग् २/१४/३
५६७. ऋग् ६/२२/२

५६८. ऋग् १०/७८/३
५६९. ऋग् १०/७८/२
५७०. ऋग् ५/८७/२; ५/८७/६
५७१. ऋग् १०/७८/६
५७२. ऋग् ५/३६/२
५७३. ऋग् ५/३६/४
५७४. ऋग् २/३६/१
५७५. ऋग् ५/८७/३
५७६. ऋग् ५/८७/६
५७७. ऋग् १०/७८/३
५७८. ऋग् १०/७८/२
५७९. ऋग् २/३६/७
५८०. ऋग् ५/५६/४
५८१. ऋग् ५/५८/५
५८२. ऋग् ८/६६/१६
५८३. ऋग् ५/८५/८
५८४. ऋग् ६/६७/५३
५८५. ऋग् २/४/४
५८६. ऋग् ६/२०/७
५८७. ऋग् २/४/६
५८८. ऋग् ६/४६/५
५८९. ऋग् ६/७६/३
५९०. ऋग् ६/८८/७
५९१. ऋग् ६/६७/४६
५९२. ऋग् ६/६७/१८
५९३. ऋग् ६/१११/२
५९४. ऋग् ५/६६/२
५९५. ऋग् ५/४२/२
५९६. ऋग् ५/८७/५
५९७. ऋग् १/१४३/५
५९८. ऋग् ५/८६/१
५९९. ऋग् २/२७/५
६००. ऋग् २/३/६
६०१. ऋग् ५/४५/२
६०२. ऋग् १/५६/१
६०३. ऋग् २/२८/५
६०४. ऋग् २/३६/३
६०५. ऋग् २/३६/३

उत्तरार्द्ध

उपमा संकलन

प्रथम अध्याय

(ऋग्वेद संहिता)

इव

अग्नि

१. अंशुः इव द॰ ०
अयं......आप्यायताम्
(५–२६–११)

२. अध्वराः इव द॰ ०
ऋतजातस्य सुमेके ऋतावरी
(३–६–१०)

३. अमृतात् इव द॰ ०
अयम्अग्निः........जन्मनः
(१०–१७६–४)

४. अवनीः महीः सिन्धुम् इव द॰ ०
अग्ने, त्वां गिरः...
(५–११–५)

५. अविता विश्वासु विक्षु इव द॰ ०
ऋषूणां वस्तुः
(८–७१–१५)

६. अश्वाः (इव)विषितासः द्र० प्र
सू नयन्त
(६–६–४)

७. अश्वाः इव द्र० तव
इन्धानासः भाः
(८–२३–११)

८. असश्वता इव द० ०
समना सवर्धुक् त्वे
(१०–६६–८)

६. असिः गाम् इव द० ०
अक्रीडन् क्रीडन् हरिः
(१०–७६–६)

१०. असुरः इव द० ०
अग्निः निर्णिजम् उत् च
(८–१६–२३)

११. अस्ता इव द० ०
(अग्नि) शूरः
(१–७०–११)

१२. अस्ता इव द० ०
स्वकीयाम् ज्वालाम्...असिष्यन्
(६–३–५)

१३. आत्मा इव द० ०
अग्निः ......शेवः
(१–७३–२)

१४. आपः इव प्रवताः द० ०
शुम्भमानाः प्रस्वः
(३–५–८)

१५. आरोकाः इव द० ०

अग्ने तव तिग्माः त्विषः
(८–४३–३)
१६. आशुम् इव आजिषु सप्तिं
द्र० नः धियः
(१०–१५६–१)
१७. इन्द्रस्य इव
द्र० वन्दमानः (अहम्)...तवसः।
(४–६–१)
१८. उग्रः इव
द्र० शर्यहा (अग्निः अस्ति०)
(६–१६–३६)
१६. उद्रः इव
द्र० सः सुभगः जनान् द्युम्नैः
(८–१६–१४)
२०. उरुव्यञ्चम् इव दिविरुक्मं
द्र० गाविष्ठिरः...अश्रेत्
(५–१–२२)
२१. उषसाम् इव
द्र० चिकित्र ते ईतयः....संति
(१०–६१–४)
२२. उषसां केतवः इव
द्र० एते ते अग्नयः
(८–४३–५)
२३. उस्रः पिता इव
द्र० द्रवन्नः यज्ञैः जारयायि
(६–१२–४)
२४. उस्राः इव प्रस्नातीः
द्र० देवाः...नः मा हासुः
(८–७५–८)
२५. ऊर्मयः सिन्धो प्रस्वनितासः इव
द्र० अग्नेः।
(१–४४–१२)
२६. एकाम् इव
द्र० दिद्युतः अग्निः रोदसी...वि
(३–७–४)
२७. कन्या इव अञ्जि अञ्जानाः वहतुं द्र० वहतुं
(४–५८–६)
२८. कविम् इव द्र०..प्रचेतसं
यं देवासः मर्त्येषु
(८–८४–२)
२६. क्षामा इव विश्वा भुवनानि द्र० यस्मिन्
पावके (६–५–२)
३०. गर्भः इव गर्भिणीषु सुधितः
द्र०जातवेदाः
(३–२६–२)
३१. गुहा इव द्र० स्वे
सदसि वृद्धम् अग्निः नवः
(३–१–१४)
३२. गावः उष्णं व्रजम् इव द्र० यविष्ठ,
त्वां जनासः
(१०–४–२)
३३. ग्रावा सोता इव द्र० (तस्मै)
देवाय शस्तिं (४–३–३)
३४. ग्रावा इव द्र० बृहत्
(त्वम्)... उच्यते
(५–२५–८)
३५. घनाः इव द्र०
तपुर्जम्भ, अराव्णः विष्वक्...
(१–३६–१६)
३६. घृतं स्रुचि इव द्र० अग्ने ते
आस्ये...
(१०–६१–१५)
३७. चन्द्रम् सुरुचम् इव (देवाः)
अग्निं ...स्वह्वारे (२–२–४)
३८. चर्म इव द्र० सूर्यस्य
रश्मयः अप्सु अनाः ...
(४–१३–४)

३९. चर्मणी इव द्र०
वैश्वानरः ..... धिषणे अवर्तयत्
(६–८–३)
४०. छाया इव द्र०
त्वम् अग्निः विश्वं भुवनम् ...
(१–७३–८)
४१. छायाम् इव द्र०
अग्ने, घृणेः ते शर्म वयम्
(६–१२–३८)
४२. जाया योनौ इव द्र०
अग्निहोत्रादिगृहे
(१–६६–५)
४३. जूर्यः इव पुरि द्र०
(अग्ने) त्वं ... रण्वः
(६–२–७)
४४. तक्ववीः इव द्र०
वने वने शिश्रिये
(१०–९१–२)
४५. तरणिः इव द्र०
अरतिः अग्निः दक्षिणे हस्ते
(१–१२८–६)
४६. तस्कराः तनू त्यजा इव द्र०
वनर्गू: दशभिः
(१०–४–६)
४७. तडित् इव द्र०
दूरे चित् सन् ... अति रोचसे।
(१/१६/७)
४८. त्वष्टा रूपा इव द्र०
अयम् (अग्निः) नः ...
(८–१०२–८)
४९. दूतः जन्यः मित्र्यः इव द्र०
कवे अग्ने, उभया
(२–६–७)
५०. द्याम् इव परिज्मानम् द्र०
चर्षणीनां होतारम्
(१–१२७–२)
५१. द्याम् इव स्तृभिः द्र०
विश्वेषाम् अध्वराणाम्
(४–७–३)
५२. द्यौः स्तनयन् इव द्र०
अग्निः अक्रन्दत्
(१०–४५–४)
५३. धाराः उदन्याः इव द्र० वयं
विश्वा द्विषः ..
(२–७–३)
५४. धासिम् इव द्र०
सुद्युते अग्नये योनिम्...
(१–१४०–१)
५५. धीरः स्वेन इव द्र०
(अग्निः) ... मनसा
(१–१४५–२)
५६. धेनुः दुहाना इव द्र०
(अग्ने त्वदीया) धीः
(२–२–६)
५७. धेनोः मंहना इव द्र०
देवस्य मंहना स्पार्हा
(४–१–६)
५८. धेनुम् इव द्र०
आयतीम् उपारां प्रति जनानाम्
(५–१–१)
५९. धेनुः सुदुघा इव द्र०
उषासा नक्ता सुविताय
(७–२–६)
६०. ध्माता इव द्र० यत्
(अग्निः) ईम् उपधमति
(५/९/५)
६१. नारी इव अनवद्या पतिजुष्टा द्र०
अग्निः भवति

(१–७३–३)
६२. नेमिः चक्रम् इव
द्र० अग्निः ... विश्वानि काव्या
(२–५–३)
६३. नेमिः अरान् इव
द्र० अग्ने त्वं देवान्
(५–१३–६)
६४. नावा इव
द्र० अग्निः नः विश्वाः द्विषः
(५–२५–६)
६५. नावा इव सिन्धुं
द्र० अग्निः नः विश्वा
(१–६६–१)
६६. नावा इव
द्र० विश्वतोमुख, नः द्विषः
(१–६७–७)
६७. नावया सिन्धुम् इव
द्र० सः त्वं नः स्वस्तये
(१–६७–८)
६८. परिज्मा इव
द्र० अग्ने (त्वं) ... (सर्वभगः)
(६–२–८)
६९. परिज्मा इव
द्र० दस्मवर्चाः क्षयसि
(६–१३–२)
७०. पव्या इव
द्र० राजन्, अजर, ... तेजसा
(६–८–५)
७१. पशुः इव अवसृष्टः
द्र० (देवान्) जिगीषसे
(१०–४–३)
७२. पशुपाः इव
द्र० अग्ने, त्वं दिव्यस्य पार्थिवस्य
(१–४४–६)

७३. पशुपाः इव द्र० ०
अग्निः त्रिविष्टि ... परि एति
(४–६–४)
७४. पशुपाः इव द्र० न.
धियः ... त्मना
(१०–१४२–२)
७५. पितुमान् इव द्र० ०
अग्ने, त्वं संदृष्टौ रण्वः
(१–१४४–७)
७६. पिता सूनवे इव द्र० ०
अग्ने, नः ... सूपायनः
(१–१–६)
७७. पिता सूनवे इव द्र० ०
अग्ने (पितृस्थानीयः)
(१–२६–३)
७८. पिता इव द्र० ०
जोहूत्रः प्रथमः अग्निः यत्
(२–१०–१)
७९. पिता पुत्रम् इव द्र० ०
सपर्यन् वध्र्यश्वः
(१०–६९–१०)
८०. पितरा इव द्र० ०
अग्ने, त्वम् उपेतौ सुमनाः
(३–१८–१)
८१. पित्रोः (इव) द्र० ०
रोदस्योः उपस्थं वैश्वानरः
(७–६–६)
८२. पुष्टिः स्वस्य इव द्र० ०
अस्य पुष्टिः रण्वा
(२–४–४)
८३. पृष्ठा वीता वृजिना च इव द्र० ०
विद्वान् (अग्निः)
(४–२–११)
८४. प्रपा धन्वन् इव द्र० हे

अग्ने (त्वं) .. असि
(१०–४–१)
८५. प्रयाः मरुताम् इव द ०
ब्रह्मणः प्रथमजा संति
(३–२६–१५)
८६. प्रसितिः शूरस्य इव द ०
अग्नेः क्षातिः ... असि
(६–६–५)
८७. बन्धुरा इव द ०
ते उषासः .... दुरोणे तस्थतुः
(३–१४–३)
८८. बृहती इव द ०
रोदसी सूतवे (अभूताम्)
(१–५६–४)
८९. भगः इव द ०
हव्यः सारथिः (सन्)
(१–१४४–३)
९०. भगः ऋतुपाः इव द ०
दैवीनां क्षितीनां ... नेता
(३–२०–४)
९१. भगम् इव द ०
होतारम् अग्निं पपृचानसः
(१–१४१–६)
९२. भगस्य भुजिम् इव द ०
भुजिं समुद्रवाससम्
(८–१०२–६)
९३. स्वजेन्यं भूम पृष्ठा इव द ०
ईम् (अग्निं) घृतस्य
(५–७–५)
९४. भूमा विश्वम् इव द ०
सः मुदा पुरु काव्या ...
(८–३९–७)
९५. भ्राता इव स्वस्राम् द ०
(अग्निः हितकारी अस्ति)
(१–६५–७)
९६. ममता इव द ०
मतयः ... यं शूषं स्तोमं पवंते
(६–१०–२)
९७. माता इव द ०
पप्रथानः (त्वं) जनंजनं ... भरसे
(५–१५–४)
९८. मित्रम् इव द ०
समिधानः अग्निम् ऋंजते
(१–१४३–७)
९९. मित्रः इव द ०
यः जातवेदाः देवः ... भूत
(२–४–१)
१००. मित्रम् इव द ०
प्रियं वः श्रेष्ठम् अतिथिं स्तुषे
(८–८४–१)
१०१. मित्रम् इव द ०
प्रयोगम् अग्निम् आयवः
(१०–७–५)
१०२. मित्रः इव द ०
यः देवः जातवेदाः ... दिदिषाय्यः(२–४–१)
१०३. मृगाः क्षिपणः ईषमाणाः इव द्र०
एते घृतस्य
(४–५८–६)
१०४. मेता इव द ०
(अग्निः)... धूमं द्याम् उप
(४–६–२)
१०५. यवः वृष्टिः इव द ०
तासां (जुहादीनाम्) आगतौ
(२–५–६)
१०६. यवसा पुष्यते इव द ०
त्वं सदा रण्वः असि
(१०–११–५)

१०७.याता इव	द्र० भीमः अग्निरपि दृष्टमात्रेण	(१–७०–११)
१०८.यूथा इव क्षुमति पश्वः	द्र० देवानां यत्	(४–२–१८)
१०९.योषाः समना इव	द्र० कल्याण्यः स्मयमानासः	(४–५८–८)
११०.रथम् इव	द्र० जातवेदसे मनीषया इमं स्तोमं	(१–९४–१)
१११.रथम् इव	द्र० देवाः तं वेद्यम् अग्निम् ... न्येरिरे	(२–२–३)
११२.रथीः इव	द्र० अग्निः अध्वरं .. परि याति	(४–१५–२)
११३.रथीः इव	द्र० अग्ने ... देवहूतमान् युंक्ष्व	(८–७५–१)
११४.रथ्या इव	द्र० (अग्निः) ... स्वानीत्	(२–४–६)
११५.रयिः पितृवित्तः इव	द्र० यः (अग्निः) वयोधाः	(१–७३–१)
११६.रयिः इव	द्र० अग्निः श्रवस्यते ..	(१–१२८–१)
११७.रयिम् इव	द्र० प्रशस्तं (अग्निं) मातरिश्वा भरत्	(१–६०–१)
११८.रश्मीन् यमति इव	द्र० सः उभे जन्मनी	(१–१४१–११)
११९.राजा अजुर्यम् इव	द्र० मित्रः (अग्निः)	(१–६७–१)
१२०.राजा इव	द्र० अवृके क्षेष्यन्तः जेः	(६–४–४)
१२१.राजा अमवान् इभेन इव	द्र० अग्ने, त्वं याहि	(४–४–१)
१२२.राजानम् विशः इव	द्र० ... (स्तोतारः)	(६–८–४)
१२३.वत्सः (इव)	द्र० चरन् रुशन् इह निदातारम्	(८–७२–५)
१२४.वना इव	द्र० यस्य (अग्नेः) समृतौ वीडु	(१–१२७–३)
१२५.वना इव	द्र० यः (अग्निः) पुरूणि ... गाहते	(१–१२७–४)
१२६.वप्ता इव	द्र० यदा वातः ते शोचिः	(१०–१४२–४)
१२७.वयाः इव	द्र० अस्य (अग्नेः) ध्रुवा व्रता विद्वान्	(२–५–४)
१२८.वयाम् प्र उज्जिहानाः इव	द्र० अस्य यह्वः	(५–१–१)
१२९.वयाः (उपक्षितः) इव	द्र० अग्ने, अन्ये	(८–१९–३३)
१३०.वयाः इव	द्र० सप्त विस्रुहः ... वैश्वानरस्य	(६–७–६)
१३१.वय्या इव	द्र० उषासानक्ता .... रण्विते ततम्	(२–३–६)
१३२.वर्म स्यूतम् इव	द्र० अग्ने, त्वं नरं पासि	(१–३१–१५)
१३३.वर्म युत्सु इव	द्र० (त्वं) परिजर्भुराणः भव	(१–१४१–१०)
१३४.वस्त्रेण इव	द्र० योनिं (योनिस्थानं)	(१–१४०–१)
१३५.वाजयन् इव	द्र० यशसामस्य मीळहुषः अग्नेः	(२–८–१)
१३६.वाजी सन् (इव)	द्र० होता अग्निः नः अध्वरे	(४–१५–१)
१३७.वातः इव	द्र० हिरण्यकेशः अहिः धुनिः ...	(१–७९–१)
१३८.वार् इव	द्र० उस्रियाणां यत् ... अप व्रन्	(४–५–८)
१३९.विद्युतः वर्ष्यस्य इव	द्र० चिकित्र, श्रियः संति	(१०–९१–५)
१४०.विश्पतिः रेवान् इव	द्र० सः अग्निः शृणोतु	(१–२७–१२)

१४१.वृषभस्य इव	द्र० अग्ने, ते रवः अस्ति	(१–६४–१०)
१४२.वृषा इव	द्र० अग्निः (नमन्) .... रोरुवत्	(१–१४०–६)
१४३.शर्यहा इव	द्र० त्वम् उग्रः (असि)	(६–१६–३६)
१४४.शूरः इव	द्र० धृष्णुः च्यवनः अग्निः	(१०–६६–५)
१४५.शूरः इव	द्र० धृण्णुः च्यवनः जनानाम्	(१०–६६–६)
१४६.शूरस्य त्वेषयात् वयः इव	द्र० त्वेषयात् अग्नेः	(१–१४१–८)
१४७.शूरस्य प्रसितिः इव	द्र० अग्नेः क्षातिः .... दुर्वतुः	(६–६–५)
१४८.संसद् पितुमती इव	द्र० अग्निः सदा रण्वः	(४–१–८)
१४६.सखा सख्ये इव	द्र० अग्ने उपेतौ नः .... भव	(३–१८–१)
१५०.सप्तयः इव	द्र० नः धियः .... सनिषंत	(१०–१४२–२)
१५१.सद्म इव	द्र० धीराः (अग्निं) संमाय चक्रुः	(१–६७–१०)
१५२.सविता इव	द्र० (अग्निः) भानुं ... ऊर्ध्वं	(४–६–२)
१५३.सविता बाहू इव	द्र० औषसः अग्निः	(१–६५–७)
१५४.ससृवांसम् इव	द्र० इत्था त्मना तिरोहितम् अग्निम्	(३–६–५)
१५५.साची इव	द्र० अग्ने, त्वं विश्वा न्युञ्जसे	(१०–१४२–२)
१५६.सिंहम् इव	द्र० अद्रुहः निचिरासः स्त्रिधः	(३–६–४)
१५७.सिञ्चतीः इव	द्र० धर्माणः जुहूभिः	(१०–२१–३)
१५८.सिन्धवः समुद्राय इव	द्र० अग्ने गिरः ईरते	(८–४४–२५)
१५६.सिन्धोः इव	द्र० ...... प्राध्वने शूधनासः	(४–५८–७)
१६०.सूर्यः इव	द्र० अस्य (अग्नेः) उपदृक्	(८–१०२–१५)
१६१.सूर्यः इव	द्र० सर्पिरासुतिः ..... रोचते	(१०–६६–२)
१६२.सूर्यस्य इव	द्र० चिकित्र ते रश्मयः	(१०–६१–४)
१६३.सूर्ये चक्षूंषि इव	द्र० देवयतां मनांसि अग्निम्	(५–१–४)
१६४.सूर्यस्य दिवि शुक्रं यजतमिव	द्र० वृहतः	(१०–७–३)
१६५.सृष्टा सेना इव	द्र० (अग्निः) भयं दधाति	(१–६६–७)
१६६.सृष्टा सेना इव	द्र० यः अग्निः वराय न	(१–१४३–५)
१६७.सृष्टा सेना इव	द्र० ते (अग्नेः) प्रसितिः एति	(७–३–४)
१६८.सेना प्रगर्धिनी इव	द्र० पृथक् एषि	(१०–१४२–४)
१६६.सोमाः इव	द्र० बप्सत् याति	(५–२७–५)
१७०.सोम चम्वि इव	द्र० अग्ने ते आस्ये	(१०–६१–१५)
१७१.सोमः इव	द्र० वैश्वानराय अग्नये नव्यसी पवते	(६–८–१)
१७२.स्थूणा उपमित् इव	द्र० अग्ने त्वम् उपमित्	(१–५६–१)
१७३.स्वधितिः इव	द्र० शुचिः ष्म यस्मै (अग्नये)	(५–७–८)
१७४.स्वधितिः पूता इव	द्र० शुचिः (अग्निः) निरगात्	(७–३–६)

१७५.स्वनः मरुताम् इव	द्र० यः (अग्निः) वराय	(१–१४३–५)
१७६.होता इव	द्र० प्रीणानः (अग्निः) विधतः	(१–७३–१)

सोम

१७७.अग्नेः इव	द्र० भ्रमाः वृथा	(६–२२–२)
१७८.अत्य. इव	द्र० मृज्यते	(६–४३–१)
१७६.अत्यम् इव वाजिनम्	द्र० मृजन्ति योषणः दश	(६–६–५)
१८०.अपाम् इव ऊर्मयः	द्र० तर्तुराणाः मनीषाः	(६–६५–३)
१८१.अभ्रा इव विद्युत्	द्र० रोदसी प्र पिन्व	(६–७६–३)
१८२.अरिता इव नावम्	द्र० पथ्यां वाचम् इयर्ति	(६–६५–२)
१८३.अर्यमा इव	द्र० दक्षाय्यः	(६–८८–८)
१८४.अर्वान् इव	द्र० श्रवसे सातिम् अच्छा	(६–६७–२५)
१८५.अर्वताम् इव वाजेषु	द्र० भरेषु जिग्युषाम् असि	(६–४७–५)
१८६.अवताम् इव सर्गासः	द्र० समु प्रयन्ति	(१०–२५–४)
१८७.अश्वया इव	द्र० हरिता याति धारया	(६–१०७–८)
१८८.अहानि इव सूर्यः वासराणि द्र० नः आयूंषि		(८–४८–७)
१८६.इन्द्रस्य इव आजौ	द्र० वग्नुः आ शृण्वे	(६–६७–१३)
१६०.उक्षा इव यूथा	द्र० परियन् अरावीत्	(६–७१–६)
१६१.उपवक्ता इव होतुः	द्र० वाचम् इष्यन्	(६–६५–५)
१६२.उरु इव	द्र० गातुः	(६–६६–१५)
१६३.उशना इव काव्यम्	द्र० देवः देवानां जनिमा	(६–६७–७)
१६४.ऊर्मिः इव अपाम्	द्र०क्रीडन् पवते	(६–१०८–५)
१६५.ऊर्मेः इव सिन्धोः	द्र० ते स्वनः उदीरते	(६–५०–१)
१६६.कारिणाम् इव भरासः	द्र० गभस्त्योः दधन्विरे	(६–१०–२)
१६७.कृत्व्या इव अत्यासः	द्र० देववीतये असृग्रन्	(६–४६–१)
१६८.कृष्टिहा इव	द्र० शूषः रोरुवत् प्र एति	(६–७१–२)
१६६.गाः इव	द्र० नानाधियः अनुतस्थिम	(६–११२–३)
२००.घना इव	द्र० विष्वक् दुरितानि विघ्नन्	(६–६७–१६)
२०१.चमसाम् इव	द्र० त्वम् विवक्षसे	(१०–२५–४)
२०२.जाया इव पत्यौ	द्र० अधिशेव मंहसे	(६–८२–४)
२०३.जारम् इव योषा प्रियम्	द्र० प्रियं त्वा गावः	(६–३२–५)
२०४.द्रविणोदा इव	द्र० त्मन् विश्ववारः	(६–८८–३)
२०५.धारा इव उरु दुहे	द्र० मतिः अस्य अग्रे आयती	(६–६६–१)
२०६.नासत्या इव	द्र० हवे आ शंभविष्ठः	(६–८८–३)

२०७.निम्नेन इव सिन्धवः	द्र० घ्नतः वृत्राणि भूर्णयः	(६–१७–१)
२०८.पयसा इव धेनवः	द्र० वाश्राः अभि अर्षन्ति	(६–७७–१)
२०६.पर्जन्यः वृष्टिमान् इव	द्र० मध्वा धारया पवस्व	(६–२–६)
२१०.पर्जन्यस्य इव	द्र० वृष्टयः	(६–२२–२)
२११.पर्णवीः इव	द्र० एषः दीयति	(६–४३–१)
२१२.पिता इव सूनवे	द्र० न मृळ	(१०–२५–३)
२१३.पिता इव सूनवे	द्र० सुशेवः नः शं भव	(८–४८–४)
२१४.पित्र्यस्य इव रायः	द्र० सुतस्य ते भक्षीमहि	(८–४८–७)
२१५.पूषा इव	द्र० धीजवनः	(६–८८–३)
२१६.प्रघ्नताम् इव संततिः	द्र० पवमानः परि वारम् अर्षति	(६–६६–२)
२१७.मरुताम् इव स्वनः	द्र० नानदत् एति	(६–७०–६)
२१८.मर्य इव स्व ओक्ये	द्र० नः हृदि रारन्धि	(१–६१–१३)
२१६.महिषा इव वनानि	द्र० सोमासः प्र यन्ति	(६–३३–१)
२२०.मातरा इव	द्र० मही रोदसी सं दोहते	(६–१८–५)
२२१.मिता इव सद्म	द्र० सुतः पवित्रं पर्येति रेभन्	(६–६७–१)
२२२.योषा इव पित्र्यावती	द्र० वायुम् असृक्षत	(६–४६–२)
२२३.योषा इव सुदुघाः	द्र० सुधाराः आ यन्ति	(६–६६–२४)
२२४.रघुजा इव	द्र० त्मना मदाः अर्षन्ति	(६–८६–१)
२२५.रथाः इव	द्र० प्रस्वानासः अक्रमुः	(६–१०–१)
२२६.रथाः इव	द्र० हिन्वानासः दधन्विरे	(६–१०–२)
२२७.रथाः इव प्र वाजिनः	द्र० सर्गाः सृष्टाः अहेषत	(६–२२–१)
२२८.रथाः इव वाजयन्तः	द्रव असृग्रन् देववीतये	(६–६७–१७)
२२६.रथाः इव सातिम् अच्छ	द्र० सोमाः इन्द्रं प्र ययुः	(६–६६–६)
२३०.रथीः इव अश्वम्	द्र० इन्दुः पविष्ट सृजत्	(६–६४–१०)
२३१.रसा इव विष्टपम्	द्र० सोम विश्वतः परिसर	(६–४१–६)
२३२.राजा इव विशः	द्र० पवमानः स्पृधः अधि सीदति	(६–७–५)
२३३.राजा इव	द्र० सुव्रतः	(६–२०–५)
२३४.राजा इव इभः	द्र० सुव्रतः	(६–५७–३)
२३५.राजा इव	द्र० दस्मः	(६–८२–१)
२३६.राजा इव	द्र० क्रतुमान्	(६–६०–६)
२३७.वत्सः इव मातृभिः	द्र० इन्दुः हिन्वानः समज्यते	(६–१०५–२)
२३८.वत्सं संशिश्वरीः इव	द्र० तम् इत् गिरः	(६–६१–१४)
२३६.वर्मी इव	द्र० धृष्णो आ रुज	(६–१०८–६)
२४०.वाजम् इव	द्र० सोमः असरत्	(६–३७–५)

२४१.वाजम् इव	द्र० सोमः असरत्	(६–६२–१६)
२४२.वाजी इव सानसिः	द्र० वारं रहमाणा	(६–१००–४)
२४३.वाजिनि इव शुभः	द्र० अस्मिन् धियः स्पर्धन्ते	(६–६४–१)
२४४.वाताः इव	द्र० उरवः	(६–२२–२)
२४५.विः योना वसतौ इव	द्र० इन्दुः इह धीयते	(६–६२–१५)
२४६.वृषा इव यूथा	द्र० परि कोशम् अर्षसि	(६–७६–५)
२४७.वृषा इव यूथा	द्र० परि कोशम् अर्षन्	(६–६६–२०)
२४८.वृष्टयः पृथिवीम् इव	द्र० इन्द्रं सोमासः अक्षरन्	(६–१७–२)
२४६.वृष्टेः इव	द्र० स्वनः श्रृण्वे	(६–४१–३)
२५०.शकुना इव	द्र० सूर्यम् अति पप्तिम	(६–१०७–२०)
२५१.शर्यहा इव शुरुधः	द्र० दुर्मतीः आदेदिशानः	(६–७०–५)
२५२.शूरः यन्निव सत्त्वभिः	द्र० सिषासति	(६–३–४)
२५३.श्रौष्टी इव धुरम्	द्र० राये अनु ऋध्याः	(८–४८–२)
२५४.सखा इव सख्ये	द्र० नः गातुवित्तमः भव	(६–१०४–५)
२५५.सखा इव सख्ये	द्र० नर्यः रुचे भव	(६–१०५–५)
२५६.सखा इव सख्ये	द्र० नः शं भव	(८–४८–४)
२५७.सदम इव	द्र० पशुमान्ति होता	(६–६२–६)
२५८.सप्तिः इव	द्र० श्रवस्य	(६–६६–१६)
२५६.समुद्रम् इव सिन्धवः	द्र० धानम् आ विश	(६–१०८–१६)
२६०.सिन्धोः इव ऊर्मिः	द्र० पवमानः अर्षसि	(६–८०–५)
२६१.सिन्धोः इव प्रवणे	द्र० वृषच्युता मदासः	(६–६६–७)
२६२.सूर्यः इव	द्र० उपदृक्	(६–५४–२)
२६३.सूर्यः इव	द्र० सरांसि धावति	(६–५४–२)
२६४.सूर्यस्य इव न रश्मयः	द्र० ते सर्गाः प्र असृक्षत	(६–६४–७)
२६५.सूर्यस्य इव रश्मयः	द्र० द्रावयित्नवः	(६–६६–६)
२६६.स्तुका इव	द्र० वीता	(६–६७–१७)
२६७.होता इव	द्र० याति समनेषु रेभन्	(६–६७–४७)
२६८.होता इव सदने	द्र० चमूषु सीदन्	(६–६२–२)

इन्द्र

२६६.अंशा इव	द्र० अहं पुरः दधे	(५–८६–५)
२७०.अक्षेण इव चक्रिया	द्र० शचीभिः विष्वक्	(१०–८६–४)
२७१.अग्निः वना इव	द्र० अर्शसानं नि ओषति	(८–१२–६)
२७२.अग्नौ इव हविः समिधाने	द्र० ज्येष्ठतमाय	(२–१६–१)

२७३.अंकी इव वृक्षं पक्वं फलम्	द्र० सं पारणं वसु	(३–४५–४)
२७४.अतथा इव	द्र० मघवन् मा भूः	(१–८२–१)
२७५.अत्यम् इव	द्र० शवसे सातये धना	(१–१३०–६)
२७६.अत्यान् इव आजौ	द्र० (अन्तरिक्षात् अपः)	(३–३२–६)
२७७.अदुग्धा इव धेनवः	द्र० त्वा अभि नोनुमः	(७–३२–२२)
२७८.अपाम् इव प्रवणे	द्र० बलं दुर्धरम्	(१–५७–१)
२७९.अपाम् ऊर्मिः मदन् इव	द्र० स्तोमः अजिरायते	(८–१४–१०)
२८०.अपी इव योषा जनिमानि	द्र० रोदसी आ वव्रे	(३–३८–८)
२८१.अभीवृता इव महापदेन	द्र० गर्भाः उत्	(१०–७३–२)
२८२.अभीशून् इव सारथिः	द्र० इन्द्रं स्वस्तये	(६–५७–६)
२८३.अभ्राणि इव सानयन्	द्र० इन्द्रः उत् इयर्ति	(६–४४–१२)
२८४.अमाजूः इव पित्रोः	द्र० त्वाम् भगम् आ इये	(२–१७–७)
२८५.अया इव	द्र० देवाः परिचरन्ति	(१०–११६–६)
२८६.अरणा इव	द्र० वयं मा भूम	(८–१–१३)
२८७.अरान् इव खे खेदया	द्र० तान् इत् समखिदत्	(८–७७–३)
२८८.अर्चा इव मासा दिवि	द्र० इन्द्रे सोमः मिमिक्षः	(६–३४–४)
२८९.अर्वता इव साधुना	द्र० महः तरथतुः	(१–१५५–१)
२९०.अवताम् इव मानुषः	द्र० ऋचीषमः अवचष्टे	(८–६२–६)
२९१.अवीराम् इव	द्र० माम् अभिमन्यते	(१०–८६–६)
२९२.अशन्या इव वृक्षम्	द्र० वृत्रं जघान	(२–१४–२)
२९३.अशनिमान् इव द्यौः	द्र० समोहं रेणुम् इयर्ति	(४–१७–१३)
२९४.अश्ना इव	द्र० वीरान् तपुषा विध्य	(२–३०–४)
२९५.अश्मा इव	द्र० द्रोघ मित्रान् आ विध्य	(१०–८९–१२)
२९६.अश्मना इव पूर्वीः	द्र० शम्बरस्य पुरः बिभेद	(२–१४–६)
२९७.अश्रीर इव जामाता	द्र० अस्मत् आरे सायम्	(८–२–२०)
२९८.अस्ता इव	द्र० व्रजान् अपा वृधि	(४–३१–१३)
२९९.अस्ता इव	द्र० हरी अधि तिष्ठत्	(६–२०–६)
३००.अस्ता इव	द्र० सु प्रतरं लायम् अस्यन्	(१०–४२–१)
३०१.अह इव	द्र० रेवान्	(८–६६–१९)
३०२.अहा विश्वा इव सूर्यम्	द्र० ते मदाय त्वा	(१–१३०–२)
३०३.अहोभिः इव द्यौः	द्र० दिवोदासेभिः	(१–१३०–१०)
३०४.आपः निम्नेव	द्र० हविष्मन्तः सवनासं वाजन्ते	(१–५७–२)
३०५.आपः इव काशिना	द्र० असतः वक्ता असन्	(७–१०४–८)
३०६.उदा इव यन्त	द्र० उप त्वा कामान्	(८–९८–७)

३०७.उद्ना इव कोशम्	द्र० वसुनान्यृष्टं वज्रम्	(४–२०–६)
३०८.उदधीन् इव गभीरान्	द्र० त्वं क्रतुं पुष्यसि	(३–४५–३)
३०६.उद्री इव	द्र० अवतः नं सिञ्चते	(८–४६–६)
३१०.उद्री इव अवतः	द्र० वसुत्वना सदा पीपेथ	(८–५०–६)
३११.उप इव दिवि	द्र० धावमानम् विश्वेषां त्मना	(८–३–२१)
३१२.उरुधारा इव	द्र० इन्द्रः नः दोहते	(८–६३–३)
३१३.उशती इव	द्र० गातुः इन्द्राय येमे	(५–३२–१०)
३१४.उशतीः इव	द्र० सध्रीचीः सिन्धुम् आयन्	(१०–१११–१०)
३१५.उशनाः इव	द्र० वेधाः असुर्याय मन्म शंसति	(४–१६–२)
३१६.उषाः इव	द्र० रोदसी आ प प्राथ	(१०–१३४–१)
३१७.उस्रा इव राशयः	द्र० मरुतः त्वा वावृधानाः	(८–६६–८)
३१८.ऊर्वः इव	द्र० अस्मे कामः पप्रथे	(३–३०–१६)
३१६.ओपशम् इव	द्र० इन्द्रः द्याम् भर्ति	(१–१७३–६)
३२०.कण्वाः इव	द्र० इन्द्रं स्तोमेभिः महयन्ते	(८–३–१६)
३२१.कनीनका इव	द्र० कमनीयौ	(४–३२–२३)
३२२.कारुः उक्थ्यः इव	द्र० यत्र ग्रावा वदति	(१–८३–६)
३२३.कुल्या इव ह्रदम्	द्र० सोमाः त्वाम् प्र आशत	(३–४५–३)
३२४.कुल्या इव ह्रदम्	द्र० सोमासः इन्द्रमभि	(१०–४३–७)
३२५.क्षप्र इव	द्र० इन्द्रः वज्रम् संश्यत्	(१–१३०–४)
३२६.क्षुद्रम् इव	द्र० अघशंसः अवतरम् अव स्रवेत्	(१–१२६–६)
३२७.क्षुम्पम् इव	द्र० मर्तं पदा अस्फुरत्	(१–८४–८)
३२८.क्षोणीः इव	द्र० त्वं नः वचः हर्य	(१–५७–४)
३२६.खर्गला इव	द्र० तन्वं गूहमाना	(७–१०४–१७)
३३०.गर्भधिम् इव कपोतः	द्र० अयम् उ ते समतसि	(१–३०–४)
३३१.गवां व्रजम् इव	द्र० वज्री सोमम् अविन्दत्	(१–१३०–३)
३३२.गवाम् इव स्तुतयः	द्र० ते शाकाः संचरणीः	(६–२४–४)
३३३.गाम् इव भोजसे	द्र० सोमस्य त्वा आ हुवे	(८–६५–३)
३३४.गाः इव सुगोपाः	द्र० त्वम् क्रतुं पुष्यसि	(३–४५–३)
३३५.गिरेः इव	द्र० अस्य रसाः प्र पिन्विरे	(८–४६–२)
३३६.गोभिः इव व्रजम्	द्र० त्वा गीर्भिः आ वृणोमि	(८–२४–६)
३३७.गौः इव	द्र० पुरुष्टुतः क्रत्वा शाकिनः	(८–३३–६)
३३८.ग्रावा इव	द्र० जरिता ते वाचम् इयर्ति	(५–३६–४)
३३६.घना इव	द्र० अमित्रान् श्नथिहि	(१–६३–५)
३४०.विश्वा चक्रा इव	द्र० कृष्टयः ते अनु सत्रा	(४–३०–२)

३४१.चक्रिया इव	द्र० मरुद्भ्यः रोदसी	(४–३०–८)
३४२.चन्द्रमा इव अप्सु	द्र० सोमः चमूषु ददृशे	(८–८२–८)
३४३.चर्म इव	द्र० रोदसी समवर्तयत्	(८–६–५)
३४४.जघना इव द्वौ	द्र० अधिषवण्या कृता	(१–२८–२)
३४५.जनीः इव	द्र० सोमः त्वा अभि संवृतः	(८–१७–७)
३४६.जनीः इव एकः पतिः	द्र० सर्वाः पुरः सुसमानः	(७–२६–३)
३४७.जनिधा इव	द्र० अस्य कामं ग्मन्	(१०–२६–५)
३४८.जोष्टारः इव वस्वः	द्र० मनीषाम् इन्द्रं वरुणम्	(४–४१–६)
३४९.तष्टा इव	द्र० मनीषाम् अभि दीधय	(३–३८–१)
३५०.तष्टा इव	द्र० अहं स्तोमं सं हिनोमि	(१–६१–४)
३५१.तष्टा इव सुद्रवं नेमिम्	द्र० इन्द्रं गिरा	(७–३२–२०)
३५२.तष्टा इव वन्धुरम्	द्र० अहं मतिं पर्यचामि	(१०–११९–५)
३५३.दक्षिणया इव ओजिष्ठया	द्र० वयं रातिम्	(१–१६९–४)
३५४.दिवि इव	द्र० द्याम् अधि नः श्रोमतं धाः	(७–२४–५)
३५५.दिवि इव सूर्यं दृशे	द्र० असमातिषु क्षत्र	(१०–६०–५)
३५६.दिव्या इव अशनिः	द्र० यः अस्मधुक् तम्	(१–१७६–३)
३५७.दुघा इव	द्र० दाशुषे उप	(८–५०–३)
३५८.दूर्वायाः इव तन्तवः	द्र० दिद्यवः विष्वक्	(१–१३४–५)
३५९.दृषदा इव	द्र० रसः प्रमृण	(७–१०४–२२)
३६०.द्याम् इव उपरि वर्षिष्ठम्	द्र० देवेषु अस्माकम्	(४–३१–१५)
३६१.धन्वा इव	द्र० तान् अति इहि	(३–४५–१)
३६२.धर्म इव सूर्यम्	द्र० प्रस्वः त्वा गर्भम् अचक्रिरन्	(८–६–२०)
३६३.धिषणा इव	द्र० भागं वाजं विभक्त	(३–४९–४)
३६४.धुरि इव	द्र० एष स्तोमः उग्राय अधायि	(७–२४–५)
३६५.धेनूः इव मनवे	द्र० अस्मदर्थे समानम्	(१–१३०–५)
३६६.नावा इव यान्तम्	द्र० इन्द्रम् उभये हवन्ते	(३–३२–१४)
३६७.नासत्या इव	द्र० सुग्म्यः इन्द्रः	(१–१७३–४)
३६८.निधया इव	द्र० अस्मान् मुमुग्धि	(१०–७३–११)
३६९.निष्ट्याः इव	द्र० वयं मा भूम	(८–१–१३)
३७०.नृपती इव	द्र० इमा ब्रह्माणि	(७–१०४–६)
३७१.पक्षा इव श्येनम्	द्र० मदच्युता हरी त्वा	(८–३४–९)
३७२.पणिना इव गावः	द्र० आपः निरुद्धाः	(१–३२–११)
३७३.पदा इव पिप्रतीं जामिम्	द्र० विप्रः धीभिः	(८–१२–३१)
३७४.परश्वा इव	द्र० (अस्मद् द्वेषिणः) निवृश्चसि	(१–१३०–४)

३७५.परिधीन् इव त्रितः	द्र० वलस्य परिधीन्	(१–५२–५)
३७६.परिपन्थी इव	द्र० अयज्वनः वदः विभजन्	(१–१०३–६)
३७७.पर्जन्यः वृष्टिमान् इव	द्र० इन्द्रः ओजसा महान्	(८–६–१)
३७८.पात्रा इव	द्र० रक्षसः भिन्दन्	(७–१०४–२१)
३७९.पात्रस्य इव	द्र० (त्वया) महा अपायि	(१–१७५–१)
३८०.पादौ इव	द्र० प्रहरन् अन्यं कृणोति	(६–४७–१५)
३८१.पिता इव	द्र० इन्द्र नः शृणुहि	(१–१०४–९)
३८२.पिता इव	द्र० चारुः सुहवः च	(३–४९–३)
३८३.पिता इव	द्र० त्वम् समूहस्य आत् इत्	(८–२१–१४)
३८४.पिता इव	द्र० त्वं नः प्रमतिः असि	(७–२९–४)
३८५पिता इव	द्र० यः तविषीं शवः वावृधे	(१०–२३–५)
३८६.पिता इव	द्र० इन्द्र त्वं नः भव	(१०–३३–३)
३८७.पिता इव	द्र० अहम् वेतसून् अभिष्टये	(१०–४९–४)
३८८.पितरौ इव शम्भू	द्र० युवां सख्याय	(४–४१–७)
३८९.पुत्रम् इव प्रियं पिता	द्र० इन्द्रः (नः अवतु)	(१०–२२–३)
३९०.पुर एता इव	द्र० इन्द्र नः पश्य	(६–४७–७)
३९१.पूर्वपाः इव	द्र० अस्य सुतस्य आ पिब	(८–१–२६)
३९२.पृष्ठा इव	द्र० इन्द्रः जनिमानि विचिकाय	(१०–८९–३)
३९३.प्र इव	द्र० तत् वीर्यं चकर्थ	(१–१०३–७)
३९४.प्रयः इव	द्र० आंगूषं भरामि	(१–६१–२)
३९५.ब्रह्मा इव तन्द्रयुः	द्र० मा सु भवः	(८–९२–३०)
३९६.भागम् इव	द्र० प्रचेतसं त्वा राधः ईमहे	(८–९०–६)
३९७.भूषत् इव	द्र० अस्मै स्तोमम् आ भर	(१०–४२–१)
३९८.मघा इव निष्पपी	द्र० चर्कृतात् इत् नः	(१–१०४–५)
३९९.मनुषा इव	द्र० विश्वा सुमनानि तुर्वणिः	(१–१३०–९)
४००.मर्ताय (मर्ताविव)	द्र० ता अनु द्यून्	(५–८६–५)
४०१.महान् इव युवजानिः	द्र० अस्मान् मा अभि	(८–२–१९)
४०२.मही इव	द्र० ते कृत्तिः शरणा	(८–९०–६)
४०३.मही इव द्यौः	द्र० तस्य बलम् अव तिर	(१०–१३३–५)
४०४.मासा इव सूर्यः	द्र० पुर्य वसु आ ददे	(१०–१३८–४)
४०५.युजा इव वाजिना अन्नं	द्र० नः हविः	(२–२४–१२)
४०६.यूथा इव वंसगः	द्र० वृषा कृष्टीः ओजसा इयर्ति	(१–७–८)
४०७.यूथा इव पश्वः	द्र० इन्द्रः (शत्रुसैन्यानि)	(५–३१–१)
४०८.यूथा इव पश्वः पशुपाः	द्र० दमूना वाजौ	(६–१९–३)

४०९.यूथा इव अप्सु	द्र० समीजमानः ऊर्ती	(६–२६–५)
४१०.रघ्वीः इव प्रवणे	द्र० ऊतयः स्ववृष्टिम्	(१–५२–५)
४११.रघ्वीः इव श्रवसः	द्र० प्रविणम् इच्छमानाः	(४–४१–६)
४१२.रथाः इव	द्र० अद्रयः साकं प्र ययुः	(४–१६–५)
४१३.रथाः इव वाजयन्तः	द्र० अक्षितोतयः	(८–३–१५)
४१४.रथम् इव अश्वाः	द्र० पीताः उत् मा अयम्	(१०–११६–३)
४१५.रथान् इव	द्र० नद्यः समुद्रम् असृजः	(१–१३०–५)
४१६.रथान् इव	द्र० येन सिन्धुम् .....प्रचोदयः	(८–१२–३)
४१७.रथान् इव वाजयतः	द्र० नद्यः समुद्रम् अच्छ	(१–१३०–५)
४१८.रथीः इव	द्र० सुतेषु आ त्वा गिरः अस्थुः	(८–६५–१)
४१९.रथ्या इव	द्र० आपः समुद्रं जग्मुः	(३–३६–६)
४२०.रथ्या चक्रा इव	द्र० सूर्यः वरांसि उरु	(१०–८६–२)
४२१.रयिम् इव पृष्ठं प्रथवन्तम्	द्र० पुष्टिं प्रजाभ्यः	(२–१३–४)
४२२.रश्मीन् यमितवा इव	द्र० यत्र मन्थां विबध्नते	(१–२८–४)
४२३.राजा इव	द्र० बर्हिषि अधि निषदः	(१०–४३–२)
४२४.राजा इव जनिभिः	द्र० द्युभिः त्वं क्षेषि	(७–१८–२)
४२५.राजा इव सत्पतिः	द्र० विदथानि अच्छ	(१–१३०–१)
४२६.वंशम् इव	द्र० ब्रह्माणः त्वा उद् येमिरे	(१–१०–१)
४२७.वधूयुः इव	द्र० नः गिरः जोषयासे	(३–५२–३)
४२८.वधूयुः इव योषणाम्	द्र० नः गिरः जोषयासे	(४–३२–१६)
४२९.वना इव सुधितेभिः	द्र० पृत्सु अत्कैः वधीः	(६–३३–३)
४३०.वना इव अग्निः	द्र येन दृळहा समत्सु	(८–४०–१)
४३१.वना इव स्वधितिः	द्र० इन्द्रः वृत्रं जघान	(१०–८६–७)
४३२.वयाः इव	द्र० गिरः अनु रोहते	(८–१३–६)
४३३.वयाः इव	द्र० इन्द्रं क्षोणीः अवर्धयन्	(८–१३–१७)
४३४.वयाम् इव वृक्षस्य	द्र० इन्द्रस्य सुमतिम्	(६–५७–५)
४३५.वराः इव	द्र० देवासः ब्रह्मप्रियं जोषयन्ति	(१–८३–२)
४३६.वस्त्रा इव	द्र० अहं भद्रा सुकृता अतक्षम्	(५–२६–१५)
४३७.वस्त्रा इव गव्या	द्र० वासयन्तः नरः	(८–१–१७)
४३८.वाणीः इव त्रितः	द्र० स दृळहा चित् द्युम्ना	(५–८६–१)
४३९.वाताः इव	द्र० प्रसक्षिणः हरयः	(८–४६–८)
४४०.वाताः इव प्रदोधतः	द्र० उत् मा पीताः	(१०–११६–२)
४४१.वाशी इव प्राची सुन्वते	द्र० सनिः मित्रस्य	(८–१२–१२)
४४२.वाश्राः इव धेनवः	द्र० आपः समुद्रम् अव जग्मुः	(१–३२–२)

४४३.वाश्रा पुत्रम् इव प्रियम्	द्र० मतिः मा उप	(१०–११६–४)
४४४.विः इव	द्र० (मे पिता) हृष्यति	(१०–८६–७)
४४५.वी इव भ्राजन्तः	द्र० ऋष्टयः उप स्रक्वेषु	(७–५५–२)
४४६.वृक्षाः इव	द्र० ते पृतनायवः नि येमिरे	(८–४–५)
४४७.वृत्रः इव दासम्	द्र० अहम् बृहद्रथम्	(१०–४६–६)
४४८.वृषभा इव धेनोः	द्र० अस्याः धियः युवाम्	(४–४१–५)
४४६.वृषभा इव	द्र० मन्युना मनुष्यान् बाधसे	(६–६४–४)
४५०.वृष्टिः इव अभ्रात्	द्र० पूर्व्यस्तुतिः मन्मनः	(७–६४–१)
४५१.व्रततेः इव पुराणवत्	द्र० अपि वृश्च गुष्पितम्	(८–४०–६)
४५२.शची इव	द्र० इन्द्रम् अवसे कृणुध्वम्	(१०–७४–५)
४५३.शतानीका इव	द्र० धृष्णुया प्र जिगाति	(८–४६–२)
४५४.श्येनान् इव श्रवस्यतः	द्र० महाधने सर्गे	(६–४६–१३)
४५५.श्येनान् इव अन्तरिक्षे	द्र० महा मनसा	(१–१६५–२)
४५६.श्रायन्तः इव सूर्यम्	द्र० विश्वा इत् इन्द्रस्य	(८–६६–३)
४५७.श्वघ्नी इव	द्र० (इन्द्रः) लक्षं जिगीवान्	(३–१२–४)
४५८.श्वघ्नी इव	द्र० धनानां सनये आजिं जयेम	(४–२०–३)
४५६.श्वघ्नी इव निवताचरन्	द्र० एवारे वृषभा	(८–४५–३८)
४६०.सत्पतिः इव	द्र० इन्द्र विदथानि आ याहि	(१–१३०–१)
४६१.सद्म इव मानैः	द्र० इन्द्रः प्राचः वि मिमाय	(२–१५–३)
४६२.सपत्नीः इव	द्र० पर्शवः माम् अभितः	(१०–३३–२)
४६३.सप्तिम् इव	द्र० अस्मै श्रवस्या जुह्वा समञ्जे	(१–६१–५)
४६४.सप्ती इव आदने	द्र० ओकिवांसा सुते सचा	(६–५६–३)
४६५.समना इव केतुः	द्र० अस्य अन्यत् इदम्	(१–१०३–१)
४६६.समना इव वपुष्यतः	द्र० कृणवन् मानुषा युगा	(८–६२–६)
४६७.समुद्रः इव	द्र० अस्य सूनृता दाशुषे	(१–८–७)
४६८.समुद्रः इव	द्र० सहस्कृतः अयं पप्रथे	(८–३–४)
४६६.समुद्रः इव	द्र० पिन्वते इमं जुषस्व	(८–१२–५)
४७०.समुद्रम् इव सिन्धवः	द्र० उक्थानि इन्द्रम्	(८–६–३५)
४७१.समुद्रम् इव सिन्धवः	द्र० त्वा इन्दवः	(८–६२–२२)
४७२.समुद्राय इव सिन्धवः	द्र० अस्य मन्यवे विशः	(८–६–४)
४७३.ससताम् इव	द्र० इन्द्रः नू चित् रत्नम् अवियत्	(१–५३–१)
४७४.सिन्धून् इव प्रवणे	द्र० आशुया यतः यदि	(६–४६–१४)
४७५.सिन्धौ इव नावम्	द्र० (अहम् इन्द्राग्नी)	(१०–११६–६)
४७६.सुदुघाम् इव गोदुहे	द्र० सुरूपकृत्नुम् ऊतये जुहूमसि	(१–४–१)

४७७.सुदुघाम् इव गोदुहः	द्र० तं त्वा वयम्	(८–५२–४)
४७८.सुदृशी इव पुष्टिः	द्र० रण्वः (भवसि)	(४–१६–१५)
४७९.सूर्यः इव	द्र० अहम् अजनि	(८–६–१०)
४८०.सूर्यम् इव दिवि	द्र० शतदाव्नि अश्वमेधे	(५–२७–६)
४८१.सूर्यस्य इव	द्र० इन्द्रस्य यामः अनाप्तः	(१–१००–२)
४८२.सूर्यस्य इव	द्र० मम अनीकं दुस्तरम्	(१०–४८–३)
४८३.सूर्याः इव	द्र० भृगवः स्तोमेभिः महयन्ते	(८–३–१६)
४८४.सूर्याः इव	द्र० रघुष्पदः भ्राजन्ते	(८–३४–१७)
४८५.सेक्ता इव कोशम्	द्र० सिसिचे पिबध्यै	(३–३२–१५)
४८६.स्कन्धांसि इव कुविशेन	द्र० इन्द्रः वज्रेण वृत्रम्	(१–३२–५)
४८७.स्थिरा इव धन्वनः	द्र० अभिमातीः ओजः	(१०–११६–६)
४८८.स्वव्दी इव वंसगः	द्र० सुतं तृषाणः ओकः	(८–३३–२)
४८९.स्वेदाः इव	द्र० दिद्यवः विष्वक् अभितः	(१०–१३४–५)
४९०.हंसाः इव	द्र० हे कुशिकाः श्लोकं कृणुथ	(३–५३–१०)
४९१.होता इव	द्र० पूर्व चित्तये प्राध्वरे	(८–१२–३३)
४९२.ह्रदाः इव	द्र० सोमधानाः कुक्षयः	(३–२६–८)

अदिति, आदित्य

४९३.अश्वी इव	तान् रथेन अति येषम्	(२–२७–१६)
४९४.कूलात् इव स्पशः अधि	अव हि ख्यत	(८–४७–११)
४९५.नन्धात् बद्धम् इव	यत् बन्धात् नः मुमोचति	(८–६७–१८)
४९६.स्तेनं बद्धम् इव	वृकाणाम् आस्नात् नः मुमोचत	(८–६७–१४)
४९७.युध्यन्त इव वर्मसु	युष्मे देवाः अपि स्मसि	(८–४७–८)
४९८.श्वभ्रा इव	युष्माकं प्रणीतौ दुरितानि परि वृज्याम्	(२–२७–५)

मित्र, मित्रावरुणौ

४९९.अपस इव जनान्	श्रुधीयतः जनान् सं यतथः	(६–६७–३)
५००.अश्वाजनी इव	स्थूणा अस्य वि भ्राजते	(५–६२–७)
५०१.उपमात् इव	दृंहेथे द्योः सानुम्।	(६–६७–६)
५०२.तक्वीः इव	सूर्यं निम्रुचः उषसः स्वरन्ति।	(१–१५१–५)
५०३.पदा इव	व्रता सश्चिरे	(५–६७–३)
५०४.बर्हिः इव यजुषा	उर्वीं रक्षमाणा वर्धत्	(५–६२–५)

उषा

५०५.अभ्राता इव प्रतीची	उषा एति	(१–१२४–७)
५०६.अश्वा इव	चित्रा अरुषी उषा	(४–५२–२)

५०७.अरत्ता इव	शूरा शत्रून् अपेजते	(६–६४–३)
५०८.उस्रा इव वर्जहम्	उषा वक्षः अपोर्णुते	(१–६२–४)
५०९.कन्या इव	तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्	(१–१२३–१०)
५१०.गर्तारुक् इव	धनानां सनये गर्तम् एति	(१–१२४–७)
५११.चक्रम् इव	समानम् अर्थं चरणीयमाना नव्यसि उषा तिष्ठसि	(३–६१–३)
५१२.चन्द्रा इव	माया पुरुत्रा भानुं विदधे	(३–६१–७)
५१३.चित्रा इव	आयती प्रत्यदर्शि	(८–१०१–१३)
५१४.जाया इव पत्य उशती	सुवासाः उषा अप्सः नि रिणीते	(१–१२४–७)
५१५.जार इव	उषा परि आ चरन्ती ददृशे	(७–७६–३)
५१६.आयुधानि इव धृष्णवः	निष्कृण्वानः गावः प्रति	(१–९२–१)
५१७.नृतूः इव	पेशांसि अधि वपते	(१–९२–४)
५१८.नोधाः इव	प्रियाणि आविः अकृत	(१–१२४–४)
५१९.प्रजानती इव	ऋतस्य पन्थां साधु एति	(१–१२४–३)
५२०.प्रजानती इव	दिशः न मिनाति	(५–८०–४)
५२१.भद्रा योषा इव	नॄन् प्रति अप्सः नि रिणीते	(५–८०–६)
५२२.यती इव	पुनः न ददृक्षे	(७–७६–३)
५२३.युवतिः (इव)	संस्मयमाना वक्षांसि आविः	(१–१२३–१०)
५२४.योषा इव सूनरी	प्रभुञ्जती घा आ याति	(१–४८–५)
५२५.मातृमृष्टा इव योषा	सुसंकाशा तन्वं दृशे आविः कृणुषे	(१–१२३–११)
५२६.वायोः इव	सूनृतानाम् उदकं	(१–११३–१८)
५२७.समनगाः व्राः इव	एषा अञ्जि अङ्क्ते	(१–१२४–८)
५२८.श्वघ्नी इव कृत्नुः	मर्तस्य आयुः जरयन्ती	(१–९२–१०)
५२९.सविता इव बाहू	उषसः ज्योतिः यच्छन्ति	(७–७९–२)
५३०.(उद्यन्)सूर्यः (इव)	उर्विया ज्योतिः अश्रेत्	(१–१२४–१)
५३१.स्यूमा इव	(तमः) अव चिन्वती उषा याति	(३–६१–४)
५३२.अध्वरेषु मिताः स्वरवः इव	चित्राः उषसः पुरस्तात् अस्थुः	(४–५१–२)
५३३.स्नाती ऊर्ध्वा इव	उषाः नः दृशये अस्थात्	(५–८०–५)
५३४.हस्रा इव	उषा अप्सः नि रिणीते	(१–१२४–७)

आयुर्वेद

५३५.अञ्जः पाः इव	अद्रयः यामन् तद् इद्	(१०–९४–१३)
५३६.अत्यः न	अद्रिः हस्तयतः सोतरि	(१०–७६–२)
५३७.अभ्रात् इव वृष्टयः		(१०–७५–३)

५३८.अर्वताम् इव	एषां प्रोथथः शृण्वे	(१०–६४–६)
५३६.अश्वाः इव	वीरुधः सजित्वरीः	(१०–६७–३)
५४०.(विषिते हासमाने) अश्वे इव	पर्वतानाम्	(३–३३–१)
५४१.अहा इव सूर्यः	ऋतावरी अन्याः स्वसृ.	(६–६१–६)
५४२.आर्त्नी इव ज्यया	अत्रैव वो अपि	(१०–१६६–३)
५४३.इन्द्र इव	अहम् अक्षत अस्मि	(१–१६६–२)
५४४.इळावन्तः इव	सदमित् आशिताः	(१०–६४–१०)
५४५.उग्राः इव प्रवहन्तः	ग्रावाणः समाययुः	(१०–६४–६)
५४६.कक्ष्या युक्तम् इव	त्वाम् अन्या परि	(१०–१०–१३)
५४७.(मर्याय इव) कन्या	शश्वचै ते	(३–३३–१०)
५४८.उदकं कुम्भिनीः इव	मयूर्यः ते विषं	(१–१६१–१४)
५४६.खर्गलाः इव	या नक्तं प्रजिगाति	(७–१०४–१७)
५५०.गावः गोष्ठात् इव	ओषधीनां शुष्माः	(१०–६७–८)
५५१.(वत्सं) गौः इव	ते मनः माम् अनु	(१०–१४५–६)
५५२.जयताम् इव दुन्दुभिः	द्युमत्तमं वद	(१–२८–५)
५५३.जाया इव पत्ये	अहं तन्वं वि रिरिच्याम्	(१०–१०–७)
५५४.(प्रदोषं) तस्कराः इव	अदृष्टाः विश्वदृष्टाः	(१–१६१–५)
५५५.दृतिं इव सुरावतो	सूर्यं विषम्	(१–१६१–१०)
५५६.(सूरेः) पथ्या इव	श्लोकः एतु	(१०–१३–१)
५५७.पयसा इव धेनवः	त्वां वाश्राः अर्षन्ति।	(१०–७५–४)
५५८.(इष्वाः) पर्णम् इव	मां प्रतीचीन	(१०–१८–१४)
५५६.पूषा इव	नः सनिं रद	(६–६१–६)
५६०.बिसखा इव	ऊर्मिभिः गिरीणां सानु	(६–६१–२)
५६१.ब्राह्मणा इव व्रतचारिणः	मण्डूकाः वाचं	(७–१०३–१)
५६२.मण्डूकाः उद्कात् इव	मे पदात् अधः	(१०–१६६–५)
५६३.(उग्रः) मध्यमशीः इव	ओषधीः यक्ष्मं	(१०–६७–१२)
५६४.(उशतीः इव) मातरः	तस्य भाजयत इह नः	(१०–६–२)
५६५.यमे इव	वां यतमाने यदा एतम्	(१०–१३–२)
५६६.पीप्याना योषा इव	वयं ते नि नंसै	(३–३३–१०)
५६७.रथः इव	बृहति विभ्वने कृता	(६–६१–१३)
५६८.रथी इव	कशया अश्वान् अभिशिपन्	(५–८३–३)
५६६.रथ्या इव	युवां समुद्रम् अच्छा याथः	(३–३३–२)
५७०.(प्रबाबधाना) रथ्या इव	अपः प्रबाबधाना	(७–६५–१)
५७१.रथ्या इव चक्रा	रायः आ वर्तन्ते	(१०–११७–५)

५७२.रथ्या इव चक्रा	(आवां) वि वृहेव चित्	(१०–१०–७)
५७३.रथ्या इव चक्रा	तेन अन्येन वि वृह	(१०–१०–८)
५७४.राजा इव युध्वा	त्वमित् सिचौ नयसि	(१०–७५–४)
५७५.राजानः समितौ इव	ओषधीः समग्मत	(१०–९७–६)
५७६.रैवत्या इव	महसा चारतः रथन	(१०–६४–१०)
५७७.लिबुजा वृक्षम् इव	त्वाम् अन्या	(१०–१०–१३)
५७८.लिबुजा वृक्षम् इव	अन्यं त्वं	(१०–१०–१४)
५७९.वत्समिव मातरा संरिहाणे	युवां अया०	(३–३३–३)
५८०.वपुषी इव	दर्शता	(१०–७५–६)
५८१.(दिवि) वाता इव श्रिताः	त्ये रसाः	(१–१८७–४)
५८२.(पथा) वार् इव	मनः मामनु	(१०–१४५–६)
५८३.शाक्तस्य इव शिक्षमाणः	मण्डूकानाम्	(७–१०३–५)
५८४.शृंगिणां शृंगाणि इव	स्वरवः पृथिव्याम्	(३–८–१०)
५८५.स्तेनः इव व्रजम्	ओषधीः विश्वाः	(१०–९७–१०)
५८६.हंसाः इव	स्वरवः नः आगुः	(३–८–९)
५८७.हरी इव अन्यांसि	आयजी उलूखल०	(१–२८–७)

मरुत्

५८८.अत्याः इव	सुभ्वः चारवः	(५–५९–३)
५८९.अत्यान् इव वाजिषु	अश्वान् उक्षन्ते।	(२–३४–३)
५९०.अदितेः इव व्रतम्	दीर्घं दात्रम्	(१–१६६–१२)
५९१.अध्वरस्य इव	मरुतः दिद्युत्	(६–६६–१०)
५९२.आपः इव	सूरयः तिरः इषन्त	(८–९६–७)
५९३.आपः इव	सध्यञ्चः धवध्वे	(५–६०–३)
५९४.अराः इव	अचरमाः	(५–५८–५)
५९५.अश्वाः इव	शीघ्रगन्तारः	(५–५९–५)
५९६.अश्वाः इव अध्वनः	क्षोदसा रजः प्र सस्रुः	(५–५३–७)
५९७.अश्वाम् इव ऊधनि	धेनुं पिप्यत	(२–३४–६)
५९८.असुर्याम् इव	रातिः जञ्जती	(१–१६८–७)
५९९.अहा इव	अचरमाः	(५–५८–५)
६००.उस्राः इव केचित्	अञ्जिभिः व्यानज्रे	(१–८७–१)
६०१.ऐधा इव	तविषाणि कर्तना	(१–१६६–१)
६०२.गर्भम् इव भर्ता	स्वमित् शवः धुः	(५–५८–७)
६०३.गवां सर्गम् इव	(मरुतां सर्गं) ह्ये	(५–५६–५)
६०४.गवाम् इव श्रृङ्गम्	उत्तमं श्रियसे (धारयथ)	(५–५९–३)

६०५.गाः इव चर्कृषत्	वृष्णः गिरा अभि गाय	(८–३०–१६)
६०६.गौः इव दुध्रा भीमयु	शिमीवान् अमः	(५–५६–३)
६०७.चक्षुः इव	सुगं यन्तम् अनु नेषथ	(५–५४–६)
६०८.चर्म इव	धारा उदभिः भूम व्युन्दन्ति	(१–८५–५)
६०६.जज्झती : इव	मरुतः विद्युतः	(५–५२–६)
६१०.जुजुर्वान् इव विश्पतिः	पृथिवी अज्मेषु	(१–३७–८)
६११.दुर्मदाः इव	मरुतः प्रो आरत	(१–३६–५)
६१२.द्यौः इव	उरवः मरुतः	(५–५७–४)
६१३.द्यावः इव	वृष्टी यतीः	(५–५३–५)
६१४.द्रप्सा इव	रोदसी वृष्टिभिः अनुधमन्ति।	(८–७–१६)
६१५.पर्जन्यः इव	आस्ये श्लोकं ततनः	(१–३८–१४)
६१६.पर्वता : इव	(दृढाङ्गाः) मरुतः	(१–६४–३)
६१७.पिशाः इव	सुपिशः विश्ववेदसः	(१–६४–८)
६१८.पृथिवी इव मीळहुष्मती	मदन्ती अस्मत्	(५–५६–३)
६१६.मर्याः इव	श्रियसे चेतथ	(५–५६–३)
६२०.मर्याः इव	सुवृधः	(५–५६–५)
६२१.मुनिः इव	धुनिः	(७–५६–८)
६२२.मुष्टिहा इव हव्यः	ये सहाः सन्ति	(८–२०–२०)
६२३.मृगाः इव	हस्तिनः वना खादथ	(१–६४–७)
६२४.यमाः इव	सुसदृशः	(५–५७–४)
६२५.युधा इव	तविषाणि कर्तन	(१–१६६–१)
६२६.रथैः इव	वाजयद्भिः प्र भरे	(५–६०–१)
६२७.रथीयन्ती इव	ओषधिः प्र जिहीते	(१–१६६–५)
६२८.रम्भिणी इव	अंसेषु(लक्ष्मीः) रारभे	(१–१६८–३)
६२६.राजानः इव	त्वेषसंदृशः	(१–८५–८)
६३०.रुक्मः इव उपरि दिवि	मरुतः रथेषु	(५–६१–१२)
६३१.वयः इव	केनचित् पथा मरुतः ययिम् अचिध्वम्	(१–८७–२)
६३२.वराः इव	रैवतासः हिरण्येः तन्वः पिपिश्रे	(५–६०–४)
६३३.वरुणम् इव	मायिनम्	(६–४८–१४)
६३४.वाश्रा इव	विद्युत् मिमाति	(१–३७–८)
६३५.वाश्रा इव	सुमतिः आ जिगातु	(२–३४–१५)
६३६.विथुरा इव	एषाम् अज्मेषु भूमिः प्रेरजते	(१–८७–३)
६३७.विथुरा इव	संहितं च्यावयथ	(१–१६८–६)
६३८.विदथ्या इव वाक्	सभावती	(१–१६७–३)

६३६.शूरा इव	जग्मयः	(१–८५–८)
६४०.शूराः इव	प्रयुधः	(५–५६–५)
६४१.सखीन् इव पूर्वान्	मरुतः अनु ह्वय	(५–५३–१६)
६४२.साधारण्या इव	यव्या परा मिमिक्षुः	(१–१६७–४)
६४३.सिंहा इव	प्रचेतसः नानदति	(१–६४–८)
६४४.सुधिता इव बर्हणा	क्रिविर्दती दिद्युत्	(१–१६६–६)
६४५.सूर्या इव	शुचयः	(१–६४–२)
६४६.सूर्याः इव	विषितस्तुका विधतः रथं	(१–१६७–५)
६४७.सूर्यस्य इव चक्षणम्	दिदृक्षेण्यं वः महत्त्वम्	(५–५५–४)
६४८.सूर्यस्य इव रश्मयः	विरोकिणः	(५–५५–३)
६४६.स्तृभिः इव दिव्याः	इरेदृशः	(१–१६६–११)
६५०.हन्वा इव जिह्वया	त्मना कः रेजति	(१–१६८–५)
६५१.हिताः इव	मयोभुवः	(१–१६६–३)
६५२.होता इव	इन्द्रः प्रातः अस्य मत्सति	(८–६६–६)

अश्विनौ

६५३.अंशा इव	नः भजतं चित्रमप्नः	(१०–१०६–६)
६५४.अक्षरा इव	त्रिः पृक्षो अस्मे पिन्वतम्	(१–३४–४)
६५५.अक्षी इव	चक्षुषा यातमर्वाक्	(२–३६–५)
६५६.अग्निरिव देवयोः	दीदिवांसा यजथः	(१०–१०६–३)
६५७.अजा इव	यमा वरम् आ सचेथे	(२–३६–२)
६५८.अत्रेः इव	श्यावाश्वस्य पूर्व्य स्तुतिं शृणुतम्	(८–३५–१६)
६५६.अध्वगौ इव	पतथः	(८–३५–८)
६६०.अपसा इव वस्त्रा	उभा उ धियः वितन्वाथे	(१०–१०६–१)
६६१.अभ्रिया इव वातः	सोमान् इगर्मि	(१–११६–१)
६६२.अस्तम् इव	जरिमाणं जगम्याम्	(१–११६–२५)
६६३.आत्मा इव वातः	तिस्रः (वेदीः) गच्छतम्	(१–३४–७)
६६४.आरङ्गरा इव	मधु एरयेथे (आ+ईरयेथे)	(१०–१०६–१०)
६६५.इर्या इव	पुष्ट्यै वः	(१०–१०६–४)
६६६.इन्द्रमिव चर्षणीसहम्	शर्यैरभिद्युं चर्कृत्यम्	(१–११६–१०)
६६७.उग्रा इव रुचा	वः	(१०–१०६–४)
६६८.उदन्यजा इव	जेमना मदेरू	(१०–१०६–६)
६६६.उपधी इव	नः पारयतम्	(२–३६–४)
६७०.उष्टारा इव	फर्वरेषु श्रयेथे	(१०–१०६–२)

६७१.ओष्ठौ इव	आस्ने मधु वदन्ता नः जीवसे पिप्यतम्	(२–३६–६)
६७२.कनीन इव जारः	चक्षदानः शतमेकं च	(१–११७–१८)
६७३.कर्णा इव	शासुः अनु हि स्मराथः	(१०–१०६–६)
६७४.कर्णौ इव	सुश्रुता भूतमस्मे	(२–३६–६)
६७५.काराधुनि इव	प्रशस्तः युवाम् चितयत्सहस्रैः	(१–१८०–८)
६७६.कार्ष्म इव	अतिष्ठदर्वता जयन्ती	(१–११६–१७)
६७७.किरणा इव	भुज्यै (भवथः)वः	(१०–१०६–४)
६७८.कीनारा इव	स्वेदम् आसिष्विदाना सचेथे	(१०–१०६–१०)
६७६.क्षद्म इव	मरायु अर्थेषु तर्तरीथः	(१०–१०६–७)
६८०.क्षामा इव	नः रजांसि समजतम्	(२–३६–७)
६८१.क्षामा इव सूयवसात्	ऊर्जा सचेथे	(१०–१०६–१०)
६८२.क्ष्णोत्रेण इव	गिरः स्वधितिं सं शिशीतम्	(२–३६–७)
६८३.खृगला इव	विस्रसः अस्मान् पातम्	(२–३६–४)
६८४.गृध्रा इव वृक्षम्	निधिमन्तम् अच्छ	(२–३६–१)
६८५.गौरा इव विद्युतम्	तृषाणा सवनोप यातम्	(७–६६–६)
६८६.(यवसम् अनु)गौरौ इव	सुतान् उप आ पततम्	(५–७८–२)
६८७.गौरौ इव ईरिणे	मध्वः सुतस्य पातम्	(८–८७–१)
६८८.गौरौ इव इरिणम्	दिनः सुष्टुतिम् उप गन्तम्	(८–८७–४)
६८६.ग्रावाणा इव	तत् अर्थं जरेथे	(२–३६–१)
६६०.घर्मा इव	जठरे मधु सनेरू	(१०–१०६–८)
६६१.चक्रवाका इव	प्रतिवस्तोः	(२–३६–३)
६६२.(कापया) जरणा इव	वस्तोः वस्तोः प्रातः	(१०–४०–३)
६६३.जरतोः इव पुराणवत्	अन्ति षद्भूतु	(८–७३–११)
६६४.(युगा) जूर्णा इव	वच्यन्ते वां ककुहा	(१–१८४–३)
६६५.दम्पती इव	क्रतुविदा जनेषु आ सचेथे	(२–३६–२)
६६६.दूता इव	हव्या जन्या पुरुत्रा, जरेथे	(२–३६–१)
६६७.दूता इव	जनेषु यशसा स्थः	(१०–१०६–२)
६६८.द्रापिम् इव	वव्रिं प्रामुञ्चतं. च्यवानात्	(१–११६–१०)
६६६.द्वारा इव	अप वर्षथः	(८–५–२१)
७००.धेनुः इव	सुमतिः अस्मान् अच्छा आ धावतु	(८–२२–४)
७०१.नद्या इव	युवां रीतिः अर्वाक् यातम्	(२–३६–५)
७०२.नभ्या इव	नः पारयतम्	(२–३६–४)
७०३.नावाः इव	नः पारयतम्	(२–३६–४)
७०४.नासा इव	नः तन्वो रक्षितारा भूतम्	(२–३६–६)

७०५.निधिम् इव अपगूळहम्	उद् दर्शतः इपथु	(१–११६–११)
७०६.निवना इव सिन्धवः	आरमै रीयन्ते	(१०–४०–६)
७०७.नृपती इव	तुर्यै	(१०–१०६–४)
७०८.नैतोशा इव	तुर्फरी पर्फरीका	(१०–१०६–६)
७०९.पज्रा इव	चर्चरम्	(१०–१०६–७)
७१०.पतरा इव	चचरा	(१०–१०६–८)
७११.परशुमान् इव	वृक्षं सुविचाकशत्	(८–७३–१७)
७१२.परिज्माना इव	पुरुत्रा यजथः	(१०–१०६–३)
७१३.पर्णा मृगस्य पतरोः इव	श्रोमताय उद् ऊहथु	(१–१८२–७)
७१४.पशुं न नष्टमिव	दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुः	(१–११६–२३)
७१५.पश्वा इव	चित्रा यजुः आ गमिष्टम्	(१०–१०६–३)
७१६.पादा इव	तन्वे शम्भविष्ठा	(२–३९–५)
७१७.पादा इव	तरते गाधं विदाथः	(१०–१०६–९)
७१८.(सोभरा) पिता इव	हुवे	(८–२२–१५)
७१९.पितरा इव	मेधाः वाम् प्रति ऊर्ध्वा भवन्ति	(३–५८–२)
७२०.पितरा इव पुत्रा	आपी वो अस्मे	(१०–१०६–४)
७२१.पुत्रम् इव पितरौ	आवथुः काव्यैः दंसनाभिः	(१०–१३१–५)
७२२.पुत्राय पितरा इव	मह्यं शिक्षतम्	(१०–३९–६)
७२३.पूर्वगत्वा इव वां सख्ये	एषः स्यः निधिर्हितः माध्वी	(७–६७–७)
७२४.पूषा इव	पुरन्धिः हविष्मान् जरते	(१–१८१–९)
७२५.प्रधी इव	नः पारयतम्	(२–३९–४)
७२६.प्रायोगा इव	श्वात्र्या शासुः आ इथः	(१०–१०६–२)
७२७.बर्हिः इव	प्र वृञ्जे स्तोमान्	(१–११६–१)
७२८.बृहन्ता इव	गम्भरेषु प्रतिष्ठाम्	(१०–१०६–९)
७२९.ब्रह्माणा इव	(युवां) विदथे उक्थशासा	(२–३९–१)
७३०.महिषा इव	सुतं सोमम् अव गच्छथः	(८–३५–७,९)
७३१.महिषा इव अवपानात्	पानात् मा	(१०–१०६–२)
७३२.मित्रा इव ऋता	शतरा शातपन्ता	(१०–१०६–५)
७३३.मृगा इव वारणा	दोषा वस्तोर्हविषा	(१०–४०–४)
७३४.मेने इव	तन्वा शुम्भमाने	(२–३९–२)
७३५.मेषा इव	इषा सपर्या पुरीषा	(१०–१०६–५)
७३६.युगा इव	नः पारयतम्	(२–३९–४)
७३७.युवशा इव कन्यनाम्	इह स्तोमं जुषेथाम्	(८–३५–५)
७३८.योनिः सूष्यन्त्याः इव	वि जिहीष्व वनस्पते	(५–७८–५)

७३६.(नाधमाना इव) योषा	अत्रिर्यद् वाम०	(५–७८–४)
७४०.रथाः इव	प्र ये ययुः अवृकासः	(७–७४–६)
७४१.रथान् इव	ब्रह्माणि तक्षाम	(५–७३–१०)
७४२.रथ्या इव	वीरा वरम् आ सचेथे	(२–३६–२)
७४३.रथ्या इव	शक्रा अर्वाञ्चा यातम्	(२–३६–३)
७४४.रथ्या इव चक्रा	प्रति यन्ति मध्वः	(१–१८०–४)
७४५.रश्मीन् इव	अध्वरान् उप सृजतम्	(८–३५–२१)
७४६.राजपुत्राः इव	सवना अव गच्छथः	(१०–४०–३)
७४७.वंसगा इव पूषर्या	पूषर्या शिम्बाता	(१०–१०६–५)
७४८.(अधिवस्त्रा) वधूः इव	यः यज्ञेभिः आवृतः	(८–२६–१३)
७४६.वाजा इव	उच्चा वयसा घर्म्येष्ठा	(१०–१०६–५)
७५०.वाता इव	युवम् अजुर्या	(२–३६–५)
७५१.विधवा इव देवरम्		(१०–४०–२)
७५२.विषुद्रुहा इव	गिरा यज्ञम् ऊहथुः	(८–२६–१५)
७५३.वेः इव अच्छेदि पर्णम्	आजा खेलस्य	(१–११६–१५)
७५४.शंयू इव	मंहिष्ठा	(१०–१४३–६)
७५५.शकुनस्य इव पक्षा	साकंयुजा	(१०–१०६–३)
७५६.शफौ इव	जर्भुराणा तरोभिः	(२–३६–३)
७५७.शासुः इव	वध्रिमत्याः तत् श्रुतम्	(१–११६–१३)
७५८.शृङ्गा इव	नः प्रथमा गन्तमर्वाक्	(२–३६–३)
७५६.श्येना इव	कुह पेतथुः	(८–७३–४)
७६०.श्येना इव	विचेतसा विभिः दीयतम्	(५–७४–६)
७६१.श्येनौ इव	सुतं सोमं पतथः	(८–३५–६)
७६२.श्रुष्टीवा इव प्रेषितः	प्रेषितः वाम् अबोधि	(७–७३–३)
७६३.श्रुष्टीवाना इव	हवम् आ गमिष्टम्	(१०–१०६–४)
७६४.श्वाना इव	नः अरिषण्या तनूनाम्	(२–३६–४)
७६५.सर्गान् इव	सुष्टुतीः उप सृजतम्	(८–३५–२०)
७६६.सारघा इव	नीचीनबारे गवि मधु	(१०–१०६–१०)
७६७.सिंहम् इव द्रुहस्पदे	यदीं...जिन्वथः	(५–७४–४)
७६८.सुदिना इव पृक्षः	पृक्ष आ तंसयेथे	(१०–१०६–१)
७६६.सृण्या इव जर्भरी	जर्भरी तुर्फरीतू	(१०–१०६–६)
७७०.सोमम् इव स्रुवेण	उदनि...उन्निन्यथुः	(१–११६–२४)
७७१.स्तनौ इव	नः जीवसे पिप्यतम्	(२–३६–६)
७७२.हंसौ इव	सुतान्... आ पततम्	(५–७८–१,२,३)

७७३.हंसौ इव	सोमम् पतथः	(८–३५–८)
७७४.हरिणौ इव अनु यवसम्	सुतान् .... आ पततम्	(५–७८–२)
७७५.हस्ता इव	शक्तिम् अभि संददी नः	(२–३६–७)
७७६.हस्तौ इव	तन्वे शम्भविष्ठा	(२–३६–५)
७७७.हारिद्रवा इव वना इत्	सुतं सोमम् उप पतथः	(८–३५–७)
७७८.हिम्या इव वाससः	युवोः हि यन्त्रम्	(१–३४–१)
७७९.हिरण्यस्य इव कलशम्	इपे ...... उदूपथुः	(१–११७–१२)

न

अग्नि

१. अंहः न	द्र० स मर्तः................द्विषः तरति	(६–२–४)
२. अंहः न	द्र० वावसानाः वयं ....वृजनम् अति स्रसेम	(६–११–६)
३. अग्रुवःन	द्र०समनेषु (अग्निं शिशुं).........समञ्जन्	(७–२–५)
४. अघ्न्या कृशं न	द्र० देवाः ....नः मा हासुः	(८–७५–८)
५. अजः न	द्र० अग्निः ....क्षां पृथिवीं च दाधार	(१–६७–५)
६. अतसं शुष्कं न	द्र० समिधान यः नः	(४–४–४)
७. अतिथिः न	द्र०स्योनशीः (अग्निः).........प्रीणानः	(१–७३–१)
८. अतिथिः (न)	द्र० प्रियः ....असि	(६–२–७)
६. अतिथिः न	द्र० अग्निः ....मित्रियः प्रशंसमानः	(८–१६–८)
१०. अत्यः न	द्र० प्रुषितस्य (अग्नेः) पृष्ठं ....रोचते	(१–५८–२)
११. अत्यः न रथ्यः	द्र० वारान् दोधवीति	(२–४–४)
१२. अत्यः न	द्र० अग्ने, शिशुः (त्वं)................हार्यः	(६–२–८)
१३. अत्यः न	द्र० ....त्वं हुतः पततः परिहुत्	(६–४–५)
१४. अत्यः न	द्र० अपरिह्वृतः सप्तिः	(१०–६–२)
१५. अत्यः न	द्र० सः (अग्निः) ....अध्वराय परि	(३–२–७)
१६. अत्यं न	द्र०यविष्ठं तम् अग्निं नर ....मर्जयन्त	(७–३–५)
१७. अत्यम् न	द्र० महाँ अग्निं ....वाजं सनिष्यन्	(३–२–३)
१८. अथर्यः न	द्र०यम् अग्निं द्विः पञ्च स्वसारः	(४–६–८)

१६. अद्रोघः न द्र० ओषधीषु द्रविता अवत्रैः (६–१२–३)
२०. अमतिः न द्र०पुरुप्रशस्तः (अग्निः)..............सत्यः (१–७३–२)
२१. अयः न द्र० सुकर्माणः देवाः जनिम ....धमंत (४–२–१७)
२२. अयसः धारां
न द्र० सः (अग्निः) असिष्यत् तेजः .... (६–३–५)
२३. अर्वन्तं न द्र० सानसिं तम् दिवेदिवे .... (४–१५–६)
२४. अर्वन्तं न द्र० सानसिं शुष्मिणं................गृणीहि (८–१०२–१२)
२५. अर्वाणं
हिरिश्मश्रुं न द्र० ....धियं धुः (१०–४६–५)
२६. अशनिः
गोषुयुधः सृजाना न . (६–६–५)
२७. अश्वः न द्र० वृषाः ....देववाहनः अग्निः (३–२७–१४)
२८. अश्वः न द्र०वनेषु वाजी अरुषः आ................विरोचते (३–२९–६)
२९. अश्वः न द्र० दाश्वांसं तं स्वे दमे हेम्यावान् त्वम् ... (४–२–८)
३०. अश्वः न द्र० (अग्निः) आसा..............यमसानः (६–३–४)
३१. अश्वः न द्र० यवसे अविष्यन् प्रोथत् ....महः (७–३–२)
३२. अश्वः क्रन्दत्
जनिभिःन द्र० युगे युगे (३–२९–३)
३३. अश्वासःन द्र० रारहाणाः रथ्यः यं (अग्निम्) (१–१४८–३)
३४. अश्वं वाजिनं न द्र० सहमानं देवम् अग्निं........... (७–७–१)
३५. अश्वं रथ्यं न द्र० सुदानवः देवयवः (८–१०३–७)
३६. अश्वाः जातं
शिशुं न द्र० सप्त यह्वीः सुभगम् (३–१–४)
३७. अस्तुः दिद्युत्
न द्र० त्वेषप्रतीका (१–६६–४)
३८. अस्तुः अशनां
शर्यां न द्र० अस्य शोचिः .... (१–१४८–४)
३९. आयुं न द्र० यं सुप्रयसं पञ्च जनाः..............अञ्जन्ति (६–११–४)
४०. आशुम् न द्र० वाजंभरं त्वां (अग्निम्)(१–६०–५)
४१. आशुम् न द्र० अर्वा (अग्निः) (स्वरश्मिम्) (४–७–११)
४२. इन्द्रं न द्र० शवसा ....त्वा नृतमाः देवताः (६–४–७)
४३. इन्द्रं न द्र० सत्पतिम्, (हे) कृष्टयः (८–७४–१०)
४४. इन्द्रं न द्र० रेजमानम् अग्निं ....गीर्भिः (१०–६–५)
४५. इषिराय भोज्या न द्र० अस्य अग्नेः (१–१२८–५)

४६. उग्रः शवसा न	द्र० अग्ने शवसा	(१–१२७–११)
४७. उपमित् रोधः न	द्र० अनूनेन बृहता वक्षथेन	(४–५–१)
४८. भानुना उषसः न	द्र०यः (अग्निः) रुरुचे	(६–१५–५)
४६. उषसां केतवः न	द्र०चिकित्र तव केतवः	(१०–६१–५)
५०. उषः जारः न	द्र० शुक्रः (अग्निः)...............(भवति)	(१–६६–१)
५१. उषः जारः न	द्र०...............विभावासंज्ञान रूपः	(१–६६–६)
५२. उषः जारः न	द्र०पृथु पाजः अश्रेत्	(७–१०–१)
५३. ऊधः न गौनां	द्र० अग्निः...............पितूनां स्वाद्म	(१–६६–३)
५४. ऊर्मिः नावं न	द्र० समस्य. दूढ्यः परिद्वेषसः	(८–७५–६)
५५. ऊर्मयः प्रवणे न	द्र० धिया वाजं सिषासतः	(८–१०३–११)
५६. ऋभुः न	द्र० त्वेषः रथसानः (अग्निः)..........अद्यौत्	(६–३–८)
५७. ऋषिः न	द्र० (अग्निः) स्तुभ्वा (अस्ति)	(१–६६–४)
५८. एतरी न	द्र० अस्माकेभिः शूषैः अग्निः.........स्तवे	(६–१२–४)
५६. ओकः न	द्र० (अग्निः)रण्वः	(१–६६–३)
६०. औशिजः पत्मन् न दीयन्	द्र० चित्रः शोचिषा	(६–४–६)
६१. कुमारः न	द्र० मातुः प्रतरं गुह्यम् इच्छन्	(१०–७६–३)
६२. क्रतुः न	द्र० (अस्ति) नित्यः	(१–६६–५)
६३. क्रतुम् न	द्र० तम् ते (त्वा) ओहैः स्तोमैः ऋध्याम	(४–१०–१)
६४. क्रतुः न	द्र० (अग्निः) भद्रः	(१–६७–२)
६५. क्षितिः पृथ्वी न	द्र० (विस्तीर्णा भूमिः इव)	(१–६५–५)
६६. क्षितिः राया न	द्र०सुदृशीकरूपः पुरुवारः	(४–५–१५)
६७. क्षेमः न	द्र० (अग्निः) साधुः	(१–६७–२)
६८. क्षोदः न	द्र० शंभु (त्यथा उदकं सुखं करोति)	(१–६५–५)
६६. क्षोदः न	द्र० (अग्निः) सिन्धुः स्यन्दनशीलम्	(१–६५–६)
७०. क्षोदः सिन्धु न	द्र० (अग्निः) नीचीः ऐनोत्	(१–६६–१०)
७१. स्वादिनम् न	द्र० यं स्वध्वरम् अग्निम्.........	(६–१६–४०)
७२. गिरिः न	द्र० भुज्य (सर्वेषां भोजयिता)	(१–६५–५)
७३. गावः अस्तं न	द्र० ....तं वः (त्वा) इद्धम् अग्निम्	(१–६६–६)
७४. गावः श्यावीम् उच्छन्तीम् अरुषीं न	द्र० सनीळाः	(१–७१–१)
७५. गोः पदम् न	द्र० अग्निः ....अपगूळहं मनीषां	(४–५–३)
७६. गोपाः पशून् न	द्र०इर्यः परिज्मा, अग्ने	(७–१३–३)
७७. घर्मः न	द्र० (अग्निः) वाजजठरः अदब्धः	(५–१६–४)
७८. घृतं न अघ्न्यायाः		

तप्तं शुचि	द्र० देवस्य महना	(४–१–६)
७६. घृतं पूत न	द्र० स्वयावः, ते तनूः.........ओपाः	(४–१०–६)
८०. घृतं न अस्ये (प्रहुतं)यज्ञे सुपूतं	द्र० वृषभाय(५–१२–१)	
८१. घृतं शुचि न	द्र० मतयः ....यं शूषं स्तोमम् अस्मै	(६–१०–२)
८२. आसनि कं घृतं न	द्र० अग्ने, तुभ्यं ....मन्मानि	(८–३६–३)
८३. घृतं पूतं न	द्र० ऋतावृधे वैश्वानराय	(३–२–१)
८४. चक्षणिः वस्तोः न	द्र० सः अग्निः ....विभावा	(६–४–२)
८५. चित्रः यामन् अश्विनोः न	द्र० वनेषु वाजी	(३–२६–६)
८६. जनयः नित्यं पतिं न	द्र० उशतीः सनीळाः	(१–७१–१)
८७. जनयः न पतिरिषः	द्र० दुरेवाः पापासः सन्तः	(४–५–५)
८८. जन्मः तनयं न	द्र० अग्ने, मे स्तोमं ....नित्यं	(३–१५–२)
८६. तक्वा न	द्र० (अग्निः) भूर्णिः	(१–६६–२)
६०. ततरुषः न्	द्र० जंहः (त्रिषधः स्थः)	(६–१२–२)
६१. दिवः तन्यतुः न	द्र० ते शुष्मः एति	(७–३–६)
६२. तातृषाणः न	द्र० यः अग्निः ....वना आभाति	(२–४–६)
६३. तायुं पश्वा (सहवर्तमानं) न	द्र० धीराः सजोषाः	(१–६५–१)
६४. तायुः गुहा पदं दधानः न	द्र० महः राये अत्रि	(५–१५–५)
६५. तायुः ऋणः न	द्र०यः सद्यः स्पन्द्रः विषितः	(६–१२–५)
६६. तिग्म शृङ्गो न वंसगः		(६–१६–३६)
६७. तोदः अध्वन् न	द्र० वृधसानः वनेराट् अग्नि	(६–१२–३)
६८. दिद्युत् अस्तुः त्वेषप्रतीका न	द्र०(अग्निः)	(१–६६–७)
६६. दिवः ज्योतिः न	द्र० (अग्निः) समीची पप्रा	(१–६६–१)
१००. दिवः शिशुं न	द्र० अरुषं तं दिवे दिवे	(४–१५–६)
१०१. दिवः न	द्र० अग्ने ते शुष्माः ....प्रस्तनयन्ति	(४–१०–४)
१०२. दिवः न	द्र० यस्य (अग्नेः) रेतसा व्याप्तम्	(५–१७–३)
१०३. दिवः न	द्र० विधतः यस्य (अग्नेः)......	(६–३–७)
१०४. दुग्धम् न	द्र० जाम्योः रुचा (अग्निः)....शृणोतु	(५–१६–४)
१०५. देवः न	द्र० (अग्निः)....विश्वधाया	(१–७३–३)
१०६. द्यौः स्तृभिः न	द्र० (अग्निः).......रोदसी	(२–२–५)
१०७. द्यौः न	द्र०.......भूम अभूत्	(१–६५–३)
१०८. द्यावः न	द्र०(ऋतायवः) द्युम्नैः संति	(१०–११५–७)

१०६. द्रविः न	द्र० (अग्निः) धृक्षत् .....दारु द्रावयति	(६–३–४)
११०. द्वेषो युतः न	द्र०..........मर्त्यानां दुरिता तुर्याम्	(५–६–६)
१११. धन्वाराहा न	द्र० निः षहमाणः (अग्निः)	(१–१२७–३)
११२. धेनवः स्वसरेषु वत्सं न	द्र० (अग्ने) त्वा	(२–२–२)
११३. नभः रूपं न	द्र० (त्वं) कविः सन्.......अभि	(१–७१–४०)
११४. नराम् न	द्र० यः रोदस्योः.....वृषा	(१–१४६–२)
११५. नेमिः अरान् न	द्र० अग्ने यत् सीम् क्रतुना	(१–१४१–६)
११६. नावा सिन्धुम् न	द्र० जातवेदः नः विश्वानि	(५–४–६)
११७. पयः न धेनुः	द्र० (पयः इव प्रीणयिता)	(१–६६–२)
११८. परशुः न द्रुहंतरः	द्र० दीद्यानः अग्निः..........	(१–१२७–३)
११६. परशुं न	द्र० तिग्मं स्वासं दत्तम् अग्निम्	(४–६–८)
१२०. परशुः न	द्र० (अग्निः)......जिह्वां विजेहमानः	(६–३–४)
१२१. पशुः न शिखा	द्र० अग्निः शिखा अभूत्	(१–६५–१०)
१२२. पशुः न	द्र० अग्निः...........स्वयुः अगोपाः एति	(२–४–७)
१२३. पशुः न दाता	द्र० सहिष्म आक्षितं धन्य......	(५–७–७)
१२४. पशुः न यवसे	द्र० अग्ने (त्वं) वना........पुरु	(५–५–४)
१२५. पशुः न यवसे	द्र० अग्ने, त्वं त्याचित्	(६–२–६०)
१२६. पशुं नष्टं पदैः न	द्र० धीराः अपां सधःस्थे	(१०–४६–२)
१२७. पशुषे न	द्र० उषर्बुधे अग्नये वः स्तोमः	(१–१२७–१०)
१२८. पशुपाः न		(४–६–४)
१२६. पाथः न	द्र० पायुं पृश्न्याः पतरम् अक्षभिः	(२–२–४)
१३०. पितुः न जिव्रेः	द्र० (अग्ने)त्वा नरः पुरुत्रा	(१–७७–१०)
१३१. पितुः न	द्र० यस्य आसया अमी विश्वे	(१–१२७–८)
१३२. पुत्राः पितुः न	द्र० ये अस्य (अग्नेः) शासम्	(१–६८–६)
१३३. पुत्रः न	द्र० जातः अग्निः ....दुरोणे रण्वः	(१–६६–५)
१३४. पुत्रः मातरा न	द्र० अग्ने, (त्वं) द्यावा	(१०–१–७)
१३५. पुत्रः पितुः न	द्र० सुधृतः (अग्निः)नः(८–१६–२७)	
१३६. पुष्टिः रण्वा न	द्र० (अग्निः सर्वेषाम्)	(१–६५–५)
१३७. पूः न	द्र०मही आयसी शतभुजिः अग्ने	(७–१५–१४)
१३८. प्रयुक्तिः मरुतां न	द्र० अग्ने.....(अस्मच्छत्रून्)	(६–११–१)
१३६. प्रसितिं पृथ्वीं न	द्र० ....पाजः कृणुष्व	(४–४–१)
१४०. प्राणः आयुः न	द्र० (प्रश्वसन् वायुरिव अग्निः)	(१–६६–१)
१४१. भगः न	द्र० अग्निः.....करं वि ऋष्वति	(५–१६–२)
१४२. भगः न		(१–१४४–३)

१४३. भगं दक्षं न द्र० अग्ने, अस्मे .....पर्णसिम् (१–१४१–११)

१४४. भगं न द्र० हे महिरत्न, नव्वं त्वा वयं (१–१४१–१०)

१४५. भद्रे न द्र० (एनम् अग्निम्) उभे भद्रे मेने... (१–६५–६)

१४६. भारं गुरुं न द्र० अग्ने, क्रियते..........(त्वदीयं कर्म) (४–५–६)

१४७. भीमः न द्र० दुर्गृभिः........शृङ्गा दविधाव (१–१४०–६)

१४८. भोज्या मरुतां न द्र०अस्य अग्नेः तविषीषु (१–१२८–५)

१४६. मधोः पात्रा न द्र० अस्मै अग्नये.....प्रयंति (८–१०३–६)

१५०. मध्वा न द्र० जन्तवः कृष्टयः....... (५–१६–३)

१५१. मनः न द्र० यः एकः सूरः अध्वनः......एति (१–७१–६)

१५२. मर्मृजेन्यः उशिग्भिः न द्र० अग्ने, अक्रः त्वम् (१–१८६–७)

१५३. मर्यं वाजिनं न द्र० विश्वायुवेपसं हितम (८–४३–२५)

१५४. मित्रम् न शेवम् द्र० जनेभ्यः सुहवं वरेण्यं दधुः (१–५८–६)

१५५. मित्रः न द्र० सः (अग्निः)रथीः......भूत् (१–७७–३)

१५६. मित्रम् न द्र०देवाः शुक्रशोचिषं......क्षिरतेषु (२–२–३)

१५७. मित्रं न (क्षेष्वन्तः) द्र० देवासः क्षेष्यन्तः (२–४–३)

१५८. मित्रः न द्र०........सुधितः पावकः अग्निः दीदाय (४–६–७)

१५६. मित्रम् न द्र०सुधितं गोभिः अञ्जन्ति (५–३–२)

१६०. मित्रम् न द्र० मर्तासः (अग्निं).......प्रशस्तिभिः (५–१६–१)

१६१. मित्रः न द्र० अग्ने, त्वं .....क्षैतवत् यशः पत्यसे (६–२–१)

१६२. मित्रं न द्र० सर्पिरासुतिं जनासः......शंसंति (८–७४–२)

१६३. मित्रः न द्र० यज्ञियः त्वं ......क्राणा (भव) (५–१०–२)

१६४. मित्रम् न द्र०देवाः शुक्रशोचिषं क्षितिषु (२–२–३)

१६५. मित्रः न द्र० बृहतः ऋतस्य, क्षत्ता असि (६–१३–२)

१६६. मित्रं प्रियं न द्र०अमृतं जातवेदसं वयं..... (६–४८–१)

१६७. मित्रं न द्र० यातयज्जनं शुष्मिणं......गृणीहि (८–१०२–१२)

१६८. मित्रासः न द्र० सुधिताः ऋतायवः (१०–११५–७)

१६६. यवः न पक्वः द्र० पक्वः यवः इव उपयोग–योग्यः (१–६६–३)

१७०. यवं न द्र० दस्म, (त्वं)......जुह्वा विवेक्षि (७–३–४)

१७१. यह्वम् न द्र० रोदसी श्रवः तमित्.....परि (५–१६–४)

१७२. यामन् तूर्वन् न द्र० एतशस्य रणे.....यः (६–१५–५)

१७३. युयुधयः न द्र०रण्वासः ऋत्विजः सन्ति (१०–११५–४)

१७४. युवत्योः (न) द्र० दिवस्पृथिव्योः ....अरतिः। (१०–३–७)

१७५. यूथम् न द्र० अहं सुमत् पुरु शोभमानं क्षेत्रात् (५–२–४)

१७६. योधः शत्रून् न द्र० अग्निः वनानि ऋञ्जते (१–१४३–५)

१७७. योषणः अभ्रातरः न	द्र० दुरेवाः पापासः	(४—५—५)
१७८. रघवः वाजम् न	द्र० का मर्यादा, वयुना	(४—५—१३)
१७६. रथः न	द्र० देवः विक्षु.......आयुषु ऋञ्जसानः	(१—५८—३)
१८०. रथः न	द्र० रुक्मी (अग्निः)	(१—६६—६)
१८१. रथः शिक्वभिः कृतः न	द्र० यातः (सन्)	(१—१४१—८)
१८२. रथः न	द्र० अग्ने, रुरिनः त्वं न वाजं.........	(३—१५—५)
१८३. रथः न स्वानः	द्र० अग्ने, धृष्णुया भ्राजन्त्यः	(५—१०—५)
१८४. रथः न	द्र० अग्निः वेधः	(८—१६—८)
१८५. रथम् न क्रन्तः	द्र० सुध्यः आशुषाणाः	(४—२—१४)
१८६. रथम् न	द्र० तुविजात्, विप्रः अहं ते एतम्	(५—२—११)
१८७. रथम् न	द्र० वेधम् अग्निं स्तुषे	(८—८४—१)
१८८. रथम् न	द्र० शुचयद्भिः अङ्गै.......युक्ष्व	(१०—४—६)
१८६. कुलिशः रथं न	द्र० द्विता होतारं मनुषः	(३—२—१)
१६०. रथम् न	द्र०मन्द्रं विश्ववर्षणिं चित्रं ....ईमहे	(३—२—१५)
१६१. रथः न	द्र० यः अभीवृतः	(१०—१७६—२)
१६२. रयिः न	द्र०(अग्निः) चित्रा	(१—६६—१)
१६३. रयिः न देवताताये	द्र०अग्ने, शुष्मिन्तमः	(१—१२७—६)
१६४. रयिं चारुं न	द्र० (अग्ने) भृगवः त्वा आदधुः	(१—५८—६)
१६५. रयिं न	द्र० अस्मे स्वर्यं दमूनसं ......पपृचासि	(१—१४१—११)
१६६. रश्मयः ध्रुवासः सूर्ये न	द्र० वैश्वानरे अग्ना	(१—५६—३)
१६७. राजा इभ्यान् न	द्र० (अग्निः) वनानि......अत्ति	(१—६५—७)
१६८. राजा हितमित्रः न	द्र० (यः अग्नि).........उपेक्षति	(१—७३—३)
१६६. राजा न	द्र० जायमानः अग्निः ....ज्योतिषा	(६—६—१)
२००. रुक्मः न	द्र० अग्ने, स्वादिष्ठा तव संदृष्टिः	(४—१०—५)
२०१. रुक्मः न	द्र० स्वधावः ते शुचि हिरण्यं रोचते	(४—१०—६)
२०२. रुक्मः न	द्र०स्वर्नाक, यत्.......उपाके	(७—३—६)
२०३. रेभः न	द्र० सः (अग्निः)........उस्राः प्रति वस्ते	(६—३—६)
२०४. रेभः (ऋषूणाम् अग्रे)न	द्र० ऋषूणां (मध्ये)	(१—१२७—१०)
२०५. वंसगः तिग्मशृङ्गः न	द्र० अग्ने, त्वं.........	(६—१६—३६)
२०६. वत्सासः मातृभिः न	द्र० जामिभिः नसना	(८—७२—१४)
२०७. वनिनः वयाः न	द्र० अग्ने, त्वत् विश्वा	(६—१३—१)
२०८. वनिनं न	द्र० अजर. अघशंसं नीचा......वृश्च	(६—८—५)
२०६. वनेराट् न	द्र०यस्य (अग्नेः) अरतिः	(६—१२—३)
२१०. वरुणः न	द्र०यः एकः वस्वः (अग्निः)............	(१—१४३—४)

२११. वसुम् न	द्र०चित्रमहसं (अग्निम्) गृणीषे	(१०–१२२–१)
२१२. वह्निम् न	द्र० आसा..........(हविः)वहताम्	(१०–११५–३)
२१३. वाजयुः न	द्र० अग्ने धृष्णुया भ्राजनयः यंति	(५–१०–५)
२१४. वाजी न	द्र० (अग्निः) प्रीतः (अस्ति)	(१–६६–४)
२१५. वाजी न प्रीतः	द्र० (अग्निः)विशः..........वितारीत्	(१–६६–५)
२१६. वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः	द्र० अग्ने. मधुमद्भिः	(४–३–१२)
२१७. वाजिनः न	द्र० अस्य (अग्नेः) शोकाः.........द्रवंति	(४–६–५)
२१८. वाजी न	द्र० अग्ने, (त्वं)...........कृत्व्यः	(६–२–८)
२१६. वाजी अरुषः न	द्र० घृतस्य धाराः........भवति	(४–५८–७)
२२०. वाताः न	द्र०धक्षोः अच्युताः (प्रभावाः)	(१०–११५–४)
२२१. वायुः न	द्र० राष्ट्री........अक्तून् अत्येति	(६–४–५)
२२२. वायुं न	द्र० शवसा.......त्वा नृतमाः पृणंति	(६–४–७)
२२३. वायुः पाथः न	द्र० परमे व्योमन् जायमानः	(७–५–७)
२२४. वार् न	द्र० यः अग्निः.............पथा (गच्छति)	(२–४–६)
२२५. वेः न	द्र० अग्निः...........रघुपत्मजंहाः द्रुषद्वा	(६–३–५)
२२६. विं न	द्र०द्रुषदं देवम् अग्निम्	(१०–११५–३)
२२७. विद्युतः न	द्र० शुक्राः वृहन्तः भानवः सचंत	(३–१–१४)
२२८. विद्युतः परिज्मानः न	द्र० अग्ने, धृष्णुया(५–१०–५)	
२२६. विद्युत् न	द्र० यः (अग्निः)स्वेभिः शुष्मैः	(६–३–८)
२३०. विपः न	द्र०तव क्षत्राणि वर्धयन्	(८–१६–३३)
२३१. विप्रं (जातवेदसं)न	द्र० होतारम् अग्निं ....मन्ये	(१–१२७–१)
२३२. विप्रं न	द्र०द्युक्षवचसं हव्यवाहं.......ऋञ्जसे	(६–१५–४)
२३३. विप्रः न	द्र०अग्ने..............सदाजागृविः असि	(८–४४–२६)
२३४. विश्पतिः जेन्यः न	द्र० अग्निः यज्ञेषु	(१–१२८–७)
२३५. विश्वः विशाम् न	द्र० अमृतः अग्निः	(१–७०–२)
२३६. वीराः शर्मसदः न	द्र०(यस्य अग्नेः)पुरः वर्तते	(१–७३–३)
२३७. वृजनं न	द्र०वावसानाः (वयं)..........स्रसेम	(६–११–६)
२३८. वृषभः न	द्र० अस्नाता.........अपः प्र वेति	(१०–४–५)
२३६. वृषा इनः प्रोयमानः यवसे न	द्र०अभि	(१०–११५–२)
२४०. वेधसे न	द्र०विपां ज्योतींषि बिभ्रते.........भरत	(३–१०–५)
२४१. शर्धः मारुतं न	द्र० (अग्निः) तुविष्वणिः	(१–१२७–६)
२४२. शर्धः मारुतं न	द्र० ते त्वेषाराः अर्चयः	(४–६–१०)
२४३. शर्म सूनवे वीळु न	द्र० अस्य आयुः अभूत्	(१–१२७–५)
२४४. शासुः चिकितुषः न	द्र०यः (अग्निः)	(१–७३–१)

२४५. शिशुं जातं न	द्र० अग्निम्.....हस्ते आ	(६–१६–४०)
२४६. शिशुं न	द्र० माता जेन्यं त्वा......वर्धयन्ती	(१०–४–३)
२४७. शिशुं न	द्र० जायमानं त्वा........विश्वे देवाः नवंते	(६–७–४)
२४८. शिशुं मातरा न	द्र० पूर्वी रिहाणे...........समनेषु	(७–२–५)
२४६. शुरुथः हेषस्वतः न	द्र० अयं वनेजाः अक्तोः	(६–३–३)
२५०. शेवः जने न	द्र० अग्निः...........मध्ये आहूर्यः	(१–६६–४)
२५१. श्येनासः न	द्र०त्वेषासः ते अर्चयः..........गच्छन्ति	(४–६–१०)
२५२. श्रुष्टीवानः न	द्र०अजरः ते..........परिचरन्ति	(१–१२७–६)
२५३. श्वेतः न	द्र०यत् अभ्राट् तदा......(श्वेतः आदित्यः)	(१–६६–६)
२५४. सप्तिम् न	द्र०जातवेदः सहस्रिणम् अत्यम्........	(३–२२–१)
२५५. सप्तिम् न	द्र०सुवेपसम् अग्निं..........वाजयामसि	(८–४३–२५)
२५६. सरजन्तम् न	द्र० अध्वनः (राजयन्तम्)	(१०–११५–३)
२५७. सरितः धेनाः न	द्र०घृतस्य धाराः ....स्रवंति	(४–५८–६)
२५८. सविता देवः न	द्र० (यः अग्निः)...........सत्यमन्मा	(१–७३–२)
२५६. ससं पक्वं न	द्र० शुचन्तं रिपः उपस्थे अविदत्	(१०–७६–३)
२६०. साधुः न	द्र० (अग्निः)...........गृध्नुः	(१–७०–११)
२६१. सारथिः वोळहुः रश्मीन्न	द्र० हव्यः सारथिः	(१–१४४–३)
२६२. सिंहं क्रुद्धं न (मृगाः)	द्र० शत्रवः मां परिष्टुः	(५–१५–३)
२६३. सिंहं न नानदत्	द्र०प्रजज्ञिवान् वृषासः जिन्वते	(३–२–११)
२६४. सिन्धवः नीचीः न	द्र० अग्नेः सृष्टाः क्षरंति	(१–७२–१०)
२६५. सूनुः न नित्यः	द्र०ध्रुवः पुत्रः इव प्रियकारी	(१–६६–१)
२६६. सूनुः न	द्र० (अग्ने. त्वं)...........त्रययाय्यः	(६–२–७)
२६७. सूरः न	द्र०(अग्निः)संदृक्	(१–६६–१)
२६८. सूरः सिंहं न	द्र०अमीचवसं च अग्निम्............	(१–१४३–१३)
२६६. सूरः न	द्र०अयम् अग्निः रुरुक्वान् शतात्मा	(१–१४६–३)
२७०. सूरः न	द्र०पावक, त्वं द्युता..........रोचसे	(६–२–६)
२७१. सूरः न	द्र०यस्य दृशतिः...........अरेपाः	(६–३–३)
२७२. सूरःन	द्र०चित्रः भानुं प्रति चक्षि	(७–३–६)
२७३. सूर्यः न	द्र०शुक्रः..............भासांसि वस्ते	(६–४–३)
२७४. सूर्य भानुमद्भिः अर्कैः न	द्रव अग्ने, त्वं भासा	(६–४–६)
२७५. सूर्यः न	द्र०सः अयं सहसः सूनुः............ततान	(६–१२–१)
२७६. सूर्यः न	द्र०बृहद्भाः अग्निः ....विरोचते	(७–८–४)
२७७. सूर्यः सृजन् न	द्र० अग्ने त्वं.........रश्मिभिः	(८–४३–३२)
२७८. सूर्ये चक्षुः न	द्र० यज्ञः अश्रायि	(६–११–५)

२७६. सोमाः न	द्र० वायवः अग्नयः	(१०—४६—७)
२८०. सोमः न	द्र०अग्निः............वेधाः	(१—६५—१०)
२८१. सप्त यहीः स्रवतः समुद्रं न	द्र० विश्वाः पृक्षाः	(१—७१—७)
२८२. स्वधितिं न	द्र०इषः मानुषीः विशाम् अकृण्वन्	(३—२—१०)
२८३. स्वनाः न	द्र० यस्य भामासः...........पवन्ते	(१०—३—५)
२८४. स्वर् चित्रं विभावं न	द्र०यं मनुष्यासु विक्षु	(१—१४८—१)
२८५. स्वर् न	द्र० अग्ने, द्यावापृथिवी........ब्रह्मणा कृधि	(२—२—७)
२८६. स्वर् न	द्र०सः (अग्निः) राम्याः उषसः दीदेत्	(२—२—८)
२८७. स्वर् न	द्र०अस्माकं पञ्च कृष्टिषु अधि	(२—२—१०)
२८८. स्वर् भानुना न	द्र० चित्रः अग्निः ....विभाति	(२—८—४)
२८६. स्वर् न	द्र० ज्योतिः	(४—१०—३)
२६०. स्वर् न	द्र०उषसां (अग्ने) वस्तो.........अरोचि	(७—१०—२)
२६१ स्वरुः न	द्र० नवजाः स्वरुः........उदु अक्रः	(४—६—३)
२६२. हंसः न सीदन्	द्र० (अग्निः) अप्सु श्वसिति	(१—६५—६)
२६३. हनवः न	द्र० अस्य (ज्वालाः) तिग्माः	(८—६०—३३)
२६४. ह्वारः अनाकृतः वक्वः न	द्र० यद् (अयम् अग्निः)	(१—१४१—७)
२६५. ह्वार्याणां पुत्रः न	द्र० (अग्ने त्वं दुर्गभीयसे)	(५—६—४)

इन्द्र

२६६. अंशं न प्रतिजानते	द्र० रयिम् आभर	(३—४५—४)
२६७. अक्षः न चक्र्योः	द्र०बृहन् मह्ना रोदस्योः	(६—२४—३)
२६८. अक्षं न चक्र्योः	द्र०ध आ ऋणोः	(१—३०—१४)
२६६. अक्षं न शचीभिः	द्र०जरितृणां कामम् आ	(१—३०—१५)
३००. अग्निः न जम्भैः	द्र०तृषु अन्नम् आवयत्	(१०—११३—८)
३०१. अग्निः न शुष्कमनम्	द्र०हेतिः रक्षः	(६—१८—१०)
३०२. अत्कं न	द्र० पुरः विदर्दः	(४—१६—१३)
३०३. अत्यः न	द्र० आ इयानः तोशते	(८—५०—५)
३०४. अत्यः न	द्र० इन्दुः पत्यते	(१—१४४—१)
३०५. अत्यः न योषाम्	द्र० पूर्वीः चम्रिषः प्र अव	(१—५६—१)
३०६. अत्यः न वाजी	द्र० रघुः अज्यमानः	(५—३०—१४)
३०७. अत्यः न	द्र० वाजयन् अधायि	(७—२४—५)
३०८. अत्यः न वाजी सुधुरः	द्र०जिहानः प्रियाणि	(३—३८—१)
३०६. अत्यं न वाजम्	द्र०हवनस्यदं रथम्	(१—५२—१)
३१०. अत्यं न वाजिनम्	द्र०पृक्षं वाजिनम् इन्द्रम्	(१—१२६—२)

३११. अत्यं न वाजिनम्	द्र०आशुं वाजिनम्	(१–१३५–५)
३१२. अद्‌भुतं न रजः	द्र० इन्द्रः अरुतहनुः	(१०–१०५–७)
३१३. अद्मसदः न	द्र० पर्वताः नि सेदुः	(६–३०–३)
३१४. अध्वनः न अन्ते	द्र०सवने नः अवस्य	(४–१६–२)
३१५. अन्तरिक्षे न वातम्	द्र० तस्मै सोमम्.............	(२–१४–३)
३१६. अतिष्ठन्तम् अमस्यं न सर्गम्	द्र०कृष्णा तमांसि	(१०–८६–२)
३१७. अपः न नावा	द्र० दुरिता तरेम	(६–६८–८)
३१८. अपाम् अवः न समुद्रे	द्र० यस्मिन् उक्थानि	(८–१६–२)
३१६. अप्सः न	द्र० गिरौ योधिषत्	(८–४५–५)
३२०. अयम् (अग्निः सोमः वा)न	द्र० परावतः	(१–१३०–१)
३२१. अयसः न धाराम्	द्र० धियं चोदय	(६–४७–१०)
३२२. अरान् न नेमिः	द्र०राजा (चर्षणीः) परिबभूव	(१–३२–१५)
३२३. अर्णवः न	द्र०नद्यः प्रति गृभ्णाति	(१–५५–२)
३२४. अर्थम् न शूरः	द्र०नः पारं प्रेरय	(१०–२६–५)
३२५. अर्भकः न कुमारकः	द्र०नवं रथन्	(८–६६–१५)
३२६. अर्वा न	द्र० पृत्सु सदावा तरणिः	(३–४६–३)
३२७. अर्वन्तः न	द्र० श्रवसः भिक्षमाणाः	(७–६०–७)
३२८. अर्वन्तः न	द्र०श्रवसः भिक्षमाणाः	(७–६१–७)
३२६. अर्वन्तः न काष्ठम्	द्र०नरः इन्द्राग्नी	(७–६३–३)
३३०. अर्वतः न	द्र०त्वा अनु वयं गीर्भिः हिन्वन्	(५–३६–२)
३३१. अवते न कोशम्	द्र०अक्षितोतिम् आच्यावयामः	(४–१७–१६)
३३२. अवतासः न	द्र०तनवः कर्तृभिः आवृतासः	(१–५५–८)
३३३. अवतम् न	द्र०सिक्तं सोमं पिब	(१–१३०–२)
३३४. अवस्यवः न वयुनानि	द्र०गृत्समदाः मन्म	(२–१६–८)
३३५. अशनिः न	द्र०भीमा हेतिः	(६–८–१०)
३३६. अश्वः न निक्तः	द्र०धूतः सोमः वारैः परिपूतः	(८–२–२)
३३७. अश्वः न हियानः	द्र०स्तोमम् उप आ द्रवत्	(८–४६–५)
३३८. अश्वासः न	द्र०यूयम् चङ्क्रमत	(८–५५–४)
३३६. असिः न पर्व	द्र०त्वम् वृजिना शृणासि	(१०–८६–८)
३४०. आजिं न अश्वाः	द्र०गिर्वाहः त्वा जग्मुः	(६–२४–६)
३४१. आजिम् न	द्र०युवयूः धियः वां जग्मुः	(४–४१–८)
३४२. आपः न	द्र०इषं परिज्मन् पीपयः	(१–६३–८)
३४३. आपः न	द्र०वृक्तबर्हिषः	(८–३३–१)
३४४. आपःन अनु ओक्यं सरः	द्र० राधसे पृणन्ति	(८–४६–३)

३४५. आपः न तृष्यते	द्र०जरितृभ्यः मय इव बभूथ	(१–१७५–६)
३४६. आपः न तृष्यते	द्र०जरितृभ्यः मय इवं बभूथ	(१–१७६–६)
३४७. आपः न देवीः	द्र० होत्रियं देवासः उप यन्ति	(१–८३–२)
३४८. आपः न द्वीपम्	द्र०प्रयांसि दधति	(१–१६६–३)
३४९. आपः न निम्नम्	द्र०इन्दवः युवाम्	(४–४७–२)
३५०. आपः न निम्नम्	द्र० मे गिरः त्वा यच्छन्तु	(८–३२–२३)
३५१. आपः न पर्वतस्य पृष्ठात्	द्र० उक्थेभिः यज्ञैः	(६–२४–६)
३५२. आपः न प्रवताः	द्र०इन्द्रं वनन्वती मतिः	(८–६–३४)
३५३. आपः न प्रवताः	द्र०सूनृताः यतीः क्रीडन्ति	(८–१३–८)
३५४. आपः न सिन्धुम्	द्र०सोमासः इन्द्रम्	(१०–४३–७)
३५५. आपः न सृष्टाः	द्र०तृत्सवः नीचीः	(७–१८–१५)
३५६. आपः न उर्वीः काकुदः	द्र०एवम् इन्द्रस्य	(१–८–७)
३५७. आपः न धायि	द्र०सवनं मे आ वसो	(८–५०–३)
३५८. आशुः न रश्मिम्	द्र०शुशुचानस्य	(४–२२–८)
३५९. इन्द्रम् न	द्र०वृत्रतुरम् आ अयजन्त	(४–४२–८)
३६०. इन्द्रं न चितयन्तः	द्र०आयवः यज्ञैः	(१–१३१–२)
३६१. इषम् न	द्र०वृत्रतुरम् विक्षु धारयम्	(१०–४८–८)
३६२. उग्रं न वीरम्	द्र०विभूतिम् उपसेदिम	(८–४९–६)
३६३. उत्सम् न	द्र०वयम् इन्द्रं सिचामहे	(२–१६–७)
३६४. उदभिः न वाजिनम्	द्र०देवाः देवं स्तोमेभिः	(२–१३–५)
३६५. उरा न वृकः	द्र०नेमिः एषां विधूनुते	(८–३४–३)
३६६. उषसम् न सूर्यः	द्र०इन्द्रं देवी तविषी सिषक्ति	(१–५६–४)
३६७. उषसम् न	द्र० घृतप्रतीकां देवीम्	(७–८५–१)
३६८. उषसः न	द्र० रायः सुमतयः न संचक्षे	(७–१८–२०)
३६९. उषसः न केतुः	द्र०हेतिः असिन्वा वर्तताम्	(१०–८९–१२)
३७०. ऊधः न	द्र० नग्नाः जरन्ते	(८–२–१२)
३७१. ऊर्जं न विश्वध क्षरध्यै	द्र०यया त्मनम् अस्मभ्यम्	(१–६३–८)
३७२. ऊर्दरम् न यवे न	द्र०इन्द्रं सोमेभिः आपृणीत	(२–१४–११)
३७३. ऋणावानं न	द्र०पृतनायन्तं सर्गैः पतयन्त	(१–१६९–७)
३७४. ऋभुः न	द्र०क्रतुभिः मातरिश्वा	(१०–१०५–६)
३७५. ऋश्यः न तृष्यन्	द्र०अप पानम् आ गहि	(८–४–१०)
३७६. ओकः न	द्र० रण्वः	(४–१६–१५)
३७७. ओकः न जानती	द्र०दस्योः सदनम् अच्छा गात्	(१–१०४–५)
३७८. कविः न निण्यम्	द्र०विदथानि साधन्	(४–१६–३)

३७६. कारं न	द्र० इन्द्राय भरम् अहन्त	(५–२६–८)
३८०. किरणाः न	द्र०गिरयः अभ्वा दृह्डासः ऐरयन्	(१–६३–१)
३८१. कुलपाः न व्राजपतिम्	द्र०सखायः चरन्तम्	(१०–१७६–२)
३८२. कृतं न श्वघ्नी देवने	द्र०संवर्गं यत् मघवा	(१०–४३–५)
३८३. कोशं न पूर्णं वसुना	द्र०न्यृष्टम् इन्द्रम्	(१०–४२–२)
३८४. क्षाः न	द्र द्यौः भीषान् शुशोच	(१–१३३–६)
३८५. खले न पर्षान्	द्र०अहम् भूरि प्रति हन्मि	(१०–४८–७)
३८६. गर्भं न माता	द्र०सोमं द्यावापृथिवी	(३–४६–५)
३८७. गवे न शाकिने	द्र०पुरुहूताय शम् गाय	(६–४५–२२)
३८८. गावः न यवसात्	द्र०चितासः मित्रम्	(७–१८–१०)
३८९. गावः न यूथम्	द्र०वध्रयः मा उप यन्ति	(८–४६–३०)
३९०. गावः न यवसेषु	द्र० त्वा उक्थेषु	(८–९२–१२)
३९१. गाम् न	द्र० इन्द्रं शंसत	(८–१–२)
३९२. गाम् न दोहसे	द्र०सखायं गीर्भिः हुवे	(६–४५–७)
३९३. गाः न	द्र०इन्द्रः अवनीः अमुञ्चत्	(१–६१–१०)
३९४. गावः न	द्र०स्वम् ओकः अच्छ आ गहि	(६–४१–१)
३९५. गावः न धेनवः वत्सम्	द्र०गिरः सुते	(६–४५–२८)
३९६. गिरिः न	द्र०स्वतवान् ऋष्वः इन्द्रः	(४–२०–६)
३९७. गिरिः न भुज्म	द्र०मघवत्सु पिन्वते	(८–५०–२)
३९८. गिरिः न विश्वतस्पतिः	द्र०विश्वतस्पृथु	(८–९८–४)
३९९. गिरिम् न	द्र० इन्द्रम् ईमहे	(८–८८–२)
४००. गिरिं न वेनाः	द्र०विदथस्य नू सदः	(१–५६–२)
४०१. गोः न	द्र०पर्व तिरश्चा वि रदा	(१–६१–१२)
४०२. गौरः न	द्र०तृषितः (सोमं)पिव	(१–१६–५)
४०३. घर्मम् न सामन्	द्र० जुष्टम् बृहत् तपत	(८–८९–७)
४०४. घृणात् न	द्र० द्यौः भीषाँ शुशोच	(१–१३३–६)
४०५. घृतं न	द्र०इमं स्तोमम् अभिष्टये	(८–१२–४)
४०६. घृतं न	द्र०ऋतस्य आसनि पिप्ये	(८–१२–१३)
४०७. घृतं न पूतम् अद्रिभिः	द्र०इन्द्राग्निभ्यां हव्यम्	(५–८६–६)
४०८. घृतप्रुषः न ऊर्मयः	द्र०वृषणः द्रोणम्	(६–४४–२०)
४०९. चक्रं न वृत्तम्	द्र०अर्वतः नः चर्षणीनाम्	(४–३१–४)
४१०. चक्रं न वृत्तम्	द्र०मे मनः भिया वेपते	(५–३६–३)
४११. चक्रं न वर्ति एतशम्	द्र०रोदसी त्वा अनु	(८–६–३८)
४१२. चम्रीषः न	द्र०शवसा पाञ्चजन्यः	(१–१००–१२)

४१३. जनं न धन्वन् अभि द्र० सत्रा वावृधुः (६–३४–४)
४१४. जनयः न द्र०स्वसारः पत्नी दुवस्यन्ति (१–६२–१०)
४१५. जनयः न गर्भम् द्र०अद्रयः अभि प्र दद्रुः (४–१६–५)
४१६. जिव्रयः न द्र०देवाः त्वाम् अवासृजन्त (४–१६–२)
४१७. जुष्टां न श्येनः वसतिम् द्र० इन्द्रम् उत् इत् (१–३३–२)
४१८. जूः न वस्त्रैः द्र० इन्द्रं सोमैः आ ऊर्णुत (२–१४–३)
४१६. ज्योतिः न द्र० दक्षिणा विश्वम्अभि (८–२४–१)
४२०. तीर्थे न अर्य द्र० पृथुबुध्नासःएताः (१–१६६–६)
४२१. तीर्थे न तातृषाणम् ओकः द्र० यज्ञः ऋन्धन् (१–१७३–११)
४२२. तुजये न द्र० यजमानाय प्रिया प्र भरे (१०–४६–४)
४२३. तूर्णाशं न गिरेः अधि द्र० हुवे सुशिप्रम् (८–३२–४)
४२४. तष्टा न वृक्षं वनिनः द्र० शवसा (शत्रून्) (१–१३०–४)
४२५. दस्मः न सदमन् द्र०इन्द्रः सर्गम् अकृणोत् (७–१८–११)
४२६. दिवः न द्र०इन्द्रस्य पन्थासः दुघानाः (१–१००–३)
४२७. दिवः न द्र०त्वेषः शिमीवान् रवथः (१–१००–१३)
४२८. दिवः न द्र० असुर्य विश्वं तुभ्यम् अनु (६–२०–२)
४२६. दिवः न वृष्टिम् द्र०प्रथयन् ववक्षिथ (८–१२–६)
४३०. दिवे न सूर्यः द्र० दर्शतः हस्ताय वज्रः (८–७०–२)
४३१. दिवि तारः न द्र० श्वेतासः उक्षणः रोचन्ते (८–५५–२)
४३२. दीर्घः न अध्वा सिध्रम् द्र० यज्ञः जुहुराणः (१–१७३–११)
४३३. दुर्गे दुरोणेक्रत्वान् द्र०यातां सहस्रा (४–२८–३)
४३४. दुर्मदासः न सुरायाम् द्र० हृत्सु पीतासः (८–२–१२)
४३५. दुर्यः न यूपः द्र०पज्रेषु स्तोमः (१–५१–१४)
४३६. दूतः न द्र०रोदसी अन्तः चरत् (१–१७३–३)
४३७. द्यौः न द्र०शवः प्रथिना(युज्यताम्) (१–८–५)
४३८. द्यौः न द्र०अभिभूति क्षत्रं पुष्यात् (४–२१–१)
४३६. द्यौः न द्र० यः अभि भूम (६–२०–१)
४४०. द्यौः न द्र०दुवोयुः अर्यः रायः अभिभूम (६–३६–५)
४४१. द्यौः न द्र०शवः प्रथिना (८–५६–१)
४४२. द्यावः न द्र०(कर्माणि) मानुषा विचरन्ति (१–५१–१)
४४३. द्यावः न द्युम्नैः द्र०वयम् अर्यः मदेम (४–१६–१६)
४४४. द्रुणा न पारं नदीनाम् द्र०उक्थ वाहसे विभ्वे (८–६६–११)
४४५. धनं न जिग्युषः द्र०अस्य अंश उत् रिच्यते (७–३२–१२)
४४६. धनं न स्पन्द्रम् द्र०सोमान् बहुलम् आ सुनोति (१०–४२–५)

४४७. धन्वचरः न वंसगः	द्र०रयीणां दामनः आगमन्	(५–३६–१)
४४८. धानानाम् न	द्र०आसा हस्ते नः दावने	(८–७०–१२)
४४६. धेनुः न वत्सं यवसस्य पिप्युषी	द्र० संबाधात्	(२–१६–८)
४५०. धेनुं न सूयवसे	द्र०ब्रह्माणि त्वा उप ससृजे	(७–१८–४)
४५१. धेनूनां न (पयः)	द्र०(स्तुतीनां)भुजः	(१०–२२–१३)
४५२. नदं न भिन्नम्	द्र०शयानम् आपः अतियन्ति	(१–३२–८)
४५३. नद्यः न	द्र०जरित्रे इषं पीपेः	(४–१६–२१)
४५४. नद्यः न	द्र०जरित्रे इषं पीपेः	(४–२४–११)
४५५. नभः न	द्र०कृष्णम् अवतस्थिवांसम् इष्यामि	(८–६६–१४)
४५६. नभन्वो न वक्वाः	द्र०ध्वस्राः युवतीः प्र अपिन्वत्	(४–१६–७)
४५७. नरां न शंसैः	द्र०स्वभिष्टयः वयम् अंसाम	(१–१३–६)
४५८. नरां न विस्पर्धासः	द्र० अस्माकं शंसैः	(१–१७३–१०)
४५६. नवम् इत् न कुम्भम्	द्र०गिरिं बिभेद	(१०–८६–७)
४६०. नावं न पर्षणिम्	द्र०इन्द्रं शूषस्य धुरि	(१–१३१–२)
४६१. नावं न समने	द्र०वचस्युवं सवनेषु	(२–१६–७)
४६२. निम्नम् न	द्र०समाशिरां सहस्रं एदु रीयते	(१–३०–२)
४६३. निम्नम् न सिन्धवः	द्र०प्रयः युवाम् अभि	(५–५१–७)
४६४. पतिं न पत्नीः उशतीः	द्र०मनीषाः त्वा	(१–६२–११)
४६५. पत्नीभिः न वृषभः	द्र०ते सुमतिभिः	(२–१६–८)
४६६. पर्वतः न	द्र०धरुणेषु अच्युतः	(१–५२–२)
४६७. पशुं न गोपाः	द्र०भोजनः (प्राप्तये)वयम्	(१०–२३–६)
४६८. पात्रं न शोचिषा	द्र०हावान् दस्युम्	(१–१७५–३)
४६६. पितरं न पुत्रासः	द्र० वयं मंहिष्ठं त्वा	(१–१३०–१)
४७०. पितरं न पुत्राः	द्र०सबाध. समानदक्षाः	(७–२६–२)
४७१. पितरं न	द्र०जन्तवः माम् हवन्ते	(१०–४८–१)
४७२. पुत्रः न पितरम्	द्र०रायस्कामः सुदक्षिणं हुवे	(७–३२–३)
४७३. पुत्रः न पितुः	द्र०सिचं स्वादिष्ठया गिरा	(३–५३–२)
४७४. पुरम् न	द्र०अश्वस्य व्रजम् दर्षसि	(८–३२–५)
४७५. पुरम् न धृष्णु	द्र०प्रियमेधासः इन्द्रं प्र अर्चत	(८–६६–८)
४७६. प्रयः न	द्र० इयं स्तोमं प्रहर्षि	(१–६१–१)
४७७. प्रवतः न ऊर्मिः	द्र०ब्रह्माणि त्वा अवधवन्ते	(६–४७–१४)
४७८. बर्हिः न	द्र०सुदासे अंहोः यत् वृथा वर्क	(१–६३–७)
४७६. भगः न	द्र०मेने परमे व्योमन्	(१–६२–७)
४८०. भगः न	द्र० कारे मतीनां हव्यः	(३–४६–३)

४८१. भगः न	द्र०हव्यः, चारुः	(५–३३–५)
४८२. भगम् न	द्र०वसुविदं त्वा अनुचरामसि	(८–६१–५)
४८३. भगं न कारिणम्	द्र०अध्वरे इन्द्र हुवे	(८–६६–१)
४८४. भीमं न गाम्	द्र०दित्सन्तं त्वा न वारयन्ते	(८–८१–३)
४८५. भृगवः रथं न	द्र०इन्द्राय ब्रह्म अकर्म	(४–१६–२०)
४८६. भृतिं न	द्र०वयं ते ब्रह्माणि प्र भरामसि	(८–६६–११)
४८७. भृष्टिः न गिरेः	द्र० इन्द्रस्य शवः पौंस्ये	(१–५६–३)
४८८. मधौ न मक्षः	द्र० इमे ब्रह्मकृतः सुते सचा	(७–३२–२)
४८९. मर्तः न	द्र०शश्रमाणः बिभीवान् इन्द्रः	(१०–१०५–३)
४९०. मर्यः न योषाम्	द्र० इन्द्रम् अच्छा	(४–२०–५)
४९१. मर्यं न शुन्ध्युम्	द्र०मघवानम् मे	(१०–४३–१)
४९२. मातुः न सीम्	द्र०उप सृज इयध्यै	(६–२०–८)
४९३. मित्रः न	द्र०इन्द्रः जने श्रूयते	(१०–२२–१)
४९४. मित्रः न	द्र०इन्द्रः जनेषु असाम्या	(१०–२२–२)
४९५. मित्रः न	द्र० नः कत् आगन्	(१०–२९–४)
४९६. मित्रायुवः न	द्र०पूर्पतिम् मध्यायुवः	(१–१७३–१०)
४९७. मूषः न शिश्ना	द्र०ते स्तोतारं मा आध्यः	(१०–३३–३)
४९८. मृगः न	द्र०अश्नः (सन्) अति	(१–१७३–२)
४९९. मृगः न कुचरः	द्र०इन्द्रः भीमः	(१०–१८०–२)
५००. मृगः न वारणः दाना	द्र० त्वं पुरुत्रा	(८–३३–८)
५०१. मृगः न हस्ती	द्र०तविषीम् उषाणः भीमः	(४–१६–१४)
५०२. मृगं न व्राः	द्र० यत् ईम् अस्वत् अन्ये मृगयन्ते	(८–२–६)
५०३. मृगं न	द्र०अहं गिरा भूर्णिं त्वा मा चुक्रुधम्	(८–१–२०)
५०४. यजमानः न होता	द्र० कृष्णः ईम् अजिघर्ति	(४–१७–१५)
५०५. यवम् न	द्र० इन्द्रः वृषा चर्कृषत्	(१–१७६–२)
५०६. यवं न	द्र०पश्व्यः आ ददे अस्य वृष्णः ओदने	(८–६३–९)
५०७. यवं न	द्र० वृष्टिः विप्राः अस्य महः	(१०–४३–७)
५०८. युजं न	द्र०जना मित्रं प्र मिनन्ति	(१०–८९–८)
५०९. रजी न	द्र०यस्य हरी केशिना	(१०–१०५–२)
५१०. रथः न	द्र० वायुः रजसस्पृष्ट ऊर्ध्वः	(३–४९–४)
५११. रथः न महे	द्र०इन्द्रः अनुमाद्यः	(६–३४–२)
५१२. रथं न	द्र०अस्मै स्तोमं सं हिनोमि	(१–६१–४)
५१३. रथं न	द्र०स्वपाः भद्रा सुकृता अतक्षम्	(५–२९–१५)
५१४. रथं न पृतनासु	द्र०अस्मान् आतिष्ठ	(१०–२९–८)

५१५. रथं न धीरः	द्र०आयवः ते इमां वाचम	(१–१३०–६)
५१६. रथे न पादम्	द्र०जरितारः इन्द्रे कामं दधुः	(७–३२–२)
५१७. रथ्यः न धेनाः	द्र०रेजन्ते विश्वा कृत्रिमाणि	(७–२१–३)
५१८. रम्भं न जिव्रयः	द्र०वयं त्वा आ ररभ्म	(८–४५–२०)
५१९. रयिम् न	द्र०सुन्वते सचा ऊतिभिः	(१०–१३४–४)
५२०. रिष्टं न यामन्	द्र०विश्वा दुर्मतिः अप भूतु	(१–१३१–७)
५२१. वंसगः न	द्र०इन्द्रः वज्रं शिशीते	(१–५५–१)
५२२. वंसगः तातृषाणः न	द्र०इन्द्र सोमं पिब	(१–१३०–२)
५२३. वज्रः न संभृतः	द्र०सबलः अनपच्युतः	(८–६३–६)
५२४. वत्सं न मातरः	द्र०मतयः इन्द्रं रिहन्ति	(३–४१–५)
५२५. वत्सं न मातरः	द्र० गिरः त्वा अभि प्र णोनुवुः	(६–४५–२५)
५२६. वत्सं न मातरः	द्र०गिरः त्वा समनूषत	(८–६५–१)
५२७. वत्सा न स्वसरेषु धेनवः	द्र०इन्द्र गीर्भिः	(८–८८–१)
५२८. वत्सानां न तन्तयः	द्र०ते दामन्वन्तः	(६–२४–४)
५२९. वनानि न	द्र०प्रजहितानि अमन्महि	(८–१–१३)
५३०. वने न वायो न्यधायि	द्र० वां स्तोमः शुचिः	(१०–२६–१)
५३१. वयः न स्वसराणि	द्र० नदीनां प्रयांसि	(२–१९–२)
५३२. वयः न वर्वृतति आमिषि	द्र० बाह्वोः गवि	(६–४६–१४)
५३३. वयः न अस्तम्	द्र० तुग्र्यं धुरम्	(८–३–२३)
५३४. वयः न वृक्षम्	द्र० सोमासः इन्द्रम्	(१०–४३–४)
५३५. वरुणः न	द्र०दस्मः मायी	(१०–६६–१०)
५३६. वरुणः न	द्र०दस्मः त्वं मायी	(१०–१४७–५)
५३७. वहतुं न धनेवः	द्र०सधस्थम् अभिचारु	(१०–३२–४)
५३८. वाचं न वेधसाम्	द्र० अस्माकं (हविः)	(१–१२९–१)
५३९. वाजं न जिग्युषे	द्र०रथ्यम् अश्वं संकिर	(६–४६–२)
५४०. वाज न गध्यम्	द्र० ऋज्रा	(४–१६–११)
५४१. वाजयुः न रथम्	द्र० ते वयः प्र भरामहे	(२–२०–१)
५४२. वातः न जूतः स्तनयद्भिः	द्र० स अस्य शुष्मम्	(४–१७–१२)
५४३. वायुः न नियुतः	द्र० रथे युज्यमाना हरी	(३–३५–१)
५४४. वायुः न नियुतः	द्र० नः अच्छा आ याहि	(७–२३–४)
५४५. वार् न वातः तविषीभिः	द्र०इन्द्रः शवसा	(४–१९–४)
५४६. विम् न पाशिनः	द्र०त्वां केचित् मा	(३–४५–१)
५४७. विदथ्यः न सम्राट्	द्र०क्रतुः कृष्टीः अभ्यस्ति	(४–२१–२)
५४८. विषः न	द्र०यस्य ऊतयः	(६–४४–६)

५४६. वृक्षः न पक्वः द्र०नवेभिः ऋषिभिः (४–२०–५)
५५०. वृजनम् न द्र० इन्द्रः भूमा सविव्ये (१–१७३–६)
५५१. वृषभः न भीमः तिग्मशृंगः द्र० एकः विश्वाः (७–१९–१)
५५२. वृषभः न द्र० भीमः इन्द्रः (१०–१०३–१)
५५३. वृषभः न तिग्मशृंगः द्र०मन्थः ते इन्द्र (१०–८६–१५)
५५४. वृषा न क्रुद्धः द्र०इन्द्रः रजःसु आपतयत् (१०–४३–८)
५५५. वृष्णे न द्र० सुतानां ते पूर्वपा यं दधामि (८–३४–५)
५५६. वृषायुधः न वध्रय द्र० निरष्टाः इन्द्रात् प्रवद्भिः (१–३३–६)
५५७. वेः न द्र०अमतिः नग्नता नि बाधते (१०–३३–२)
५५८. वेः न गर्भम् द्र०इन्द्रः गुहा निहितम् (१–१३०–३)
५५९. वेनः न द्र० हवं शृणुधी (८–३–१८)
५६०. व्रजं न गावः द्र० रायः प्रयता अपि ग्मन् (५–३३–१०)
५६१. शसने न गावः द्र०पृथिव्याः आपृक् (१०–८९–१४)
५६२. शाखा न पक्वा द्र०अस्य दाशुषे सूनृता (१–८–८)
५६३. शिशुम् न मातरा द्र० क्षोणी तुरयन्तम् अनु (८–९९–६)
५६४. शोचिः न अग्नेः द्र०दिद्युतः धीतयः विपाम् (८–६–७)
५६५. श्येनः न द्र०स्रवन्तीः रजांसि अतरः (१–३२–१४)
५६६. श्रिये न गावः सोमम् द्र०मे मनीषाः इन्द्रम् (४–४१–८)
५६७. सदसो न भूम द्र० स ईम् जजान अनपच्युतम् (४–१४–४)
५६८. समुद्रः न द्र० अस्य उदरे व्यचः दधे (१–३०–३)
५६९. समुद्रं न सिन्धवः द्र० उक्थ शुष्मा गिरः (६–३६–३)
५७०. समुद्रं न स्रवतः द्र०सोमासः इन्द्रम् आविशन्ति (३–४६–४)
५७१. समुद्रं न सुभ्वः स्वाः द्र० सद्मबर्हिषः दिवि यम् (१–५२–४)
५७२. समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः द्र० गूर्तयः परीणसः (१–५६–२)
५७३. समुद्रे न सिन्धवः द्र० अस्मिन् पथ्याः रायः (६–१९–५)
५७४. सरः न द्र० सोमेभिः उरु स्फिरम् आ प्रासि (८–१–२३)
५७५. सहवत्सा न धेनुः द्र० ऊतरा सूरधरः पुत्रः (१–३२–९)
५७६. सिंहः न द्र०अपांसि वस्तोः रक्षः (१–१७४–३)
५७७. सिंहः न द्र०आयुधानि बिभ्रत् भीमः त्वम् (४–१६–१४)
५७८. सिन्धवः न द्र० वसूयवः त्वाम् ऊर्जः (२–११–१)
५७९. सीराः न वन्तीः द्र० धुनिः त्वं धुनिमतीः (१–१७४–९)
५८०. सीराः न वन्तीः द्र०धुनिः त्वं धुनिमतीः (६–२०–२)
५८१. सुयतः न अर्वा द्र०सोतुः बाहुभ्यां यं ते (७–२२–१)
५८२. सूनुभिः न द्र०रुद्रेभिः ऋभ्वास इन्द्रः (१–१००–५)

५८३. सूरिः न धातवे अजाम्	द्र०मघवा वत्सं नः	(८–७०–१५)
५८४. सूर्यः न	द्र० इन्द्रः चक्रम् अवर्तयत्	(२–११–२०)
५८५. सूर्यः न	द्र० इन्द्रः रोदसी अवर्धयत्	(८–१२–७)
५८६. सृण्यः न जेता	द्र० यः ऋषिभिः वि ररप्शे	(४–२०–५)
५८७. सोमः न पीतः	द्र०नर्या अपांसि कृण्वन्	(८–६६–२१)
५८८. सोमः न पृष्ठे पर्वतस्य	द्र०ते हनू शिप्रे	(५–३६–२)
५८९. स्तनं न मध्वः	द्र०त्वां वाजैः पीपयन्त	(१–१६६–४)
५९०. स्तर्यः न गावः	द्र० आपः चित् पिप्युः	(७–२३–४)
५९१. स्थूरं न कच्चित्	द्र० वयं त्वां वाजे चित्रम्	(८–२१–१)
५९२. स्वर् न	द्र०गोःचित्रतमं वपुः आ इषे	(४–२३–६)
५९३. स्वर् न	द्र०दृशे कं नृतो इषिरः बभूथ	(६–२९–३)
५९४. स्वर् न	द्र०शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः	(१०–४३–६)
५९५. स्वर् मीळ्हे न	द्र० सवने चकानाः	(४–१६–१५)
५९६. स्वानः न अर्वा	द्र० तम् (योनिम्)	(१–१०४–१)
५९७. हरितः न	द्र० यस्य ज्योतिः श्रवसे अकारि	(१–५७–३)
५९८. हरितः न सूर्यम्	द्र०त्वा (अश्वाः)आ	(१–१३०–२)
५९९. हव्यः न	द्र० इषवान् मन्म रेजति	(१–१२९–६)
६००. हिन्वानं न वाजयुम्	द्र०शक्रः एनं विश्व	(८–१–१९)
६०१. होता न अमृतः	द्र० वां सुम्नम् कः स्तोमः	(४–४१–१)

सोम

६०२. ह्रदं न ऊर्मयः	द्र० ब्रह्माणि त्वां न्यृषन्ति	(१–५२–७)
६०३. अग्निः न वने	द्र० आसृज्यमानः पाजांसि	(९–८८–५)
६०४. अग्निं न मथितम्	द्र०सं दिदीपः	(८–४८–६)
६०५. अत्कं न निक्तम्	द्र०परि सोमः अव्यत	(९–६९–४)
६०६. अत्या हियाना न	द्र० असृग्रं वाजसातये	(९–१३–६)
६०७. अत्यः न	द्र० गोभिः अज्यते	(९–३२–३)
६०८. अत्यः न वाजसृत्	द्र०इन्दुः कनिक्रन्ति	(९–४३–५)
६०९. अत्यः न सत्त्वभिः	द्र० वृथा पाजांसि कृणुते	(९–७६–१)
६१०. अत्यः न यूथे	द्र०वृषयुः कनिक्रदत्	(९–७७–५)
६११. अत्यः न	द्र०वोळ्हा वृषा	(९–८१–२)
६१२. अत्यः न	द्र०मृष्टः	(९–८२–२)
६१३. अत्यः न	द्र० सानसिः	(९–८५–५)
६१४. अत्यः न हियानः	द्र०अभिवाजम् अर्ष	(९–८६–३)
६१५. अत्यः न	द्र० क्रीडन् परिवारम् अर्षति	(९–८६–२६)

६१६. अत्यः न	द्र० क्रीडन् हरिः असरत्	(६—८६—४४)
६१७. अत्यः न	द्र०वाणी द्रोणं ननक्षे	(६—६३—१)
६१८. अत्यः न वाजी	द्र० अरातीः तरतीत्	(६—६६—१५)
६१६. अत्यः न	द्र० सृत्वा	(६—६६—२०)
६२०. अत्यः न	द्र०क्रदः	(६—६७—१८)
६२१. अत्य. न	द्र०हित्वा	(६—६७—४५)
६२२. अत्यासः न ससृजानासः	द्र० शुक्रासः धन्वन्ति	(६—६७—२०)
६२३. अपां न ऊर्मयः	द्र० सोमासः प्रयन्ति	(६—३३—१)
६२४. अरुषः न	द्र० युज्यते	(६—७२—१)
६२५. अर्वन्तः न	द्र० श्रवस्यवः	(६—१०—१)
६२६. अर्वन्त. न श्रवस्यवः	द्र० सर्गा असृक्षत	(६—६६—१०)
६२७. अश्वः न	द्र० चक्रदः वृषा	(६—६४—३)
६२८. अश्वः न	द्र० यज्ञियः देवान् अप्येति	(६—७१—६)
६२६. अश्वः न	द्र० क्रदः	(६—६७—२८)
६३०. अश्वः न	द्र०कृत्व्यः	(६—१०१—२)
६३१. अश्वः न	द्र० निक्तः सोमः	(६—१०६—१०)
६३२. अश्वं न होतारः	द्र० अमृताय ईम् आशूशुभन्	(६—६२—६)
६३३. अश्वं न	द्र० वाजिनं मर्जयन्तः	(६—८७—१)
६३४. अश्वं न	द्र० अप्तुरम् रजस्तुरम्	(६—१०८—७)
६३५. अहिः न	द्र०जूर्णाम् अतिसर्पति त्वचम्	(६—८६—४४)
६३६. अह्यः न ईक्षेष्यासः	द्र० चारवः	(६—७७—३)
६३७. आपः न प्रवताः	द्र० इन्दवः अन्वसरन्	(६—६—४)
६३८. आपः न प्रवताः	द्र० अभि गावः अधन्विषुः	(६—२४—२)
६३६. आपः न	द्र०सुमतिः भव	(६—८८—७)
६४०. इन्द्रः न	द्र०महा कर्माणि चक्रिः	(६—८८—४)
६४१. इषुः न धन्वन्	द्र० मतिः प्रति धीयते	(६—६६—१)
६४२. उत्सं न कंचित् जनपानम्	द्र० अभि अभि हि	(६—११०—५)
६४३. उषसः न सूर्यः	द्र० इन्दुः सिषक्ति	(६—८४—२)
६४४. उषाः सूर्यः न रश्मिभिः	द्र० मही रोदसी आपृण	(६—४१—५)
६४५. ऊर्मि न सिन्धुः	द्र०सोमः गिरः आवीविपत्	(६—६६—७)
६४६. ऋभुः न रथ्वं नवम्	द्र० दधाता केतम् आदिशे	(६—२१—६)
६४७. कवयः न गृध्राः	द्र० अदब्धाः पदे रेभन्ति	(६—६७—५७)
६४८. कामः न	द्र० यः देवयताम् असर्जि	(६—६७—४६)
६४६. कारिणे न	द्र०धनं प्र यंसत्	(६—६७—३८)

६५०. गावः न	द्र०भूर्णयः	(६–४१–१)
६५१. गावः अस्तं न धेनवः	द्र०इन्दवः समुद्रम्	(६–६६–१२)
६५२. गावः न धेनवः	द्र० इन्दवः प्र असिष्यदन्त	(६–६८–१)
६५३. गावः न यवसेषु	द्र० नः हृदि रारन्धि	(१–६१–१३)
६५४. गावः न यवसे	द्र० ते सख्ये वयं रणन्	(१०–२५–१)
६५५. गावः वत्सं न मातरः	द्र० इन्द्रं विप्राः अभ्यनूषत	(६–१२–२)
६५६. ग्रन्थिम् न	द्र० ग्रथितं माम् वि ष्य	(६–६७–१८)
६५७. घृतं न पवते मधु	द्र० अयं सोमः कपर्दिने	(६–६७–११)
६५८. घृतं न पवते शुचि	द्र० अयं ते आघृणे सुतः	(६–६७–१२)
६५६. चरुः न	द्र० तम् ईङ्खय	(६–५२–३)
६६०. चित्रम् न दिवः	द्र० ज्योतिः बृहत्	
६६१. जनः न पुरि	द्र० हरिः चम्वोः सदः विशत्	(६-–१०७–१०)
६६२. जनः न युध्वा	द्र० महतः उपब्दिः	(६–८८–५)
६६३. जारः न योषितम्	द्र० मानुषीषु आसीदति	(६–३८–४)
६६४. जारः न योषणाम्	द्र० सरत् योनिम् आसदत्	(६–१०१–१४)
६६५. जारम् न कन्या	द्र० दश योषणः त्वा अभ्यनूषत	(६–५६–३)
६६६. दिवः न विद्युत्	द्र०सोमस्य धारा पवते	(६–८७–८)
६६७. दिवः न वृष्टिः	द्र० पवमान अक्षाः	(६–८६–१)
६६८. दिवः न वृष्टयः	द्र० ते धाराः प्रयन्ति	(६–५७–१)
६६६. दिवः न वृष्टयः	द्र० असश्चतः ते धाराः प्रयन्ति	(६–६२–२८)
६७०. दिवः न सर्गाः	द्र० अससृग्रभ् अह्नाम्	(६–६७–३०)
६७१. दिवः न सानु	द्र० धारा पवित्रे वृथा अर्षति	(६–१६–७)
६७२. दिवः न सानु	द्र० स्तनयन् अचिक्रदत्	(६–८६–६)
६७३. दिव्या न कोशासः	द्र०सोमा अभ्रवर्षाः	(६–८८–६)
६७४. दूतम् न	द्र०पूर्वचित्तयः तम् आशासते	(६–६६–५)
६७५. देवः न सूर्यः	द्र० सोमः भुवनोपरि तिष्ठति	(६–५४–३)
६७६. देवः न सूर्यः	द्र० अक्रान्	(६–६४–६)
६७७. देवः न	द्र० सूर्यः	(६–६३–१३)
६७८. देवः न	द्र० सविता सत्यमन्मा	(६–६७–४८)
६७६. धन्वन् न तृष्णा	द्र० समरीत तान् अभि	(६–७६–३)
६८०. धुरं वाजी न यामनि	द्र० पवित्रम् अत्यक्रमीत्	(६–४५–४)
६८१. धेनुः न वत्सम्	द्र० पयसाभि वज्रिणम् इन्दवः	(६–८६–२)
६८२. नावा न सिन्धुम्	द्र० वि अति पर्षि विद्वान्	(६–७०–१०)
६८३. पयः न	द्र० दुग्धम्	(६–६६–१५)

६८४. परावतः न साम	द्र० धीतयः यत्र आरणन्ति	(६–१११–२)
६८५. पशौ न रेत	द्र० सोमः चमूषु सीदति	(६–६६–६)
६८६. पितुः न पुत्र	द्र० क्रतुभिः यतानः त्वम्	(६–६७–३०)
६८७. पृतनाषाट् न	द्र० त्वं यज्ञः	(६–८८–७)
६८८. पैद्वः न	द्र० त्वम् अहि हन्ता	(६–८८–४)
६८६. प्रियः न मित्रः	द्र० शुचिः	(१–६१–३)
६६०. प्रियाम् न जारः	द्र० शत्रून् अपघ्नन् एषि	(६–६६–२३)
६६१. भुजे न पुत्र ओण्योः	द्र० जामिः अत्के अव्यत	(६–१०१–१४)
६६२. भृतिम् न	द्र० उद्यतं वचः आभर	(६–१०३–१)
६६३. मखः न	द्र० क्रीळुः मंहयुः	(६–२०–७)
६६४. मखम् न भृगवः	द्र० अराधसं श्वानम् अपहत	(६–१०१–१३)
६६५. मर्यः न योषाम्	द्र० अभि निष्कृतं यन्	(६–६३–२)
६६६. मर्यः न शुभ्रः	द्र० तन्वं मृजानः	(६–६६–२०)
६६७. महिषः न	द्र० नृम्णः शिशानः शोभते	(६–६६–३)
६६८. महिषः न शृङ्गम्	द्र० तिग्मे शिशानः अदधावत्	(६–८७–७)
६६६. मर्मृजानं महिषं न	द्र० सानौ अंशुं दुहन्ति	(६–६५–४)
७००. मही न धारा	द्र० अति अन्धः अर्षति	(६–८६–४४)
७०१. मातरा न ददृशानः	द्र० उस्त्रियः नानदत् एति	(६–७०–६)
७०२. मातृभिः न शिशुः	द्र० वावशानः	(६–६३–२)
७०३. मित्रः न	द्र० दर्शतः	(६–२–६)
७०४. मृगः न	द्र० तक्तः	(६–३२–४)
७०५. मृगः न महिषः	द्र० वनेषु सीदन् अयासीत्	(६–६२–६)
७०६. यज्ञः न सप्त धातृभिः	द्र० सोमासः गोभिः अञ्जते	(१०–३–७६)
७०७. यूथे न निःष्ठा वृषभः	द्र० विश्वा भुवना वितिष्ठसे	(६–११०–६)
७०८. रथः न	द्र० भूरिषाट्	(६–८८–२)
७०६. रथः न	द्र० वाजं सनिष्यन् अयासीत्	(६–६०–१)
७१०. रथः न	द्र० सर्जि सनये हियानः	(६–६२–१)
७११. रथम् न	द्र० भुरिजोः सम् ईम् अहेसत	(६–७१–५)
७१२. रथं न गावः समनाह	द्र० सोमाः मां पर्वसु	(८–४८–५)
७१३. रथे न वर्म	द्र० सुवानः अव्ययम् अव्यत	(६–६८–२)
७१४. राजा न	द्र० मित्रम्	(६–६७–३०)
७१५. राजा न	द्र० समितीः इयानः	(६–६२–६)
७१६. राजानः न प्रशस्तिभिः	द्र० सोमासः गोभिःअञ्जते	(६–१०–३)
७१७. रेभः न	द्र० पूर्वीः उषसः विराजति	(६–७१–७)

७१८. वत्सः न मातुः ऊधनि	द्र० मतिः उपसर्जि	(९–६९–१)
७१९. वत्सम् न धेनवः	द्र० वाश्राः अभि अर्षन्ति	(९–१३–७)
७२०. वत्सं जातं न धेनवः	द्र०मातरः त्वां रिहन्ति	(९–१००–७)
७२१. वत्सं न मातृभिः	द्र० गय साधनं संसृजत	(९–१०४–२)
७२२. वत्सं न पूर्वे आयुनि	द्र० जातं रिहन्ति मातरः	(९–१००–१)
७२३. वरः न योषणाम्	द्र०सरत् योनिम् आसदम्	(९–१०१–१४)
७२४. वरुणः न सिन्धून्	द्र० वना वसाना	(९–९०–२)
७२५. वसुभिः न निक्तैः	द्र० गावः पयसा अभि	(९–९३–३)
७२६. वाजं न एतशः अच्छा	द्र० सः इष	(९–१०८–२)
७२७. वाजे न वाजयुम्	द्र० अव्यः वारेषु सिञ्चत	(९–६३–१९)
७२८. वाजी न सप्तिः	द्र० समना जिगाति	(९–९६–९)
७२९. वातः न	द्र० जूतः	(९–९७–५२)
७३०. वायुः न नियुत्वान्	द्र० इष्टयामा त्वम्	(९–८८–३)
७३१. विश्पतिः न	द्र वह्निः	(९–१०८–१०)
७३२. वृक्षम् न पक्वम्	द्र०धूनवत् वसूनि	(९–९७–५३)
७३३. वृष्टिं न तन्यतुः	द्र० मनोयुजं धियम् आ सृज	(९–१००–३)
७३४. वेः न द्रुषद्	द्र० चम्वोः आसदत् हरि.	(९–७२–५)
७३५. वेधाः न योनिम्	द्र० हरिः पवित्रे अव्यतः	(९–१०१–१५)
७३६. व्रजम् न पशुवर्धनाय	द्र०कनीयन् मन्म पवते	(९–९४–१)
७३७. शकुनः न पत्वा वनेषु	द्र०सोमः कलशेषु सत्ता	(९–९६–२३)
७३८. शर्धः न मारुतम्	द्र० त्वं पवस्व	(९–८८–७)
७३९. शर्याभिः न भरमाणः	द्र० अभ्यभि हि श्रवसा	(९–११०–५)
७४०. शिशुः न क्रीडन्	द्र० पवमानः अक्षाः	(९–११०–१०)
७४१. शिशुः न जातः	द्र० अवचक्रदत् वने	(९–७४–१)
७४२. शिशु जज्ञानम् (न)	द्र० हर्यतं मृजन्ति	(९–९६–१७)
७४३. शिशुम् न	द्र० यज्ञैः परिभूषत श्रिये	(९–१०४–१)
७४४. शिशुम् न	द्र० यज्ञैः स्वदयन्त गूर्तिभिः	(९–१०५–१)
७४५. शुभ्रः न	द्र० मामृजे युवा	(९–१४–५)
७४६. शूरः न	द्र०आयुधा धत्ते	(९–७६–२)
७४७. शूरः न सत्वा गाः गव्यन् अभि	द्र० अदधावत्	(९–८७–७)
७४८. शूरः न	द्र० गोषु तिष्ठति	(९–१६–६)
७४९. शूरः न युध्यन्	द्र० अव नः निदः स्यः	(९–७०–१०)
७५०. शूरः न रथः	द्र० कविः काव्या भरते	(९–९४–३)
७५१. श्येनः न	द्र० विक्षु सीदति	(९–३८–४)

७५२. श्येनः न	द्र० वसु सीदति	(६–५७–३)
७५३. श्येनः न	द्र० योनिम् आसीद	(६–६१–२१)
७५४. श्येनः न	द्र० योनिम् आसदत्	(६–६२–४)
७५५. श्येनः न	द्र० योनिम् आसीदन्	(६–६५–१६)
७५६. श्येनः न योनिम्	द्र० सदनम् एषति	(६–७१–६)
७५७. श्येनः न	द्र० योनिं घृतवन्तम् आसदम्	(६–८२–१)
७५८. श्येनः न वसु	द्र० कलशेषु सीदसि	(६–८६–३५)
७५९. श्येनः न तक्तः	द्र० ते रसः अर्षति	(६–६७–१५)
७६०. श्रवस्यवः न पृतनाजः	द्र० पवित्रेभिः पवमानाः	(६–८७–५)
७६१. सखा सख्युः न	द्र० प्रमिनाति संगिरम्	(६–८६–१६)
७६२. सख्युः न जामिम्	द्र० क्रन्दन् एति	(६–६६–२२)
७६३. सप्तिः न	द्र० वाजयुः	(६–१०३–६)
७६४. सप्तिः न वाजयुः	द्र० असर्जि कलशान् अभि	(६–१०६–१२)
७६५. सप्तिः न वाजयुः मीळहे	द्र० तिरः अण्वानि	(६–१०७–११)
७६६. समुद्रासः न	द्र० सवनानि वि विव्यचुः	(६–८०–१)
७६७. समुद्रम् न	द्र० संवरणानि अग्मन्	(६–१०७–६)
७६८. सिन्धवः न नीचीः	द्र० सुतासः कलशान् अभि	(६–८८–६)
७६९. सर्गः न तक्तिः	द्र० एतशः	(६–१६–१)
७७०. सर्गः न सृष्टः	द्र० अर्वा अदधावत्	(६–८७–७)
७७१. सिंहः न	द्र० भीमः	(६–६७–२८)
७७२. सिन्धुः न निम्नम्	द्र०अभि वाजि अक्षाः	(६–६७–४५)
७७३. सिन्धुः न	द्र० पिप्ये अर्णसा	(६–१०७–१२)
७७४. सुयमः न	द्र० वोडहा	(६–६६–१५)
७७५. सूनुः न	द्र० प्रियः सोमः मर्ज्यः	(६–१०७–१३)
७७६. सूपरथाभिः न धेनुभिः	द्र० संमिश्लः अरुणः	(६–६१–२१)
७७७. सूरः न	द्र० विश्वदर्शतः	(६–६६–२२)
७७८. सूरः न	द्र० चित्रः	(६–८६–२४)
७७९. सूरः न स्वयुग्भिः	द्र० हरिण्या रुचा पुनानः	(६–१११–१)
७८०. सूरे न उप	द्र० उभे रोदसी विअप्राः	(६–६७–३८)
७८१. सूर्यासः न	द्र० दर्शतासः	(६–१०१–१२)
७८२. सूर्ये न विशः	द्र० अस्मिन् धियः स्पर्धन्ते	(६–६४–१)
७८३. स्पशः न	द्र० नि मिषन्ति भूर्णयः	(६–७३–४)
७८४. स्वर् न	द्र० हर्यतः	(६–६८–८)
७८५. स्वसरे न गावः	द्र० धियः पिन्वानाः अभि वावश्रे	(६–६४–२)

७८६. हितः न सप्तिः	द्र० वाजम् अभि अर्ष	(६–७०–१०)
७८७. हितः न सप्तमः रथे	द्र० पवमानासः वार्या आशत	(६–२१–४)
७८८. हिन्वानासः न सप्तयः	द्र० श्रीणानाः अप्सु मृजन्तः	(६–६५–२६)
७८६. होतारः न	द्र० दिवियजः मन्द्रतमाः	(६–६७–२६)

मरुत्

७६०. अग्नयः न श्यानाः	द्र० मरुतः शोशुचन्	(६–६६–२)
७६१. अग्नयः न	द्र० शोशुचानाः	(२–३४–१)
७६२. अग्नयः न	द्र० स्वविद्युतः	(५–८७–३)
७६३. अग्नयः न	द्र० शुशुक्वासः	(५–८७–६)
७६४. अग्निः न	द्र० भ्राजसा रुक्मवक्षसः	(१०–७८–२)
७६५. अग्नीनां न जिह्वा	द्र० विरोकिणः	(१०–७८–३)
७६६. अङ्गिरसः न	द्र० सामभिः विश्वरूपाः	(१०–७८–५)
७६७. अत्यम् न	द्र० वाजिनं मिहे वि नयन्ति	(१–६४–६)
७६८. अत्यासः न	द्र० स्वञ्चः	(७–५६–१६)
७६६. अद्रयः न	द्र० अधृष्टासः	(५–८७–२)
८००. अद्रयः न आदर्दिरासः	द्र० विश्वहा	(१०–७८–६)
८०१. अन्तम् न	द्र० सीम् धूनुथ	(१–३७–६)
८०२. अपः न	द्र० मनसा गिरः समञ्जे	(१–६४–१)
८०३. आपः न	द्र० निम्नैः उदभिः जिगत्नवः	(१०–७८–५)
८०४. अपां न उर्मयः	द्र० सहस्रियासः मरुतः	(१–१६८–२)
८०५. अपां न यामनि	द्र० युष्माकं बुध्ने मही न	(१०–७७–४)
८०६. अभ्रप्रुषः न	द्र० वाचा वसुप्रुषा	(१०–७७–१)
८०७. अभ्रात् न सूर्यः	द्र० त्मना प्र रिरित्रे	(१०–७७–३)
८०८. अभ्रियाः न	द्र० वृष्टयः विद्युतयन्त	(२–३४–२)
८०६. अमतिः न	द्र० (तेजः) रथेषु आ तस्थौ	(१–६४–६)
८१०. अराणां न चरमः	द्र० एषां दाना मह्ना	(८–२०–१४)
८११. अर्कम् न अभिस्वतरिः	द्र० सुष्टुभः	(१०–७८–४)
८१२. अर्णः न	द्र० सप्रथः त्वेषम्	(८–२०–१३)
८१३. अर्णः न	द्र० मरुतः द्वेषः परि ष्ठुः	(१–१६७–६)
८१४. अर्यमणम् न	द्र० मन्द्रम्	(६–४८–१४)
८१५. अर्यमणः न	द्र० (दीप्ताः)	(५–५४–८)
८१६. अश्वासः न	द्र० ज्येष्ठासः आशवः	(१०–७८–५)
८१७. इत्या न नभसः	द्र० त्वेष प्रतीका विधतः	(१–१६७–६)

८१८. इन्द्रम् न	द्र० सुक्रतुं मारुतं गणम्	(६–४८–१४)
८१९. इषुम् न	द्र०द्विष ऋषिद्विषे सृजत	(१–३९–१०)
८२०. उपरा न	द्र० ऋष्टिः	(१–१६७–३)
८२१. उषा न रामीः अरुणैः	द्र० महः ज्योतिषा	(२–३४–१२)
८२२. उषसां न केतवः	द्र० अध्वरश्रियः	(१०–७८–७)
८२३. ऋरसः न	द्र० अमः शिमीवान्	(५–५६–३)
८२४. ऋजिष्यासः न	द्र० वयुनेषु धूर्षदः	(२–३४–४)
८२५. एतशः न अहन्यः	द्र० पुरुप्रैषा (स्तोत्रैः)	(१–१६८–५)
८२६. एताः न यामे	द्र० योजनं दीर्घं ततान	(५–५४–५)
८२७. किरणम् न	द्र० भूमिं रेजथ	(५–५९–३)
८२८. क्षितीनां न मर्याः	द्र० अरेपसः	(१०–७८–१)
८२९. गावः न	द्र० वः क्व रण्यन्ति	(१०–३८–२)
८३०. गाव. न वन्यासः	द्र० उक्षणः	(१–१६८–२)
८३१. गावः न यवसे	द्र० (मरुतः) रणन्	(५–५३–१६)
८३२. गावः न दुर्धुरः	द्र० ओजसा वृक्षा रिणन्ति	(५–५६–४)
८३३. गिरयः न	द्र०स्वतवसः	(१–६४–७)
८३४. गिरयः न	द्र० अस्पृधन्	(६–६६–११)
८३५. ग्रावाणः न सूरयः	द्र० सिन्धुमातरः	(१०–७८–६)
८३६. घृतम् न	द्र० इषः पिप्युषीः	(८–७–१९)
८३७. जनयः न	द्र० मरुतः प्र शुम्भन्ते	(१–८५–१)
८३८. जिगीवांसः न शूराः	द्र० अभिद्यवः	(१०–७८–४)
८३९. जुहः न अग्नेः	द्र०मरुतः त्विषीमन्तः	(६–६६–१०)
८४०. ज्योतिष्मन्तः न	द्र० भासा युक्ताः	(१०–७७–५)
८४१. तायवः न	द्र० केचित् मरुतः	(५–५२–१२)
८४२. तृष्णजे न दिवः उत्साः	द्र० इयं अस्मत् मतिः	(५–५७–१)
८४३. त्यत् न	द्र० एतत् योजनं अचेति	(१–८८–५)
८४४. दिधिषवः न	द्र० रथ्यः सुदानवः	(१०–७८–५)
८४५. देवः न सूर्यः	द्र० यस्य चर्क्रतिः द्यांपरि	(६–४८–२१)
८४६. देवाव्यः न यज्ञैः	द्र० मन्मभिः स्वाध्य	(१०–७८–१)
८४७. द्यौर्न	द्र० (पृथिवी अपि) भिया चक्रदत्	(८–७–२६)
८४८. द्यावः न स्तृभिः चितयन्तः	द्र० खादिनः मरुतः	(२–३४–२)
८४९. धन्वच्युतः न	द्र० इषां यामनि	(१–१६८–५)
८५०. धुनयः न	द्र० वीराः	(६–६६–१०)
८५१. धेनुः न शिश्वे	द्र० जनाय महीम् इषं पिन्वते	(२–३४–८)

८५२. नित्यं न सूनुम्	द्र० मरुतः मधु बिभ्रतः	(१—१६६—२)
८५३. परः न ण्वः सवने मदन्तः	द्र० विश्वं शर्धः	(७—५७—७)
८५४. नरां न शंसः	द्र० सवनानि आन्त न	(२—३४—६)
८५५. नौः न पूर्णा	द्र० भियसा भूमिः एजते	(५—५६—२)
८५६. पथ्यः न	द्र० पर्वतान् आ उज्जिघ्नन्त	(१—६४—११)
८५७. परावतः न	द्र० योजनानि ममिरे	(१०—७८—७)
८५८. पर्वतासः ज्येष्ठासः न	द्र० (अति प्रवृद्धाः)	(५—८७—६)
८५९. पाजस्वन्तः न वीराः	द्र० पनस्यतः मरुतः	(१०—७७—३)
८६०. पितॄणां न शंसाः	द्र० सुरातयः	(१०—७८—३)
८६१. पुत्रं न हस्तयोः पिता	द्र० अस्मान् कद्ध दधिध्वे	(१—३८—१)
८६२. पुत्रकृथे न जनयः	द्र० जघने चोदः सक्थानि	(५—६१—३)
८६३. पृणतः न दक्षिणा	द्र० वः रातिः भद्रा	(१—१६८—७)
८६४. प्रज्ञातारः न	द्र० ज्येष्ठाः सुनीतयः	(१०—७८—२)
८६५. प्रयस्वन्तः न	द्र० सत्राच आ गत	(१०—७७—४)
८६६. प्रयुजः न धूर्षु	द्र० परिप्रुषः स्थ	(१०—७७—५)
८६७. प्रवासः न प्रसितासः	द्र० परिप्रुषः	(१०—७७—५)
८६८. मनुषः न योषा	द्र० गुहा चरन्ती विद्युत्	(१—१६७—३)
८६९. मरुद्भ्यः न	द्र० मानुषः ददाशत्	(१०—७७—७)
८७०. महाग्रामः न यामन्	द्र० मरुतः त्विषा	(१०—७८—६)
८७१. मित्रम् न	द्र० मारुतं गणं दाना अच्छा	(५—५२—१४)
८७२. मृगः न यवसे	द्र० जरिता अजोष्यः मा भूत्	(१—३८—५)
८७३. मृगाः न	द्र० भीमाः	(२—३४—१)
८७४. यक्षदृशः न मर्याः	द्र० मरुतः शुभयन्त	(६—६६—१६)
८७५. युयुधयः न	द्र० जग्मयः	(१—८५—८)
८७६. रथानां न अराः	द्र० सनाभयः	(१०—७८—४)
८७७. रथ्यः न	द्र० दंसना द्वेषांसि अप युयोतन	(५—८७—८)
८७८. राजानः न	द्र० चित्राः सुसंदृशः	(१०—७८—१)
८७९. रिशादसः न मर्याः	द्र० अभिद्यवः	(१०—७७—३)
८८०. रुक्मः न	द्र० चित्रः मरुद्गणः	(१—८८—२)
८८१. वत्सम् न मातरम्	द्र० विद्युत् मरुतः सिषक्ति	(१—३८—८)
८८२. वत्सासः न	द्र० प्रक्रीळिनः	(७—५६—१६)
८८३. वना न	द्र० मेधा ऊर्ध्वा कृणवन्ते	(१—८८—३)
८८४. वयः न	द्र० मरुतः बर्हिषि अधि सीदन्	(१—८५—७)
८८५. वयः न	द्र० नः आपप्तत्	(१—८८—१)

८८६. वयः न	द्र० मरुतः श्रेणीः परि पप्तुः	(५–५६–७)
८८७. वयः न पक्षान्	द्र० मरुतः श्रियः अनु वि धिरे	(१–१६६–१०)
८८८. वयः न पित्र्यं सहः	द्र० येषाम् एकमित् नाम भुजे	(८–२०–१३)
८८६. वरेयवः न मर्याः	द्र० घृतप्रुषः	(१०–७८–४)
८६०. वर्मण्वन्तः न योधाः	द्र० शिमीवन्तः	(१०–७८–३)
८६१. वव्रासः न	द्र० मरुतः स्वजाः स्वतवसः	(१–१६८–२)
८६२. वातासः न	द्र०स्वयुजः सद्य ऊतयः च	(१०–७८–२)
८६३. वातासः न	द्र० धुनयः जिगत्नवः	(१०–७८–३)
८६४. विद्युत न दर्शता	द्र० रथेषु वः (तेजः) आ तस्थौ	(१–१६६–६)
८६५. विद्युतः न वृष्टिभिः	द्र० रुचानाः	(७–५६–१३)
८६६. विप्रासः न	द्र० मन्मभिः स्वाध्यः मरुतः	(१०–७८–१)
८६७. विष्णुम् न	द्र० सुप्रभोजसम्	(६–४८–१४)
८६८. वृष्टिम् न विद्युतः	द्र० ऊतिभिः नः आ गन्त	(१–३६–६)
८६६. शंसः नरां न	द्र० नः सवनानि आगन्तन	(२–३४–६)
६००. शिशवः न हर्म्येष्ठाः	द्र० शुभ्राः	(७–५६–१६)
६०१. शिशूलाः न सुमातरः	द्र० क्रीळयः	(१०–७८–६)
६०२. शुभंयवः न	द्र० अञ्जिभिः व्यश्वितन्	(१०–७८–७)
६०३. शोचिः न	द्र० मानम् परावतः प्र अस्यथ	(१–३६–१)
६०४. श्येनासः न पक्षिणः	द्र० नः हव्यानि आगत	(८–२०–१०)
६०५. श्येनासः न	द्र० स्वयशसः रिशादसः	(१०–७७–५)
६०६. श्रवस्यवः न	द्र० मरुतः पृतनासु येमिरे	(१–८५–८)
६०७. सत्वानः न	द्र० घोरवर्पसः	(१–६४–२)
६०८. सातिः न	द्र० वः रातिः अमवती	(१–१६८–७)
६०६. सिंहाः न हेषक्रतवः	द्र० स्वानिनः रुद्रियाः	(३–२६–५)
६१०. सिन्धवः न	द्र० मरुतः ययियः	(१०–७८–७)
६११. सूरः न छन्दः	द्र० अग्निः पूर्व्यः जानि	(८–७–३६)
६१२. सूर्यः न योजनम्	द्र० तद्वीर्यं दीर्घं ततान	(५–५४–५)
६१३. सूर्यः न	द्र० रजसः विसर्जने चक्षुः	(५–५६–३)
६१४. सोमासः न सुताः तृप्तांशवः	द्र० पीतासः हृत्सु	(१–१६८–३)
६१५. सोमाः न	द्र० सुशर्माणः	(१०–७८–२)
६१६. स्वर् न	द्र० नॄन् अभि ततनाम	(५–५४–१५)
६१७. हंसासः न स्वसराणि	द्र० मधोः मदाय	(२–३४–५)
६१८. हविष्मन्तः न यज्ञाः	द्र० मरुतः वि जानुषः	(१०–७७–१)

अश्विनौ

६१६. अग्निर्न चित इद्धः	द्र० जठरस्य मज्मना पठर्वा	(१—११२—१७)
६२०. अग्निम् उषाम् न	द्र० जरते हविष्मान्	(१—१८१—६)
६२१. अत्कम् न	द्र० वव्रिं प्र मुञ्चथः	(५—७४—५)
६२२. अपः न	द्र० क्षोदोऽवृणीतमेषे	(१—१८०—४)
६२३. अपः न स्तर्यम्	द्र० अघ्न्याम् अपिन्वतम्	(७—६८—८)
६२४. अवनिः न	द्र० प्रवत्वान् सुविताय गम्याः	(१—१८१—३)
६२५. अश्वम् न	द्र० गूहळम् रेभं सं रिणीथः	(१—११७—४)
६२६. अश्वम् न	द्र० अत्रिं अर्थ यातवे कृणुथः	(१०—१४३—१)
६२७. अश्वम् न वाजिनम्	द्र० अरेणवो यमत्नत	(१०—१४३—२)
६२८. इन्द्रो न शक्तिम्	द्र० ईवतो द्यून्	(४—४३—३)
६२६. उत्सं न	द्र० समस्मे भूषतम्	(१०—१४३—६)
६३०. ऋभू न	द्र० खरमज्रा	(१०—१०६—७)
६३१. एतग्वा चित् न	द्र० समुद्रान् सरितः पिपर्ति	(७—७०—२)
६३२. कुत्सः न	द्र० जरितुर्नशायथः	(१०—४०—६)
६३३. क्रिविः न सेके	द्र० स्तोमः आगतम्	(८—८७—१)
६३४. गावः न ऊधभिः	द्र० अंशवः (ऊधभिः) दुह्रे	(८—६—१६)
६३५. गोः न सेके	द्र० पीपाय मनुषो दशस्यन्	(१—१८१—८)
६३६. (दृरुहं) ग्रन्थिम् न	द्र० अत्रिम् वि ष्यतम्	(१०—१४३—२)
६३७. तन्यतुः न वृष्टिम्	द्र० सनये दंस उग्रम्	(१—११६—१२)
६३८. दिव्यासः न गृध्राः	द्र० अप्तुरः अभि प्रयः	(१—११८—४)
६३६. दिशं न दिष्टाम् ऋजूयेव	द्र० मेहवं उपयातम्	(१—१८३—५)
६४०. दूतः न	द्र० स्तोमोऽविदन्नमस्वान्	(६—६३—१)
६४१. दूतः न	द्र० रथः अजीगः	(७—६७—१)
६४२. ध्रुवसे न योनिम्	द्र० यत् (अश्वं) आ सेदथुः	(७—७०—१)
६४३. नभः न	द्र० स्तोमाः वां आ चुच्यवीरत	(८—६—८)
६४४. नित्यं न सूनुम्	द्र० वां स्तोमं न्यमृक्षाम	(१०—३६—१४)
६४५. निष्कृतम् न योषणा	द्र० मधु आसा भरत	(१०—४०—६)
६४६. पशुं न नष्टमिव	द्र० दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुः	(१—११६—२३)
६४७. पितुः न नाम	द्र० सुहवं हवामहे	(१०—३६—१)
६४८. पुरम् न	द्र० आ रुज	(८—७३—१८)
६४६. भृगवः न	द्र० रथम् अतक्षाम	(१०—३६—१४)
६५०. मक्षः मध्वः न	द्र० सवनानि गच्छथः	(४—४५—४)
६५१. मनन्य न	द्र० मनत्रृङ्गा जग्मी	(१०—१०६—८)

६५२. मनुषः न होता द्र० प्र स्पन्द्रा याथः (१–१८०–६)
६५३. मर्यं न योषा द्र० कृणुते सधस्थ आ (१०–४०–२)
६५४. मित्रासः न द्र० प्र ददुः उस्नो अग्रे (३–५८–४)
६५५. योषणां न मर्ये द्र० न्यमृक्षाम स्तोमं वाम् (१०–३६–१४)
६५६. रथम् न द्र० वन्दनं निर्ऋतं जरण्यया (१–११६–७)
६५७. रथम् न द्र० अत्रिं नवं कृणुथः (१०–१४३–१)
६५८. रयिं न कश्चित् द्र० तुग्रो भुज्युं ममृवान् (१–११६–३)
६५९. (शुभे) रुक्मं न द्र० दर्शतं निखातम् उदूपथुः (१–११७–५)
६६०. वचसं न मन्तवे द्र० सुभरा रथमा तरथुः (१–११२–२)
६६१. वातः न द्र० सूरिः प्रेषत् वेषत् (१–१८०–६)
६६२. वायुः न द्र० पपर्फरत् (१०–१०६–७)
६६३. विः न पर्णैः द्र० सुकृतः त्रिधातुना उपमाथः (१–१८३–१)
६६४. वृषभः न द्र० निष्षाट् पूर्वीः इषः प्रचरति (१–१८१–६)
६६५. शूरो न अज्म पतयद्भिः द्र० उपवाम् ....गमेयम् (१–१५८–३)
६६६. सुव्रतः न द्र० सूरिः वाजं महे आ ददे (१–१८०–६)
६६७. सुषुप्वांसं न निर्ऋतेरुपस्थे द्र० तमसि क्षियन्तम् (१–११७–५)
६६८. सूनुः न पितरा द्र० वाम् अच्छा विवक्मि (७–६७–१)
६६९. सूर्यम् न द्र० तमसि क्षियन्तम् वन्दनाय (१–११७–५)
६७०. सोमम् न द्र० मघवत्सु.....कृतम् (१०–३६–२)
६७१. स्वर् न द्र० शुक्र तन्वन्त आ रजः (४–४५–२)
६७२. स्वर् न द्र० शुक्र तन्वन्त आ रजः (४–४५–६)
६७३. हारः न द्र० शुचिर्यजते हविष्मान् (१–१८०–३)
६७४. अत्यः न द्र० अद्रिः हस्तयतः सोतरि (१०–७६–२)

आयुर्वेद

६७५. अश्वा न द्र० चित्रः सिन्धुः (१०–७५–७)
६७६. इन्द्रं न वृत्रतूर्ये धने हिते द्र० यः त्वा उप ब्रूते (६–६१–५)
६७७. क्रीळयः न मातरम् द्र० सुते अध्वरे अधि (१०–६४–१४)
६७८. गवाम् अह न मायुः द्र० मण्डूकानां वग्नुः (७–१०३–२)
६७९. गावो न हव्या द्र० हे पितो वचोभिः (१–१८७–११)
६८०. गोषु युधः न द्र० नियवं चरन्तीः (१०–३०–१०)
६८१. दृतिं न शुष्कम् द्र० आपः शयानम् एनम् (७–१०३–२)
६८२. देवः न सविता द्र० (यूप) ऊर्ध्वः तिष्ठ (१–३६–१३)
६८३. पितरं न पुत्रः द्र० अन्यः अन्यं (मण्डूकम्) (७–१०३–३)

६८४. ब्राह्मणा सः अतिरात्रे न सोमे	द्र० मण्डूकाः	(७—१०३—७)
६८५. मनसः न प्रयुक्ति	द्र० सोमः देवत्रा अपः	(१०—३०—१)
६८६. मर्यः न कल्याणीभिः	द्र० याभिः सोमः	(१०—३०—५)
६८७. (स) मातरा चित् न	द्र० ज्ञाती चित्	(१०—११७—६)
६८८. युवयोः चित् न समा	द्र० तथा ज्ञाती चित्	(१०—११७—६)
६८६. वृषभः न	द्र० सिन्धुः रोरुवत् एति	(१०—७५—३)
६६०. शरणं न वृक्षम्	द्र० शर्मन् दधानाः उपरथेयाम	(७—६५—५)
६६१. शिशुम् इत् न मातरः	द्र० त्वां वाश्राः अर्षन्ति	(१०—७५—४)
६६२. (समौचित्) हस्तौ न समं	द्र० तथा ज्ञाती	(१०—११७—६)

रुद्र

६६३. मृगं न	द्र० भीमम्	(२—३३—११)

उषा

६६४. अजिरः न वोळहा	द्र० तमः बाधते	(६—६४—३)
६६५. अद्मसत् न	द्र० ससतः बोधयन्ती	(१—१२४—४)
६६६. अपसः न	द्र० नारीः विष्टिभिः आ परावतः अर्चन्ति	(१—६२—३)
६६७. अपां न ऊर्मयः	द्र० उषसः श्रियः उत् अस्थुः	(६—६४—१)
६६८. गवां सर्गाः न	द्र० ऋतस्य सदसः बुधानाः जरन्ते	(४—५१—८)
६६६. गवां सर्गाः न	द्र० उरु ज्रयः आ अप्राः	(४—५२—५)
१०००. गावः न व्रजम्	द्र० विश्वस्मै भुवनाय ज्योतिः	(१—६२—४)
१००१. पशून् न	द्र० प्रथाना उर्विया व्यश्वैत्	(१—६२—१२)
१००२. पितुभृतः न	द्र० तन्तुम् इति प्रति दध्मः	(१०—१७२—३)
१००३. मातुः न सूनवः	द्र० वयं ते स्याम	(७—८१—४)
१००४. युवतिः न योषा	द्र० उप रुरुचे	(७—७७—१)
१००५. रत्नं न	द्र० दाशुषे पुरु स्पार्हं वहसि	(७—८१—३)
१००६. विशः न युक्ताः	द्र० उषासः अक्तून् यतन्ते	(७—७६—२)
१००७. शुन्ध्युवः न वक्षः	द्र० एषा उपो अदर्शि	(१—१२४—४)
१००८. शुभ्रा न	द्र० तन्वः विदाना नः दृशये अस्थात्	(५—८०—५)
१००६. (समुद्रे न) श्रवस्यवः	द्र० अस्याः आचरणेषु रथाः	(१—४८—३)
१०१०. श्रिये छन्दः न	द्र० विभाती उषाः स्मयते	(१—६२—६)
१०११. सिन्धुः न क्षोदः	द्र० उषाः उर्विया व्यश्वैत्	(१—६२—१२)
१०१२. (विदथेषु) स्वरुं न	द्र० पेशः उषा अनक्ति	(१—६२—५)
१०१३. वयः न पक्षाः	द्र० तत् शर्म अस्मे अधिवियन्तन	(८—४७—३)
१०१४. अग्निः न शुक्रः	द्र० सूर्यः समिधानः आहुतः	(८—२५—१६)

१०१५. अपः न नावा	द्र० ऋतस्य पथा दुरिता तरेम	(७–६५–३)
१०१६. अश्वा न	द्र० वाजिना पूतबन्धू ऋता	(६–६७–४)
१०१७. गां न धुरि	द्र० आभुवं अपः उप युञ्जाथे	(१–१५१–४)
१०१८. तिग्मं न क्षोदः	द्र० प्रतिघ्नन्ति भूर्णयः	(८–२५–१५)
१०१९. द्यौः न	द्र० भूमिः पयसा पुपूतनि	(१०–१३२–६)
१०२०. धेनुं न वासरीम्	द्र० (अध्वर्यवः) अंशुं दुहन्ति	(१–१३७–३)
१०२१. वाहुता न	द्र० दंसना ता रथर्यतः	(८–१०१–२)
१०२२. मनसः न प्रयुक्तिम्	द्र० युवां प्रथमा यज्ञैः अञ्जते	(१–१५१–८)
१०२३. मित्रं न	द्र० (मित्रः) अग्निं शिम्या अप्सु जीजनन्	(१–१५१–१)
१०२४. मित्रासः न	द्र० ऋत्विजः प्र दधिरे	(१–१५१–२)
१०२५. शूरः न	द्र० मरुतः रथं युञ्जते	(५–६३–५)
१०२६. शुक्रः सोमः न	द्र०एष स्तोमः अयामि	(७–६४–५)
१०२७. शुक्रः सोमः न	द्र० एष स्तोमः अयामि	(७–६५–५)
१०२८. स्वर् न	द्र० दर्शतं धायि	(५–६६–२)
१०२९. मानुषः होता न	द्र० सः रातहव्यः विदथे वाम्	(१–१५३–३)
१०३०. आणिं न रथ्यम्	द्र० अमृत अधि तस्थुः तिस्रः द्यावः	(१–३५–६)
१०३१. इन्द्रः न	द्र०सत्यधर्मा समरे तस्थौ	(१०–१३६–३)
१०३२. मर्यः न योषाम्	द्र० सूर्य उषसं पश्चात् अभ्येति	(१–११५–२)
१०३३. श्येनः न दीयन्	द्र० पाथः अनु एति	(७–६३–५)

पूषा

१०३४. अजिरं न	द्र० त्वा यामनि स्तोमैः प्रकृण्वे	(१–१३८–२)
१०३५. इन्दुः न	द्र० सः सुष्टुतीनां वेद	(१०–२६–५)
१०३६. उष्ट्रः न	द्र० त्वं मृधः पीपरः	(१–१३८–२)
१०३७. गोभिः यवं न चर्कृषत्	द्र०स मह्यं इन्दुभिः	(१–२३–१५)
१०३८. रथं न वाजसातये	द्र० वयं त्वा धिये अयुज्महि	(६–५३–१)

विष्णु

१०३९. चक्रं न	द्र०विष्णु वृत्तं व्यतीन् ...अर्वाविपत्	(१–१५५–६)
१०४०. मित्रः न	द्र० शेव्यः सुप्रथाः भव	(१–१५६–१)
१०४१. मृगः न	द्र० भीमः कुचरः गिरिष्ठा प्र स्तवते	(१–१५४–२)

रात्री

१०४२. वृक्षे न वसतिं वयः	द्र० वयं ते अविक्ष्महि	(१०–१२७–४)
१०४३. स्तोमं न	द्र० हे रात्रि.....जिग्युषे	(१०–१२७–८)

विश्वे देवाः

१०४४. अक्तुं न यह्वम् द्र० पुरोहितम् अरुषस्य निंसते (१०-६२-२)
१०४५. आजिं न द्र० प्रभृथे प्र जग्मुः (५-४१-४)
१०४६. आयवः शिशुं न द्र० सुशेव्यं वासे नमसा मृजन्ति (५-५३-१४)
१०४७. ऊर्ध्वा श्रेणिः न द्र० शिशुः मक्षू दन् (१०-६१-२०)
१०४८. सूनुं न माता द्र० प्रति मे स्तोमं जगृभ्यात् (५-४२-२)
१०४६. धुरम् आणिः न नाभिम् द्र० यातम् अर्वाग् गन्तं निधिम् (५-४३-८)
१०५०. दूतः न द्र० शन्तमा गीः गन्तु हुवध्यै (५-४३-८)
१०५१. मनः न द्र० येषु हवनेषु तिग्मम् (१०-६१-३)
१०५२. ववन्चांसा न द्र० इषम् अस्मृतध्रू (१०-६१-४)
१०५३. हयः न द्र० विद्वान् अयुजि स्वयं धुरि (५-४६-१)
१०५४. पुत्रः न द्र० बहुपाय्यं आ वृणीमहे (७-२७-२२)
१०५५. पुरो न द्र० शुभ्राः आपः शृण्वन्तु (५-४१-१२)
१०५६. उषसः न सूरः द्र० प्र रोचि अस्याः (१-१२१-६)
१०५७. मूषः न शिश्ना द्र० व्यदन्ति मा आध्यः (१-१०५-८)
१०५८. राधः न द्र० रेतः ऋतमित् तुरण्यन् (१०-६१-११)
१०५६. शर्मसदः न वीराः द्र० पुरः सदः (मरुतः) (३-५५-२१)
१०६०. स्वर् न द्र० त्रिषधस्थे देवाः निषेदुः (१०-६१-१४)
१०६१. हितमित्रः न राजा द्र० उप क्षेति पृथिवीम् (३-५५-२१)
१०६२. हेत्वः न सप्तिः द्र० यज्ञः प्र एतु (७-४३-२)
१०६३. पितुः न पुत्रः उपसि प्रेष्ठः द्र० घर्मः अग्निम् आ असादि (५-४३-७)
१०६४. वपावन्तं न द्र० अग्निना तपन्तः अञ्जन्ति (५-४३-७)
१०६५. नारी यह्वी न द्र० रोदसी सदं नः (१०-६३-१)
१०६६. समुद्रं न सञ्चरणे सनिष्यवः द्र० स्तुवीत देवी अप्येभिः इष्टैः (४-५५-६)
१०६७. वसवः न वीराः द्र० पर्वताः स्वैतवः सन्तु (५-४१-६)
१०६८. नावा न क्षोदः द्र० प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिः अतिदुर्गाणि विश्वा (१०-५६-७)
१०६६. जुह्वं न देवा द्र० जाया अन्वविन्दत् बृहस्पतिः (१०-१०६-५)
१०७०. स्तृभिः न नाकम् द्र० स पिस्पृशति तन्वि श्रुतस्य (६-४६-१२)
१०७१. इषं न द्र० सुवृक्तिं कृण्वे (७-३६-२)
१०७२. वयः न द्र० वस्मनस्परि प्र पप्तन् (२-३१-१)
१०७३. पशुषः वाजान् न द्र० त्रासीथां नः (५-४१-१)
१०७४. सूरः न द्र० स्यूम गभस्तिः रथः अद्यौत् (१-१२२-१५)

१०७५. पृथिवी न भूम	द्र० भारं बिर्भति	(७–३४–७)
१०७६. क्षोदः न	द्र० रेत इतऊति सिञ्चत्	(१०–६१–२)
१०७७. अग्निः वने न	द्र० शोकं व्यसृष्ट	(१०–३१–६)
१०७८. रथं न दुर्गात्	द्र० अंहसः नः निष्पिपर्तन	(१–१०६–१,२,३,४,५,६)
१०७६. वृषा न फेनम् अस्यत् आजौ	द्र० स्मत् आ परैदप	(१०–६१–८)
१०८०. गौरः न क्षेप्नोः	द्र० अविजे ज्यायाः	(१०–५१–६)
१०८१. तीर्थे न	द्र० ऊमाः दस्मम् उपयन्ति	(१०–३१–३)
१०८२. नौभिः अपः न	द्र० विष्पिता पुरु अति पर्षथ	(८–८३–३)
१०८३. पुत्रासः न मातरं विभृत्राः	द्र० देवासः आ सदन्तु	(७–४३–३)
१०८४. रथः न वाजी	द्र० शुक्रा देवी प्र एतु	(७–३४–१)
१०८५. वनिनः न शाखाः	द्र० ब्रह्माणि विप्राः विष्वक् वियन्ति	(७–४३–१)
१०८६. वृकः न तृष्णजं मृगम्	द्र० तम् आध्यः यन्ति	(१–१०५–७)
१०८७. सप्तिः न रथ्यः	द्र० यजत्रा धीतिम् अश्याः	(२–३१–७)
१०८८. स्वर् न	द्र० तपन्ति शत्रुं भूमा	(७–३४–१६)
१०८६. उषसः न प्रतीकम्	द्र० सविता देवः	(६–५०–८)
१०६०. रश्मिं न	द्र० चर्षणीनां चक्रं नि योयुवे	(१०–६३–६)
१०६१. अमतिं न	द्र० श्रियं वि सादः	(५–४५–२)
१०६२. उद्गा न नावम्	द्र० धीराः तम् अनयन्त	(५–४५–१०)
१०६३. रुक्मः न दिवः	द्र० उदिता व्यद्यौत्	(६–५१–१)
१०६४. नेमि न चक्रम् अर्वतो रघुद्रु	द्र० कक्षीवन्तं रेजयत्	(१०–६१–१६)
१०६५. धुरा न युक्ताः	द्र० तानि रजसः वहन्ति	(१–१६४–१६)
१०६६. तना न सूर्ये	द्र० में स्तोमं वावृधन्त	(१०–६३–१२)
१०६७. नेमधिता न पौंस्या	द्र० राया युक्ता हिरण्ययी वावर्त	(१०–६३–१३)
१०६८. संवननं न अश्व्यम्	द्र० मे स्तोमं वावृधन्त	(१०–६३–१२)

वत्

अग्नि

१. अंगिरस्वत्	द्र० (अग्ने)....सदने अच्छ आ याहि	(१–३१–१७)
२. अंगिरस्वत्	द्र० शुचे, त्वा... हवामहे	(८–४३–१३)
३. अंगिरस्वत्	द्र० नवीयः अवाचि	(८–४०–१२)
४. अत्रिवत्	द्र० यस्मै (अग्नये).....प्र रीयते	(५–७–८)
५. अथर्ववत्	द्र० वेधसः....... इमं उ त्यत्	(६–१५–१७)
६. अथर्ववत्	द्र० दैव्येन ज्योतिषा सत्यम्	(१०–८७–१२)
७. अप्नवानवत्	द्र० समुद्रवासम् अग्निं...आहुवे	(८–१०२–४)

८. अश्वावत्	द्र० अस्य महत् बृहत् योजनम्	(८–७२–६)
९. पूर्ववत्	द्र० सः........जन्तवे धनं जनयन्	(३–२–१२)
१०. पूर्ववत्	द्र० (अग्ने)....सदने अच्छ आ याहि	(१–३१–१७)
११. भृगुवत्	द्र० शुचे त्वा....हवामहे	(८–४३–१३)
१२. भृगुवत् और्व	द्र० समुद्रवाससम् अग्नि...हुवे	(८–१०२–४)
१३. मनुवत्	द्र० (वधम्).... वदेम	(२–१०–६)
१४. मनुष्वत्	द्र० अंगिरः. सदने अच्छ आयाहि	(१–३१–१७)
१५. मनुष्वत्	द्र० पोता अष्टमं दैव्यं विश्वं....इन्वति	(२–५–२)
१६. मनुष्वत्	द्र० अध इमं यशं प्रतिर	(३–१७–२)
१७. मनुष्वत्	द्र० अग्ने, त्वा निधीमहि	(५–२१–१)
१८. मनुष्वत्	द्र० अग्ने, त्वा समिधीमहि	(५–२१–१)
१९. मनुष्वत्	द्र० अंगिरः अग्ने, देवयते....देवान्	(५–२१–१)
२०. मनुष्वत्	द्र० मनुना समिद्धम् अग्निं महेम	(७–२–३)
२१. मनुष्वत्	द्र० अग्ने, देवान् इह यक्षि	(७–११–३)
२२. मनुष्वत्	द्र० शुचे, त्वा हवामहे	(८–४३–१३)
२३. मनुष्वत्	द्र० त्वां जनासः इन्धते	(८–४३–२७)
२४. मनुष्वत्	द्र० यज्ञम् इळा देवी घृतपदी जुषन्त	(१०–७०–८)
२५. मनुष्वत्	द्र० चेतयन्ती इह इळा	(१०–११०–८)
२६. ययातिवत्	द्र० अंगिरः, सदने अच्छ आ याहि	(१–३१–१७)

इन्द्र

२७. अंगिरस्वत्	द्र० शूषम् आंगूष प्रमन्महे	(१–६२–१)
२८. अंगिरस्वत्	द्र० नवीयः अवाचि	(८–४०–१२)
२९. जामिवत्	द्र० ते प्रमतिं विद्मा हि	(१०–२३–७)
३०. नृवत्	द्र० वाताः परिज्मन् नोनुवन्त	(४–२२–४)
३१. पितृवत्	द्र० नवीयः अवाचि	(८–४०–१२)
३२. मनुष्वत्	द्र० वृत्रबर्हिषः यजध्यै	(६–६८–१)
३३. मंधातृवत्	द्र० नवीयः अवाचि	(८–४०–१२)
३४. व्रततेः गुष्पितं पुराणवत् वृश्च	द्र० दासस्य ओजः अपि दम्भय	(८–४०–६)

सोम

३५. जमदग्निवत्	द्र० नः आर्षेयं द्रविणम् अभ्यश्रवाम	(९–९७–५१)

मरुत्

३६. घृतवत् आभुवः विदथेषु	द्र० मरुतः पयः	(१–६४–६)

अश्विनौ

३७. पुराणवत्	द्र० अन्ति षद्भूतु	(८–७३–११)
३८. मनुष्वत्	द्र० शम्भू आ गतम्	(१–४६–१३)

आयुर्वेद

३९. शतवत्	द्र० एते वदन्ति	(१०–६४–२)
४०. सह वत्	द्र० एते ग्रावाणः वदन्ति	(१०–६४–२)

उषा

४१. प्रत्नवत्	द्र० नः उच्छ	(६–६५–६)
४२. भरद्वाजवत्	द्र० नः धनं रिरीहि	(६–६५–६)

मित्र

४३. अत्रिवत्	द्र०वयं गीर्भिः आ जुहुमः	(५–७२–१)

अग्नि

४४. अत्रिवत्	द्र० अग्ने आ याहि, सुते रण	(५–५१–८ से १०)

देवाः विश्वेदेवाः

४५. ऋषिवत्	द्र० देवान् स्वस्तये ईडानाः	(१०–६६–१४)
४६. पितृवत्	द्र० वसिष्ठासः वाचम् अक्रत	(१०–६६–१४)
४७. मनुष्वत्	द्र० सत्तः होता विदुष्टरः	(१–१०५–१४)

यथा

अग्नि

१. अतसं यथा (त्व)	द्र० क्षमि वृद्धं.....संजूर्वसि	(८–६०–७)
२. अशनिः यथा दिव्या	द्र० यः (अग्निः) वराय	(१–१४३–५)
३. गौर्य यथा ह त्यत् पदि षिताम्	द्र० ए उ	(४–१२–६)
४. तन्यतुः यथा	द्र० दिवः ते स्वान...आर्त	(५–२५–८)
५. ध्मातरी यथा	द्र०......(स्वयमेव स्वात्मानम्)	(५–९–५)
६. नेमिं ऋभवः यथा	द्र० अंगिरः सहूतिभिः	(८–७५–५)
७. पितुः यथा	द्र० अग्ने, ते अवसः वयं पुरा	(८–७५–२६)
८. भारभृत् यथा	द्र० (तथा) अस्मिन् महाधने	(८–७५–१२)
९. मनुषः यथा (सीदन्ति)	द्र० तथा वरुणः, मित्रः	(१–२६–४)
१०. मनुषः यथा यज्ञेभिः	द्र० एवा नः अद्य समना	(६–४–१)
११. मित्रः यथा, वरुणः, इन्द्रः	द्र० तथा उषासानक्ते	(३–४–६)

१२. यथा ऋतुभिः देवान् देव	द्र० एवम्, आ यज	(१०–७–६)
१३. रथ्यः यथा	द्र० अग्ने, यक्षतः ते अजराणि	(१०–६१–७)
१४. रयिः यथा वीरवतः	द्र० (तथा) यस्य श्रिय	(७–१५–५)
१५. वरुणः यथा	द्र० सः (अग्निः) धिया वेद	(१०–११–१)
१६. विदे यथा (ददति)	द्र० अस्यै दृळहा चित् दु	(१–१२७–४)
१७. वृषभः शृंगे शिशानः यथा	द्र० (तथा) अग्निः	(८–६०–१३)
१८. शिशुं नवं यथा	द्र० यम् अग्निम् ....अरणी जनिष्टा	(५–६–३)
१६. सखा सख्ये यथा	द्र० तथा अग्ने मह्यम् अभीष्टं देहि	(१–२६–३)
२०. सवितुः यथा सवम्	द्र० अग्निम् आहुवे	(८–१०२–६)
२१. अंकुशम् यथा हि दीर्घ	द्र० शक्तिं बिभर्षि	(१०–१३४–६)
२२. अत्रेः यथा कृष्वतः	द्र० सुन्वतः श्यावाश्वस्य	(८–३६–७)
२३. अत्रेः यथा कृण्वतः	द्र० रेभतः श्यावाश्वस्य	(८–३७–७)
२४. अविता यथा नः	द्र० एवा नः वसूनि ददः	(७–२४–१)
२५. ऊधः गोः पयसा यथा	द्र० इन्द्रं सोमेभि.	(२–१४–१०)
२६. क्रिविम् यथा	द्र० इन्द्रम् इन्दुभिः आसिञ्चे	(१–३०–१)
२७. क्षोणयः यथा	द्र० पूर्तयः त्वां पुरुत्रा वि	(१०–२२–६)
२८. गयम् यथा	द्र० तथा त्वां वयं विद्म	(८–४५–१३)
२६. गौरः यथा	द्र० तथा सरः पिब	(८–४५–२४)
३०. गौरः यथा अपाकृतं	द्र० तथा आपित्वे न प्रपित्वे	(८–४–३)
३१. जघन्थ यथा धृषता	द्र० अस्माकं.शत्रुं जहि	(२–३०–४)
३२. जनयः यथा पतिम्	द्र० मघवानं मतयः	(१०–४३–१)
३३. जेन्यम् यथा	द्र० वाजिनं शुम्भन्तः	(१–१३०–६)
३४. धेनवः यथा यवसम्	द्र० तथा त्वं सोमान्	(३–४५–३)
३५. पदा पूर्वेण अजः वयां यथा	द्र० (तथा) यमः	(१०–१३४–६)
३६. पशुम् पुष्टीवन्तः यथा	द्र० सोमिनः तथा	(८–४५–१६)
३७. पिता यथा पुत्रेभ्यः	द्र० इन्द्र नः क्रतुम्	(७–३२–२६)
३८. यथा चित् आविध वाजेषु	द्र० तथा माम्	(८–६८–१०)
३६. यथा मेधिराः आहुवन्त	द्र० एवा वामह	(८–३८–६)
४०. यवं तथा गोभिः श्रीणन्तः	द्र० वयं तथा तम्	(८–२–३)
४१. यवमन्तः यवं चित् यथा	द्र० इह एषाम्	(१०–१३१–२)
४२. रथम् यथा	द्र० तथा त्वाम् सुम्नाय आवर्त	(८–६८–१)
४३. वयः यथा	द्र० तथा वयं मधौ सीदन्तः	(८–२१–५)
४४. वातः यथा वनं	द्र० इन्द्रः सुते मधु उत्	(१०–२३–४)
४५. विततं यथा रजः	द्र० देवासः अवपश्यन्ति	(१–८३–२)

४६. विदे यथा	द्र० सुराधसम् इन्द्रम् अर्च	(८–४६–१)
४७. वृषभं यथा अवक्रक्षिणम्	द्र० तथा इन्द्रं शंसत	(८–१–२)
४८. शवःते यथा अपरीतम्	द्र० तथा दाशुषे रातिः	(८–२४–६)
४६. शार्याते सुतस्य यथा अपिबः	द्र० तथा इह	(३–५१–७)
५०. सिन्धुं यथा आपः अभितः	द्र० भवीयसा वसुना	(१–५३–१)
५१. सुतेषु यथा	द्र० तथा नः सख्येषु सुतेषु च	(१–१०–५)
५२. सूर्यः रश्मिं यथा	द्र० तथा मे गिरः त्वा	(८–३२–३३)
५३. हर्म्यं यथा इदम्	द्र० तथा तेषाम् अक्षाणि	(७–५५–६)

सोम

५४. अन्धसः यथा ते जातम्	द्र० नि बर्हिषि सदः	(६–५५–२)
५५. अपसः यथा रथम्	द्र० तम् ईम् नदीषु	(६–१०७–१३)
५६. आजिम् यथा	द्र० एवं हितम् अगन्	(६–३२–६)
५७. दिव्या विट् यथा	द्र० अनभिशस्त्र तथा	(६–८८–७)
५८. मनवे यथा आपवथाः वयोधाः	द्र० एवा पवस्व	(६–६६–१२)
५६. रथ्यः यथा	द्र० सुतः पवित्रे असर्जि	(६–३६–१)
६०. रथ्ये आजौ यथा	द्र० धिया सचेताः असर्जि	(६–६१–१)
६१. रथ्यासः यथा	द्र० एव ते प्र मदासः पृथक्आशवः	(६–८६–१)
६२. वनुषः यथा सीदन्तः	द्र० वाजी अक्रमीत्	(६–६४–२६)
६३. स्तवः तव यथा	द्र० तथा प्रिये बर्हिषि नि सदः	(६–५५–२)
६४. हंसः यथा	द्र० गणम् आवीविशत्	(६–३२–३)

मरुत्

६५. अग्नितपः यथा	द्र० (तद्वत् प्रदीप्ताः)	(५–६१–४)
६६. ग्रामजितः नरः यथा	द्र० मरुतः तथा	(५–५४–८)
६७. तिष्यः यथा	द्र० तथा यः (राः) न युच्छति	(५–५४–१३)
६८. धेनवः यथा	द्र० क्षोदसा रजः प्र सुः	(५–५३–७)
६६. पुरा यथा	द्र० इत्था कण्वाय नूनं गन्त	(१–३६–७)
७०. मतिम् यथा	द्र० महाम् अच्छा अनूषत	(१–६–६)
७१. मरुतः रुक्मैः यथा	द्र० एतावत् अन्ये न	(७–५७–३)

अश्विनौ

७२. यथा अत्रिः	द्र० विप्रः अजोहवीत्	(८–४२–५)
७३. यथा दूतः	द्र० तथा वाचम् ऊहिषे	(८–५–३)
७४. यथा पितुः	द्र० सुमतिः स्वादिष्ठा	(८–८६–४)
७५. यथा मेधिराः आहुवन्त	द्र० एवा वामहे	(८–४२–६)

७६. यथा वातः पुष्करिणीं द्र० एवा ते दशमास्य: (५–७८–७)
७७. यथा वातः वनम् द्र० एवा त्व दशमास्य (५–७८–८)
७८. यथा समुद्रः एजति द्र० एवा त्वं....अवेहि (५–७८–८)

चित्

ऋग्वेद में लगभग ७८६ बार 'चित्' निपात का प्रयोग अपि, एव, च, पूजा, अवकुत्सित, समुच्चय, अवधारण, पदपूर्ति, प्रतिषेध, सप्तमी और उपमा आदि अर्थो में हुआ है। इनमें से सायणभाष्यानुसार १५ बार 'चित्' उपमा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं–

इन्द्रः

(१) अग्निश्चिद्धि ष्मातसे (१–१६६–३)
(२) अश्मानं चित् (५–३०–८)
(३) घर्मश्चित् (५–३०–१५)
(४) निरुद्धश्चिन्महिषस्तर्ष्यावान् गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत् (१०–२६–१०)
(५) यद् वावन्थ पुरुष्टुत पुरा चिच्छूर नृणाम् (८–६६–५)

मरुतः

(६) अश्मानं चित् (५–५६–४)

अभिशापः

(७) उखा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति (३–५३–२२)
(८) शिम्बलं चिद्धि वृश्चति (३–५३–२२)
(६) परशुं चिद्धि तपति (३–५३–२२)

रुद्रः

(१०) कुमारश्चित्पितरं वन्दमानम् (२–३३–१२)

वरुणमित्रार्यमणः

(११) चतुरश्चिद्ददमानाद् बिभीयादा निधातोः (१–४१–६)

अग्निः

(१२) मित्रश्चिद् (१०–१२–५)

अश्विनौ

(१३) श्येनस्य चिज्जवसा (५–७८–४)
(१४) श्रुतं गायत्रं तकवानस्याहं चिद्धि रिरेभाश्विना वाम्।
आक्षी शुभस्पती दन् ।। (१–१२०–६)
(१५) सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या स्वा सचाँ इन्द्र श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते (१०–२४–४)

डॉ० निगम शर्मा ने **'ऋग्वेद में काव्य-तत्त्व'** नामक अपने शोध प्रबन्ध मे पृष्ठ ४३ पर निम्नलिखित ५ उदाहरण **'चित्'** के उपमा–अर्थ में दिखाये हैं, जो कि सायण–भाष्य के अनुसार उपमा अर्थ में घटित नहीं होते। आचार्य सायण ने इन उदाहरणो मे **'चित्'** को 'अपि' आदि अर्थों में घटाया है–

(१) अज्रा इन्द्रस्य गिरयश्चिदृष्वा (६–२४–८)
(२) दिवश्चिदा ते रुचयन्त रोकाः (३–६–७)
(३) निखातं चिद्यः पुरुसम्भृतं वसू (८–६६–४)
(४) वृद्धस्य चिद्वर्धतामस्य तनूः (६–२४–७)
(५) शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद् (५–२–७)

था

विश्वे देवाः

(१) इमथा (५–४४–१)
(२) तं प्रत्नथा (५–४४–१)
(३) पूर्वथा (५–४४–१)
(४) विश्वथा (५–४४–१)

अग्निः

(५) अग्निं मन्थाम पूर्वथा (३–२६–१)
(६) वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत (५–८–५)
(७) स प्रत्नथा सहसा जायमानः (१–६६–१)
(८) यत् सीमनु क्रतुना विश्वथा (१–१४१–६)

इन्द्रः

(९) अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा (८–३–८)
(१०) एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु (६–१७–३)
(११) तत् तु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनम् (१–१३२–३)
(१२) तद्अद्या चित् त उक्थिनो ऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा (८–१५–६)
(१३) नू इत्था ते पूर्वथा (१–१३२–४)
(१४) यदस्य प्रत्नथोदीरते (२–१७–१)
(१५) स प्रत्नथा कविवृध (८–६३–४)

वैश्वानरोऽग्निः

(१६) वैश्वानरः प्रत्नथा नाकमारुहद् (३–२–१२)

पवमानः सोमः

(१७) गिरः शुम्भन्ति पूर्वथा (६–४३–२)

अथर्वा, मनुः दध्यङ् च (इन्द्रो वा)

(१८) तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मत (१–८०–१६)

उषाः

(१६) अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा (१–६२–२)

(२०) पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः (५–८०–६)

ब्रह्मणस्पति

(२१) योऽवरे वृजने विश्वथा (२–२४–११)

वर्ण

अपांनपात्

(१) अपा नपात् सेदु हिरण्यवर्णः (२–३५–१०)

(२) हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य (२–३५–११)

(३) हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यहीः (२–३५–६)

इन्द्रः

(४)हिरण्यवर्ण दुष्टरम् (५–३८–२)

विश्वे देवाः

(५) हिरण्यवर्णमरुषं सपेम (५–४३–१२)

विवाह

(६) हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् (१०–८५–२०)

उषसः

(७) आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये (३–६१–२)

(८) हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृग् (७–७७–२)

मरुत्

(६) हिरण्यवर्णान् ककुहान् यतस्रुचो (२–३४–११)

रूप

मन्युः

(१) अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः (१०–८४–१)

अग्निः

(२) हिरण्यरूपं जनिता जजान (१०–२०–६)

मित्रावरुणौ

(३) हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टा (५–६२–८)

रुद्रः

(४) हिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् (४–३–१)

अपांनपात्

(५) हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः (२–३५–१०)

संदृक्

अग्निः

(१) अग्ने हिरण्यसंदृशः (६–१६–३८)

अपांनपात्

(२) स हिरण्यसंदृग् (२–३५–१०)

मरुतः

(३) तान् वर्ध भीमसंदृशः (५–५६–२)

अश्विनौ

(४) यो मे हिरण्यसंदृशो दश राज्ञो अमंहत (८–५–३८)

सदृश

उषाः

(१) सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वः (१–१२३–८)

समान

विश्वे देवाः

(१) समान्या वियुते दूरे अन्ते (३–५४–७)

उषाः

(२) समना समानीः (४–५१–६)

इन्द्रः

(३) समानं चिद् रथम् (२–१२–८)

नु

इन्द्रः

(१) वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (६–२४–३)

सोमः

(२) राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि (१–६१–३)

(३) राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि (६–८८–८)

आ

अग्निः

(१) जार आ भगम् (१०–११–६)

(२) सिन्धोरूर्मा उपाक आ (१–२७–६)

(३) धनोरधि प्रवत आ स ऋण्वति (१–१४४–५)

मरुतः

(४) शुम्भमाना आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन् (७–५६–७)

वा

दम्पत्याशिषः

(१) मक्षू देववतो रथः शूरो वा पृत्सु कासु चित् (८–३१–१५)

अग्निः

(२) धायोभिर्वा यो युज्येभिरर्कैर्विद्युन्न दविद्योत् स्वेभिः शुष्मैः (६–३–८)

(३) शर्धो वा यो मरुताम् (६–३–८)

भूत

इन्द्रः

(१) मेषो भूतो ऽ भियन्नयः (८/२/४०)

इन्द्राग्निः

(२) ता सानसि शवसाना हि भूतम् (७/६३/२)

विष्णुः

(३) इरावती धेनुमती हि भूतम् (७/६६/३)

अनु

उपमा के सन्दर्भ में ऋग्वेद की शाकल संहिता में **'अनु'** का प्रयोग भी हुआ है। ऐसा डॉ० निगम शर्मा ने अपने शोध–ग्रन्थ **'ऋग्वेद में काव्य-तत्त्व'** के पृष्ठ ४३ पर निम्न उदाहरण देते हुए लिखा है–

– उषो विभातीरनु भासि पूर्वीः (३/६/७)

कुछ अवशिष्ट उपमाएं

अग्निः

गावः वाश्राः न (१/६५/६)

तोदस्य शरणे महस्य आ (१/१५०/१)

इन्द्रः

अश्वः क्रन्दत् (लुप्तोपमा) (१/१७३/३)

गौः रुवत् (लुप्तोपमा) (१/१७३/३)

श्मशा (लुप्तोपमा) (१०/१०५/१)

रुद्रः

उर्वारुकम् इव (७/५६/१२)

विश्वेदेवाः

रजिष्ठया रज्या पश्व आ गोः (१०/१००/१२)

द्वितीय अध्याय

(यजुर्वेद संहिता)

१. हिरण्यपाणिः	द्र० सविता प्रतिगृभ्णातु	(१/१६, २०)
२. सजातवनि		(१/१८)
३. यथाभागम् आवृषायध्वम्	द्र० अत्र पितरो मादयध्वम्	(२/३१)
४. यथाभागम् आवृषायिषत	द्र० अमीमदन्त पितरः	(२/३१)
५. यथा इह पुरुषः असत्	द्र० कुमारं गर्भम् आधत्त	(२/३३)
६. पुष्करस्रजम्		(२/३३)
७. द्यौः इव	द्र० भूम्ना (भूयासम्)	(३/५)
८. पृथिवी इव	द्र० वरिम्णा (भूयासम्)	(३/५)
९. पिता इव सूनवे	द्र० अग्ने नः सूपायनो भव	(३/२४)
१०. वस्ना इव	द्र० शतक्रतो इषम् ऊर्जं वि क्रीणावहै	(३/४९)
११. सुसंदृशम्	द्र० मघवन् त्वा वयं वन्दिषीमहि	(३/५२)
१२. यथा नो वस्यसस्करत्		(३/५८)
१३. यथा नः श्रेयसस्करत्		(३/५८)
१४. यथा नो व्यवसाययात्		(३/५८)
१५. उर्वारुकम् इव	द्र० बन्धनान्मृत्योर्मृक्षीय	(३/६०)
१६. ऊर्णम्रदाः		(४/१०)
१७. हिरण्यपाणिः		(४/२५)
१८. मृगो न भीमः	द्र० विष्णुः	(५/२०)
१९. यं मे समानः	निचखान	(५/२३)
२०. यमसमानः	निचखान	(५/२३)
२१. यं मे सबन्धुः	निचखान	(५/२३)
२२. यमसबन्धुः	निचखान	(५/२३)
२३. यं मे सजातः	निचखान	(५/२३)
२४. यमसजातः	निचखान	(५/२३)
२५. सहस्रवल्शा	द्र० वि वयं रुहेम	(५/४३)

२६. दिवि इव चक्षुः आततम्	द्र० तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः	(६/५)
२७. सगर्भ्यः	द्र० अनु	(६/६)
२८. सयूथ्यः	द्र० अनु	(६/६)
२६. अहिः	द्र० मा भूः	(६/१२)
३०. पृदाकुः	द्र० मा भूः	(६/१२)
३१. विदुषो न यज्ञम्	द्र० ग्रावाणः मे हवं शृण्वन्तु	(६/२६)
३२. प्रत्नथा	तं ज्येष्ठतातिम्	(७/१२)
३३. पूर्वथा	तं ज्येष्ठतातिम्	(७/१२)
३४. विश्वथा	तं ज्येष्ठतातिम्	(७/१२)
३५. इमथा	तं ज्येष्ठतातिम्	(७/१२)
३६. शिशुं न	द्र० विप्राः मतिभिः रिहन्ति	(७/१६)
३७. मनो न	द्र० येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथः	(७/१७)
३८. यथा शार्याते अपिबः सुतस्य	द्र० इन्द्र मरुत्वः इह पाहि सोमम्	(७/३५)
३६. पर्जन्यो वृष्टिमान् इव	द्र० महान् इन्द्रो य ओजसा	(७/४०)
४०. यथायं वायुरेजति	एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह	(८/२८)
४१. यथा समुद्र एजति	एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह	(८/२८)
४२. भ्राजन्तो अग्नयो यथा	द्र० अदृश्रम् अस्य केतवः वि रश्मयो जनान् अनु	(८/४०)
४३. मनोजुवम्		(८–४५)
४४. इन्द्रस्य इव	द्र० दक्षिणः श्रिया एधि	(६–८)
४५. पर्णं न वेः	द्र० अनुवाति प्रगर्धिनः	(६–१५)
४६. श्यनेस्य इव	द्र० ध्रजतः	(६–१५)
४७. तव इव	द्र० मे त्विर्षिभूयात्	(१०/५)
४८. तव इव	द्र० मे त्विषिर्भूयात्	(१०/१५)
४६. कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय	द्र० इह एषां कृणुहि भोजनानि	(१०/३२)
५०. पुत्रम् इव पितरौ	द्र० अश्विना उभा इन्द्र आवथुः	(१०/३४)
५१. पथ्या इव	द्र० सूरेः श्लोकः वि एतु	(११/५)
५२. अङ्गिरस्वत्	द्र० आददे	(११/६)

५३. अङ्गिरस्वत्	द्र० आभर	(११/६)
५४. अङ्गिरस्वत्	द्र० त्रैष्टुभेन छन्दसा आभर	(११/६)
५५. अङ्गिरस्वत्	द्र० जागतेन छन्दसा वयम् अग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ	(११/१०)
५६. अङ्गिरस्वत्	द्र० अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसा	(११/११)
५७. पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर		(११/१७)
५८. अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमाग्निं		(११/१६)
५६. पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरिष्यामः		(११/१७)
६०. अङ्गिरस्वत्	द्र० पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यम् खनामि	(११/२८)
६१. अङ्गिरस्वत्	द्र० शिवं प्रजाभ्योऽहिं सन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यं खनामः	(११/२८)
६२. वर्म च स्थः		(११/३०)
६३. व्यचस्वती		(११/३०)
६४. देवो न सविता	द्र० ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठ	(११/४२)
६५. अङ्गिरस्वत्	द्र० अग्निं पुरीष्यं भरामः	(११/४७)
६६. उशतीरिव मातरः	द्र० यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः	(११/५१)
६७. माता पुत्रं यथा उपस्थे	द्र० सा (उखा) अग्निम्	(११/५७)
६८. अङ्गिरस्वत्	द्र० गायत्रेण छन्दसा वसवस्त्वा कृण्वन्तु	(११/५८)
६६. अङ्गिरस्वत्	द्र० रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा	(११/५८)
७०. अङ्गिरस्वत्	द्र० आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसा	(११/५८)
७१. अङ्गिरस्वत्	द्र० विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्तु आनुष्टुभेन छन्दसा	(११/५८)
७२. अङ्गिरस्वत्	द्र० वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसा	(११/६०)
७३. अङ्गिरस्वत्	द्र० रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा	(११/६०)
७४. अङ्गिरस्वत्	द्र० आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसा	(११/६०)
७५. अङ्गिरस्वत्	द्र० विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्तु आनुष्टुभेन छन्दसा	(११/६०)
७६. अङ्गिरस्वत्		(११/६१)
७७. अङ्गिरस्वत्		(११/६१)

७८. अङ्गिरस्वत्		(११/६१)
७९. अङ्गिरस्वत्		(११/६१)
८०. अङ्गिरस्वत्		(११/६१)
८१. अङ्गिरस्वत्		(११/६१)
८२. अङ्गिरस्वत्	द्र० वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा	(११/६५)
८३. अङ्गिरस्वत्	द्र० रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा	(११/६५)
८४. अङ्गिरस्वत्	द्र० आदित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा	(११/६५)
८५. अङ्गिरस्वत्	द्र० विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसा	(११/६५)
८६. अश्वाय इव तिष्ठते घासमस्मै		(११/७५)
८७. अरातीयात्	द्र० यो अस्मभ्यम्	(११/८०)
८८. अरातीयत.	द्र० हन्ता	(१२/५)
८९. स्तनयन्निव द्यौः	द्र० अक्रन्ददग्निः	(१२/६)
९०. स्तनयन्निव द्यौः	द्र० अक्रन्ददग्निः	(१२/२१)
९१. स्तनयन्निव द्यौः	द्र० अक्रन्ददग्निः	(१२/३३)
९२. सूर्यो न	द्र० यत् अग्निः बृहद्भाः वि रोचते	(१२/३४)
९३. माता इव पुत्रम्	द्र० सुपत्नीः बिभृत	(१२/३५)
९४. मातुर्यथोपस्थे	द्र० शेषे अन्तरस्याम्	(१२/३६)
९५. अत्यं न सप्तिम्	द्र० जातवेदः सहस्त्रियं वाजं ससवान् सन् स्तूयसे	(१२/४७)
९६. अङ्गिरस्वत्	द्र० चिदसि तया देवतया ध्रुवा सीद	(१२/५३)
९७. अङ्गिरस्वत्	द्र० परि चिदसि तया देवतया ध्रुवा सीद	(१२/५३)
९८. माता इव पुत्रं	द्र० पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योनावभारुषा	(१२/६१)
९९. आयुषो न मध्यात्		(१२/६५)
१००. देव इव सविता	द्र० सत्यधर्मा (इन्द्रः) विश्वा रूपा अभिचष्टे	(१२/६६)
१०१. इन्द्रो न	द्र०तस्थौ समरे पथीनाम्	(१२/६६)
१०२. अश्वा इव	द्र० सजित्वरीः	(१२/७७)
१०३. राजानः समितौ इव	द्र० समग्मत	(१२/८०)
१०४. गावो गोष्ठादिव ईरते	द्र० उच्छुष्मा ओषधीनाम्	(१२/८२)
१०५. स्तेन इव व्रजमक्रमुः	द्र० अति विश्वाः परिष्ठाः	(१२/८४)
१०६. पुरा जीवगृभो यथा	द्र० आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति	(१२/८५)

१०७. उग्रो मध्यमशीः इव	द्र० ततो यक्ष्मं विबाधध्वे	(१२/८६)
१०८. उपमा अस्य विष्ठाः		(१३/३)
१०९ प्रसितिं न पृथ्वीं	द्र० अग्ने, कृणुष्व पाजः	(१३/९)
११०. राजा इव अमवान् इभेन	द्र० याहि	(१३/९)
१११. अतसं न शुष्कम्	द्र० तं धाक्षि	(१३/१२)
११२. अङ्गिरस्वत्	ङ्गरस्वत्द्र० तया देवतया ध्रुवा सीद	(१३/१९)
११३. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवा सीद	(१३/२४)
११४. इन्द्रमिव देवाः	द्र० अभिकल्पमाना संविशन्तु	(१३/२५)
११५. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवे सीदतम्	(१३/२५)
११६. रथी इव	द्र० युक्ष्वा हि देवहूतमान् अश्वान् अग्ने	(१३/३७)
११७. सरितो न	द्र० सम्यक् स्रवन्ति धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः	(१३/३८)
११८. पिता इव सूनवे	द्र० एधि	(१४/३)
११९. इन्द्रम् इव देवाः	द्र० अभिकल्पमाना संविशन्तु	(१४/६)
१२०. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवा सीद	(१४/१२)
१२१. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवा सीद	(१४/१४)
१२२. इन्द्रम् इव देवाः	द्र० अभिकल्पमाना संविशन्तु	(१४/१५)
१२३. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवा सीदतम्	(१४/१५)
१२४. इन्द्रम् इव देवाः	द्र० अभिकल्पमाना संविशन्तु	(१४/१६)
१२५. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवे सीदतम्	(१४/१६)
१२६. इन्द्रमिव देवा	द्र० अभिकल्पमाना संविशन्तु	(१४/२७)
१२७. धेनुम् इव आयतीम्	द्र० अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति	(१५/२४)
१२८. यह्वा इव प्रवयामुज्जिहानाः	द्र० प्रभानवः सिस्रते नाकमच्छ	(१५/२४)
१२९. दिवि इव रुक्मम्	द्र० स्तोमम् गविष्ठिरो नमसा अग्नौ अश्रेत्	(१५/२५)
१३०. अश्वं न स्तोमैः	द्र० अग्ने तमद्य ऋद्ध्याम	(१५/४४)
१३१. क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्	द्र० अग्ने तमद्य ऋद्ध्याम	(१५/४४)
१३२. स्वः न ज्योतिः	द्र० एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्	(१५/४६)
१३३. विप्रं न जातवेदसम्	द्र० अग्निं मन्ये	(१५/४७)
१३४. इन्द्रमिव देवाः	द्र० अभिकल्पमाना संविशन्तु	(१५/५७)
१३५. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवे सीदतम्	(१५/५७)
१३६. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवा सीद	(१५/५८)

१३७. अश्वो न यवसे	द्र० प्रोथत्	(१५/६२)
१३८. अङ्गिगरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवे सीदतम्	(१५/६४)
१३६. यथा द्विपदे चतुष्पदे शम्		(१६/४८)
१४०. पावकवर्णं	द्र० कृधि	(१७/६)
१४१ उषसो न भानुना	द्र० पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचे	(१७/१०)
१४२. तूर्वन् न यामन्	द्र० एतशस्य नु रणे आ	(१७/१०)
१४३. मनोजुवम्	द्र० वाचस्पतिं हुवेम	(१७/२३)
१४४. अयं यथा उग्रः विहव्यः असत्		(१७/२४)
१४५. जरितारो न	द्र० ते ऋषयः	(१७/२८)
१४६. वृषभो न भीमः	द्र० इन्द्रः शतं सेनाः साकम् अजयत्	(१७/३३)
१४७. कुमारा विशिखा इव	द्र० यत्र बाणाः सम्पतन्ति	(१७/४८)
१४८. अश्वं न स्तोमैः	द्र० अग्ने तमद्य ऋध्याम	(१७/७७)
१४६. क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशग्	द्र० अग्ने तमद्य ऋध्याम	(१७/७७)
१५०. यथा दैवीः मरुतः विश इन्द्रम् अनुवर्तमानः अभवन्	द्र० एवं दैवीः च मानुषीः विशः इमं यजमानम् अनुवर्तमानाः भवन्तु	(१७/८६)
१५१. सरितः न	द्र० अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना धेनाः सम्यक् स्रवन्ति	(१७/६४)
१५२. मृगा इव क्षिपणोः ईषमाणाः	द्र० एते घृतस्य ऊर्मयः अर्षन्ति	(१७/६४)
१५३. सिन्धोः इव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः	द्र० घृतस्य यह्वाः धाराः पतन्ति	(१७/६५)
१५४. अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः	द्र० घृतस्य यह्वा धाराः पतन्ति	(१७/६५)
१५५. समना इव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासः	द्र० घृतस्य धाराः अग्निम् अभि प्रवन्तः	(१७/६६)
१५६. कन्या इव वहतुमेतवै अञ्जि अञ्जानाः पवन्ते	द्र० तत् उ घृतस्य धारा. अभिचाकशीमि	(१७/६७)
१५७. स्वः न	द्र० घर्मः	(१८/५०)
१५८. स्वः न	द्र० अर्कः	(१८/५०)
१५६. स्वः न	द्र० शुक्रः	(१८/५०)
१६०. स्वः न	द्र० ज्योतिः	(१८/५०)
१६१. स्वः न	द्र० सूर्यः	(१८/५०)

१६२ मृगो न भीमः	द्र० इन्द्र शत्रून् वि ताढि	(१८/७१)
१६३. यथा इह यवमन्तः कुवित् यवं चित् अनुपूर्व वियूय दान्ति	द्र० इह एषां भोजनानि कृणुहि	(१९/६)
१६४. अनुरूपः		(१९/२४)
१६५. सुदुघा न धेनुः		(१९/८६)
१६६. श्येनस्य पत्र न प्लीहा		(१९/८६)
१६७. उदर न माता		(१९/८६)
१६८. उत्सः न	द्र० कुम्भः कुम्भी पितृभ्यः स्वधाम्	(१९/८७)
१६९. पायुः न चप्यं	द्र० वालः अस्य भिषग्	(१९/८८)
१७०. वस्तिः न शेपः	द्र० हरसा तरस्वी	(१९/८८)
१७१. पेशो न	द्र० शुक्रम् असितं वसाते	(१९/८९)
१७२. अविः न	द्र० मेषः	(१९/९०)
१७३. यवा न	द्र० बर्हि भ्रुवि केसराणि	(१९/९१)
१७४. आत्मन् उपस्थे न	द्र० वृकस्य लोम	(१९/९२)
१७५. मुखे श्मश्रूणि न	द्र० व्याघ्रलोम	(१९/९२)
१७६. केशा न शीर्षन्	द्र० यशसे	(१९/९२)
१७७. सुमित्रियाः	द्र० आपः ओषधयः न सन्तु	(२०/१९)
१७८. दुर्मित्रियाः	द्र० आपः ओषधयः तस्मै सन्तु	(२०/१९)
१७९. द्रुपदात् इव मुमुचानः	द्र० आपः मा एनसः शुन्धन्तु	(२०/२०)
१८०. स्विन्नः स्नातो मलात् इवु	द्र० आपः मा एनसः शुन्धन्तु	(२०/२०)
१८१. पूतं पवित्रेण इव आज्यम्	द्र० आपः मा एनसः शुन्धन्तु	(२०/२०)
१८२. तन्तुं ततम् (इव)	द्र० पेशसा संवयन्ती	(२०/४१)
१८३. जनयो न पत्नीः	द्र० तिस्त्रः वर्धमानाः सरस्वती भारती इडा पयसा हविषा तन्तुम् अच्छिन्नम्	(२०/४३)
१८४. शमिता न देवः	द्र० वनस्पतिः	(२०/४५)
१८५. अवसृष्टो न	द्र० पाशैः त्मन्या सम् अञ्जन्	(२०/४५)
१८६. वृषायमाणः	द्र० इन्द्रः	(२०/४६)
१८७. द्यौः न	द्र० यस्य तविषीः	(२०/४७)
१८८. विं न पाशिनः	द्र० मा त्वा नियमन्	(२०/५३)
१८९. अतिधन्वेव तान् इहि		(२०/५३)
१९०. कवष्यो न व्यचस्वतीः दुरः	द्र० अश्विभ्यां सरस्वती न इन्द्रः कामान् दुहे	(२०/६०)

१६१. दिशः न	द्र० अश्विभ्यां सरस्वती न इन्द्रः कामान् दुहे	(२०/६०)
१६२. गोभिः न	द्र० सोममश्विना मासरेण परिस्रुता	(२०/६६)
१६३. पुत्रम् इव पितरौ	द्र० अश्विना उभा इन्द्र आवथुः	(२०/७७)
१६४. स्रुचि इव	द्र० घृतम् अहावि अग्ने हविः आस्ये ते	(२०/७६)
१६५. चम्वी इव	द्र० सोमः अहावि अग्ने हविः आस्ये ते	(२०/७६)
१६६. पिशङ्गसंदृशम्		(२०/८३)
१६७. गौर्न	द्र० वयो दधुः	(२१/१६)
१६८. गौर्न	द्र० वयो दधुः	(२१/२०)
१६६. अजो धूम्रो न		(२१/२६)
२००. मधु शष्पैः न		(२१/२६)
२०१. मेषो न भेषजम्		(२१/३०)
२०२. नराशंसं न	द्र० नग्नहुम्	(२१/३१)
२०३. भिषग्रथो न	द्र० चन्द्री	(२१/३१)
२०४. लाजैः न	द्र० मासरम्	(२१/३२)
२०५. कवष्यो न व्यचस्वतीः		(२१/३४)
२०६. दिशः न		(२१/३४)
२०७. शुक्रं न		(२१/३४)
२०८. त्विषिम् इन्द्रे न भेषजम्		(२१/३५)
२०६. श्येनो न रजसा		(२१/३५)
२१०. श्रिया न मासरम्		(२१/३५)
२११. इन्द्रं न जागृवि		(२१/३६)
२१२. दिवानक्तं न भेषजैः		(२१/३६)
२१३. देवीर्न भेषजम्		(२१/३७)
२१४. इडा न भारती		(२१/३७)
२१५. भिषजं न सरस्वतीम्		(२१/३८)
२१६. ओजो न जूतिः		(२१/३८)
२१७. वृको न रभसः		(२१/३८)
२१८. श्रिया न मासरम्		(२१/३८)
२१६. भीमं न मन्युम्		(२१/३६)
२२०. अग्निं न भेषजम्		(२१/४०)
२२१. पाथो न भेषजम्		(२१/४०)

२२२. छागैः न मेषैः		(२१/४२)
२२३. शष्पैः न तोक्मभिः		(२१/४२)
२२४. प्रस्तुत्य इव		(२१/४६)
२२५. उपस्तुत्य इव		(२१/४६)
२२६. रभीयस इव		(२१/४६)
२२७. तेजो न चक्षुः	द्र० अक्ष्योर्बर्हिषा दधुः	(२१/४८)
२२८. प्राणं न वीर्यं	द्र० नसि द्वारो दधु	(२१/४९)
२२९. बलं न वाचम्	द्र० आस्य उषाभ्यां दधुः	(२१/५०)
२३०. श्रोत्रं न कर्णयोर्यशः	द्र० जोष्ट्रीभ्यां दधुः	(२१/५१)
२३१. शुक्रं न ज्योतिः	द्र० स्तनयोराहुति धत्त	(२१/५२)
२३२. त्विषिं न हृदये मतिम्	द्र० होतृभ्यां दधुः	(२१/५३)
२३३. शूषं न मध्ये मतिम्	द्र० नाभ्यामिन्द्राय दधुः	(२१/५४)
२३४. ओजो न जूतिः	द्र० दधत्	(२१/५६)
२३५. ऋषभो न भामम्	द्र० दधत्	(२१/५६)
२३६. यशो न दधत्	द्र० इन्द्रियम् ऊर्जम्	(२१/५८)
२३७. विवक्षत इव	द्र० ते मुखम्	(२३/२३)
२३८. विवक्षत इव	द्र० ते मुखम्	(२३/२४)
२३९. गिरौ भारं हरन् इव	द्र० ऊर्ध्वाम् एनाम् उत् श्रापय	(२३/२६)
२४०. शीते वाते पुनन् इव	द्र० अस्य मध्यम् एधताम्	(२३/२६)
२४१. गिरौ भारं हरन् इव	द्र० ऊर्ध्वम् एनम् उत् श्रयतात्	(२३/२६)
२४२. शीते वाते पुनन् इव	द्र० अस्य मध्यम् एजतु	(२३/२६)
२४३. गोशफे शकुलौ इव	द्र० मुष्कौ इत् अस्याः एजत	(२३/२८)
२४४. सत्यस्य अक्षिभुवो यथा		(२३/२९)
२४५. धनायति		(२३/३०)
२४६. कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय	द्र० इह इह एषां कृणुहि भोजनानि	(२३/३८)
२४७. सूर्यसमं	द्र० ज्योतिः	(२३/४७)
२४८. समुद्रसमं	द्र० सरः	(२३/४७)
२४९. सूर्यसमं	द्र० ब्रह्म ज्योतिः	(२३/४८)
२५०. समुद्रसमं	द्र० द्यौः सरः	(२३/४८)
२५१ स्रुचा इव	द्र० ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि	(२५/४०)

२५२. यथा इमां वाचं कल्याणीम्	द्र० आवदानि जनेभ्यः	(२६/२)
२५३. वत्सं न स्वसरेषु धेनवः	द्र० इन्द्रं गीर्भिः नवामहे	(२६/११)
२५४. महिषी इव	द्र० त्वत् रयिः त्वत् वाजाः उत् ईरते	(२६/१२)
२५५. ऋतुथा	द्र० देवा नो यज्ञं नयन्तु	(२६/१६)
२५६. दिव्ये न योना	द्र० उषासानक्ता	(२७/१७)
२५७. अदुग्धा इव धेनवः	द्र० अभि त्वा शूर नोनुमः	(२७/३५)
२५८. त्वावान्	द्र० न अन्यः दिव्यः	(२७/३६)
२५९. वाजं न जिग्युषे	द्र० इन्द्र गामश्वं रथ्यं संकिर	(२७/३८)
२६०. प्रियं मित्रं न	द्र० शंसिषम्	(२७/४२)
२६१. अङ्गिरस्वत्	द्र० तया देवतया ध्रुवः सीद	(२७/४५)
२६२. ओजो न वीर्यम्		(२८/५)
२६३. सवातरौ न तेजसा	द्र० वत्सम् इन्द्रम् अवर्धताम्	(२८/६)
२६४. तिस्रो देवीः न भेषजम्		(२८/८)
२६५. नक्तोषासा न दर्शते		(२८/२६)
२६६. गां न	द्र० वयो दधत्	(२८/३१)
२६७. गां न	द्र० वयो दधत्	(२८/३२)
२६८. मनोजवाः		(२६/२०)
२६९. हंसा इव	द्र० श्रेणिशः यतन्ते	(२६/२१)
२७०. वात इव	द्र० तव चित्तं ध्रजीमान्	(२६/२२)
२७१. पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः	द्र० व्यचस्वतीः उर्विया विश्रयन्ताम्	(२६/३०)
२७२. मनुष्वत्	द्र० इह चेतयन्ती तिस्रो देवीः आसदन्तु	(२६/३३)
२७३. जीमूतस्य इव	द्र० प्रतीकं भवति	(२६/३८)
२७४. योषा इव	द्र० ज्या शिङ्क्ते	(२६/४०)
२७५. समना इव योषा	द्र० आचरन्ती	(२६/४१)
२७६. माता इव पुत्रं	द्र० बिभृतामुपस्थे	(२६/४१)
२७७. अहिः इव	द्र० भोगैः पर्येति	(२६/५१)
२७८. आदित्यवर्णम्	द्र० पुरुषम् अहं वेद	(३१/१८)
२७९. प्रतिमा		(३२/३)
२८०. वायवः न	द्र० सोमाः	(३३/१)
२८१. रथीः इव	द्र० अग्ने अश्वान् युक्ष्व	(३३/४)
२८२. इन्द्रं न	द्र० त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः	(३३/१३)

२८३. स्तर्यो न गावः द्र० आपश्चित् पिप्युः (३३/१८)
२८४ वायुर्न नियुतः द्र० इन्द्र नो अच्छ याहि (३३/१८)
२८५. प्रत्नथा (३३/२१)
२८६. इत्था (३३/२७)
२८७. प्रत्नथा (३३/३३)
२८८. अपि यथा युवानो मत्सथा द्र० नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा (३३/३४)
२८६. श्रायन्त इव सूर्य द्र० विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत (३३/४१)
२६०. भाग न द्र० वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति दीधिन (३३/४१)
२६१. विश्पती इव द्र० वीरिटे इयाते (३३/४४)
२६२. प्रत्नथा (३३/४७)
२६३. प्रत्नथा (३३/५८)
२६४. शिशुं न मातरा द्र० अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी (३३/६७)
२६५. प्रत्नथा (३३/७३)
२६६. अत्यो न वाजसातये द्र० चनोहितः (३३/७५)
२६७. त्वावान् (३३/७६)
२६८. पावकवर्णाः (३३/८१)
२६६. समुद्र इव द्र० अयं पप्रथे (३३/८३)
३००. हिरण्यजिह्वः (३३/८४)
३०१. सुसंदृशा (३३/८६)
३०२. पूर्वथा (३३/८७)
३०३. रथनाभौ इव अराः द्र० यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिताः (३४/५)
३०४. सुषारथिः अश्वान् इव द्र० यन्मनुष्यान्नेनीयते (३४/६)
३०५. अभीशुभिः वाजिनः इव द्र० यन्मनुष्यान्नेनीयते (३४/६)
३०६. अङ्गिरस्वत् द्र० प्रमन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे (३४/१६)
३०७. हिरण्याक्षः द्र० सविता देव आ अगात् (३४/२४)
३०८. हिरण्यपाणिः द्र० सविता (३४/२५)
३०६. हिरण्यहस्तः द्र० असुरः (सविता) (३४/२६)
३१० दधिक्रावा इव द्र० शुचये पदाय समध्वरायोषसोऽनमन्त (३४/३६)
३११. रथम् इव अश्वाः वाजिनः द्र० वसुविदं भगं नः आवहन्तु (३४/३६)
३१२. रथ्यो न रश्मीन् द्र० पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे (३४/४६)

३१३. इन्द्रः इव	द्र० सः नः देवेभ्यो वह्नि संतारणो भव	(३५/१३)
३१४. पिता इव पुत्रम्	द्र० अभिरक्षतात्	(३५/१७)
३१५. उशतीः इव मातरः	द्र० रसस्तस्य भाजयतेह नः	(३६/१५)
३१६. इन्द्रवत्	द्र० स्वाहा	(३८/४)
३१७. इन्द्रवत्	द्र० स्वाहा	(३८/४)
३१८. इन्द्रवत्	द्र० स्वाहा	(३८/४)
३१६. आदित्यवते	द्र० इन्द्राय त्वा स्वाहा	(३८/८)
३२०. ऋभुवते	द्र० सवित्रे त्वा स्वाहा	(३८/८)
३२१. विभुवते	द्र० सवित्रे त्वा स्वाहा	(३८/८)
३२२. वाजवते	द्र० सवित्रे त्वा स्वाहा	(३८/८)
३२३. अङ्गिरस्वते	द्र० पितृमते यमाय स्वाहा	(३८/६)
३२४. मित्रो न दर्शतः	द्र० हरिः अचिक्रदत्	(३८/२२)
३२५. ते ततः भूयः इव तमः	द्र० ये उ संभूत्यां रताः	(४०/६)
३२६. ते ततः भूयः इव तमः	द्र० ये उ विद्यायां रताः	(४०/१२)

तृतीय अध्याय

(सामवेद संहिता)

आग्नेय काण्ड

१. मित्रम् इव प्रियम्	द्र० स्तुषे	(५)
२. अग्ने रथं न	द्र० वेद्यम् स्तुषे	(५)
३. अश्वं न	नमोभिः त्वा अग्निम् वन्दध्यै	(१७)
४. और्वभृगुवत्		(१८)
५. अप्नवानवत्		(१८)
६. प्रियं मित्रं न	द्र० जावेदसं प्रशंसिषम्	(३५)
७. उपमाते		(४३)
८. इन्द्रो न मज्मना	द्र० अग्निर्देवः (अस्ति)	(५१)
६. रथम् इव	द्र० इमं स्तोमम् सं महेम	(६६)
१०. आपो न	द्र० देवाः त्वत् वि जनयन्त	(६८)
११. आजिं न गिर्ववाहः	द्र० जिग्युरश्वाः	(६८)
१२. धेनुम् इव	द्र० आयतीम् उषासं प्रति जनानां समिधा अग्निः अबोधि	(७३)
१३. यह्वा इव		(७३)
१४. द्यौः इव	द्र० अहनी असि	(७५)
१५. इन्द्रस्य इव	द्र० प्र विवष्टु	(७८)
१६. गर्भ इव इत्	द्र० गर्भिणीभिः सुभृतः	(७६)
१७. सूरो न	द्र० द्युता त्वं रोचसे	(८३)
१८. मित्रो न	द्र० पत्यसे	(८४)
१६. पुष्टिं न	द्र० पुष्यसि	(८४)
२०. महिषी इव	द्र० उदीरते	(८६)
२१. मित्रं न	द्र० पुरः दधिरे	(८८)
२२. प्रभूर्जयो यथा	द्र० उदारुहन्	(६२)
२३. नेमिश्चक्रमिव	द्र० तत् (ब्रह्माग्निः) विश्वानि काव्या परि आभुवत्	(६४)

२४. तोदस्य इव द्र० महस्य शरणे आ (६७)
२५. विपां ज्योतींषि बिभ्रते न द्र० अग्नये बृहत् वचः प्र भरत (६८)

ऐन्द्र काण्ड

२६. यद्गवे न शाकिने द्र० वः तद् गाय (११५)
२७. इन्द्र यथा त्वम् एक इत् वस्वः द्र० यद् अहम् ईशीय मे स्तोता गो सखा(१२२)
२८. इह इव शृण्वे द्र० एषां हस्तेषु कशाः यत् वदान् (१३५)
२६. पुष्टावन्तो यथा पशुम् द्र० इन्द्र इमे सखायः उ सोमिनः त्वा विचक्षते (१३६)
३०. समुद्राय इव सिन्धवः द्र० सम् अस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः (१३७)
३१. गावो वत्सं न धेनवः द्र० इमाः गिरः त्वा अभि प्रनोनुवुः (१४६)
३२. सूर्य इव द्र० अहम् अजनि (१५२)
३३. सुदुघाम् इव गोदुहे द्र० द्यविद्यवि जुहूमसि (१६०)
३४. द्यौर्न द्र० शवः प्रथिना (१६६)
३५. चर्म इव द्र० इन्द्रः उभे रोदसी समवर्तयत् (१८२)
३६. कपोत इव गर्भधिम् द्र० सम् अतसि (त्वम्) (१८३)
३७. यथा पुराश्वयोत रथया सु द्र० नः (१८६)
३८. न शूर इन्द्रः द्र० देवो वृतः (१६६)
३६. समुद्रमिव सिन्धवः द्र० इन्दवः त्वा आविशन्तु (१६७)
४०. गावो वत्सं न धेनवः द्र० इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः(२०१)
४१. यथा त्वम् द्र० न कि एवम् (२०३)
४२. कृविं यथा वाजयन्तः द्र० इन्द्रम् आ सिञ्चे (२१४)
४३. दूरादिहेव यत्सतः अशिश्वितत् द्र० अरुणप्सुः इह अशिश्वितत् (२१६)
४४. महान् इव युवजानिः द्र० आ याहि उप नः (२२७)
४५. अदुग्धा इव धेनवः द्र० अभि त्वा शूर नोनुमः (२३३)
४६. सहस्रेण इव शिक्षति (२३५)
४७. वत्सं न धेनवः द्र० इन्द्रं स्वसरेषु गीर्भिः नवामहे (२३६)
४८. भरं न कारिणम् द्र० हुवे (२३७)
४६. नेमिं तष्टा इव सुद्रुवम् द्र० आ व इन्द्रं पुरुहूतं न मे गिरा (२३८)
५०. अति धन्वेव द्र० तान् इहि (२४६)
५१. वाजयन्तो रथा इव द्र० उद् ईरते (२५१)
५२. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् द्र० आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि (२५२)

५३. भगं न द्र० यशसम् (२५३)
५४. पिता पुत्रेभ्यो यथा द्र० इन्द्र क्रतुं न आभर (२५६)
५५. आपो न (२६१)
५६. वचो यथा द्र० अभि गाय (२६५)
५७. श्रायन्त इव सूर्यम् द्र० विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत (२६७)
५८. प्रति भागं न द्र० दीधिमः (२६७)
५६. मावते (२६६)
६०. आद्वन्यथा द्र० अश्मया अशुना इत्थं क्षपमाणः (३०५)
६१. यथा नोऽविता (३१४)
६२. निधया इव बद्धान् द्र० अस्मान् मुमुग्धि (३१६)
६३. उपमा अस्य (३२१)
६४. मेडिं न द्र० इन्द्र ! गृणीषे (३२७)
६५. यो अक्षेण इव चक्रियौ द्र० शचीभिर्विष्यक्तरतम्भ पृथिवीमुत द्याम् (३३६)
६६. पितुर्न पातम् द्र० आ दधीत (३४०)
६७. उद् वंशम् इव येमिरे द्र० गायन्ति त्वा गायत्रिणः (३४२)
६८. रजः सूर्यो न रश्मिभिः द्र० आ त्वा पृणक्तु इन्द्रियम् (३४७)
६६. रथीरिव द्र० आ त्वा गिर तरथुः (३४६)
७०. गावो वत्सं न धेनवः द्र० अभि त्वा समनूषत (३४६)
७१. रथं यथा ऊतये सुम्नाय द्र० त्वा इन्द्रम् आवर्तयामसि (३५४)
७२. शक्रो यथा द्र० सुतेषु नो रारणत्सख्येषु च (३६३)
७३. क्षोणीरिव द्र० तत् हर्य नो वचः (३७३)
७४. जनयो यथा पतिं शुन्ध्युम् द्र० परि ष्वजन्त (३७५)
७५. मर्यं न मघवानमूतये द्र० इन्द्रम् अनूषत (३७५)
७६. द्यावो न द्र० वस्वः विचरन्ति (३७६)
७७. अत्यं न वाजम् (३७७)
७८. उषा इव द्र० उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथ (३७६)
७६. उपमाम् द्र० इन्द्रः ते शवः गृणे (३६१)
८०. गिरिः न द्र० इन्द्र आ गधि (३६३)
८१. अहरहः शुन्ध्युः परिपदाम् इव द्र० वज्रहस्त निर्ऋतीनां परिवृजम् वेत्थ हि(३६६)
८२. उदा इव उदभि. ग्मन्तः द्र० इन्द्र त्वा ससृग्महे (४०६)
८३. वयो यथा द्र० ते सीदन्तः (४०७)
८४. स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः द्र० वयं त्वां हवामहे (४०८)
८५. अतथा इव द्र० मा शृणुही (४१६)

८६. यथा चिन्नो अबोधयः द्र० नो अद्य बोधयोषः (४२१)
८७. गावो न यवसे द्र० अन्धसः मदे रणा (४२२)
८८. ऋणया न द्र० द्विषस्तरध्या ईरसे (४२८)
८६. अश्वो न द्र० निक्तः (४३०)
६०. अश्वं न द्र० स्तोमः (४३४)
६१. क्रतुं न द्र० स्तोमः भद्रम् (४३४)
६२. भगो न द्र० चित्रो अग्निः (४६६)
६३. विस्नुतयो यथा द्र० पथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः (४५३)
६४. परावतो न अयम् (४५६)
६५. विदथानि इव द्र० अच्छा (४५६)
६६. राजा इव द्र० सत्पतिः (४५६)
६७. पुत्रासो न पितरं द्र० हवामहे (४५६)
६८. देवान् अच्छा न द्र० नूनं प्र अच्छ उपयन्ति (४६१)
६६. सूरो न द्र० सयुग्वभिः (४६३)
१००. विप्रं न द्र० जातवेदसं मन्ये (४६५)

पवमान काण्ड

१०१. श्येनो न द्र० योनिमासदत् (४७३)
१०२. वनानि महिषा इव द्र० सोमासः प्र नयन्ते (४७८)
१०३. रथीः इव द्र० इन्दुः अश्वं सृजत् (४८१)
१०४. चित्रं न तन्यतुम् द्र० पवमानो अजीजनद् दिवः (४८४)
१०५. रथ्यो यथा द्र० पवित्रे चम्वोः सुतः असर्जि (४६०)
१०६. गावो न भूर्णयः द्र० प्र यद् त्वेषा आयासो अक्रमुः (४६१)
१०७. मित्रो न दर्शतः द्र० सूर्येण संदिद्युते (४६७)
१०८. ऊर्मि न द्र० इन्दो नः महे तुने बिभ्रत् प्र अर्षसि (५०६)
१०६. जनो न पुरि द्र० सोम चम्वोः आ विशन् (५१३)
११०. सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा द्र० अंशोः पयसा प्र पिप्ये (५१४)
१११. मदिरो न द्र० जागृविः (५१४)
११२. अश्वया इव हरिता द्र० धारया अधि याति (५१५)
११३. अश्वं न त्वा वाजिनम् द्र० मर्जयन्तोऽच्छा बर्हिः रसनाभिर्नयन्ति (५२३)
११४. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणः द्र० देवो देवानां जनिमा विवक्ति (५२४)
११५. मिता इव सदम पशुमन्ति द्र० सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् (५२६)
११६. वरुणो न सिन्धुः द्र० रत्नधाः वार्याणि वि दयते (५२८)
११७. रथो न द्र० वाजं सनिषम् अयासीत् (५३६)

११८. अत्यो न वाजी	द्र० द्रोणं ननक्षे	(५३८)
११६. वाजिनि इव	द्र० धियः स्पर्धन्ते	(५३६)
१२०. सूरे न	द्र० विशः स्पर्धन्ते	(५३६)
१२१. व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म	द्र० अपो वृणानः पवते कवीयान्	(५३६)
१२२. वातो न जूतिम्	द्र० पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात्	(५४१)
१२३. रथ्ये यथा आजौ	द्र० असर्जि धिया मनोता प्रथमा मनीषा	(५४३)
१२४. अपाम् इव इत् ऊर्मयः	द्र० मनीषाः तर्तुराणाः सोमम् अच्छ प्र ईरते	(५४४)
१२५. वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः	द्र० अद्रुहः प्रियम् इन्द्रस्य काम्यम् अभि नवन्ते	(५५०)
१२६. मखं न भृगवः	द्र० अराधसं श्वानम् अप हता	(५५३)
१२७. मर्य इव युवतिभिः समर्षति	द्र० सोमः कलशे शतयामना पथा	(५५७)
१२८. अत्यो न	द्र० सत्वभिः	(५५८)
१२६. राजा इव	द्र० सोमः दस्मः	(५६२)
१३०. श्येनो न	द्र० योनिं घृतवन्तम् आसदत्	(५६२)
१३१. गावः न धनेवः	द्र० आ प्र असिष्यदन्त	(५६३)
१३२. शिशुं न	द्र० यज्ञैः परि भूषत श्रिये	(५६८)
१३३. शिशुं न हव्यैः	द्र० स्वदयन्त गूर्तिभिः	(५६६)
१३४. भृतिं न आभर	द्र० मतिभिर्जुजोषते	(५७३)
१३५. गोमत्	द्र० नः इन्दो धनिव	(५७४)
१३६. अश्ववत्	द्र० नः इन्दो धनिव	(५७४)
१३७. अश्वं न	द्र० परि षिञ्चत	(५८०)
१३८. ऊर्मिः अपाम् इव	द्र० एषः क्रीडन्	(५८४)
१३६. वर्मी इव	द्र० धृष्णो आ रुज	(५८५)

अरण्य काण्ड

१४०. दिवि द्याम् इव	द्र० यज्ञस्य यत्पयः दृंहतु	(६०२)
१४१. शुचिः सोम इव	द्र० अग्नये मतिः पवते	(६०६)
१४२. क्रतुं न	द्र० इन्द्र नृम्णं स्थविरं च वाजम्	(६२५)
१४३. त्ये तायवो यथा अपयन्ति	द्र० नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः	(६३३)
१४४. भ्राजन्तो अग्नयो यथा	द्र० अदृश्रन् अस्य केतवो विरश्मयो जनान् अनु	(६३४)

(महानाम्न्यार्चिकः)

१४५. स्वः न	द्र० इन्द्र! अंशुः	(६४२)
१४६. अंशुः न	द्र० यः शोचिः	(६४५)

(उत्तरार्चिकः)

१४७. सीदन्तो वनुषो यथा	द्र० हेतृभिः हिन्वानः हितः वाजी वाजम् आ अक्रमीत्	(६५५)
१४८. अर्वन्तो न श्रवस्यवः	द्र० पवमानस्य ते सर्गाः असृक्षत	(६५७)
१४६. अस्तं गावो न धनेवः	द्र० इन्दवः समुद्रम् अच्छ ऋतस्य योनिम् आ अग्मन्	(६५६)
१५०. अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा	द्र० बर्ही रशनाभिः नयन्ति	(६७७)
१५१. अदुग्धा इव धेनवः	द्र० शूर त्वा अभि नोनुमः	(६८०)
१५२. त्वावान्	द्र० अन्यः दिव्यः न	(६८१)
१५३. अभि वत्सं न धनेवः	द्र० स्वसरेषु इन्द्रं गीर्भिः नवामहे	(६८५)
१५४. गिरिं न	द्र० पुरुभोजसम्	(६८६)
१५५. भरं न कारिणम्	द्र० अध्वरे हुवे	(६८७)
१५६. वाजं न एतशः	द्र० अच्छा	(६६३)
१५७. अश्वो न	द्र० इन्दुः कृत्व्यः	(६६८)
१५८. प्रियं मित्रं न शंशिषम्	द्र० वयं गिरा–गिरा अमृतं जातवेदसं प्र शंशिषम्	(७०३)
१५६. स्थूरं न कश्चिद् अवस्यवः	द्र० वयं त्वाम् अपूर्व्य भरन्तः अवस्यवः	(७०८)
१६०. उदेव ग्मन्त उदभिः	द्र० ससृग्महे	(७१०)
१६१. वाः न यव्याभिः	द्र० त्वा अभिवर्धन्ति	(७११)
१६२. यथा नरः द्युक्षं चकृम	द्र० सुदानवे सत्यराधसे उक्थम् शंस इत्	(७१७)
१६३. भीमं न गां वारयन्ते	द्र० न हित्वा शूर देवा न मर्त्तासो दित्सन्तम्	(७३०)
१६४. सरो गौरो यथा	द्र० पिब	(७३३)
१६५. अश्वो न निक्तो नदीषु	द्र० परिपूतः	(७३५)
१६६. यवं यथा गोभिः श्रीणन्तः	द्र० तं ते स्वादुमकर्म	(७३६)
१६७. अयं सूर्य इव	द्र० उपदृक्	(७५६)
१६८. देवो न सूर्यः	द्र० सोमः	(७५७)
१६६. सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा	द्र० सोम देववीतये अंशोः पयसा प्र पिप्ये	(७६७)
१७०. प्रियः सूनुः न	द्र० मर्ज्यः	(७६८)
१७१. यथा रथं नदीषु गभस्त्योः	द्र० अपसः तम् ईम् आ हिन्वन्ति	(७६८)
१७२. हंसो यथा गणम्	द्र० विश्वस्य मतिम् अवीवशत्	(७७०)
१७३. अत्यो न	द्र० गोभिः अज्यते	(७७०)
१७४. अश्वो न	द्र० चक्रदः	(७८३)

१७५. इन्द्रस्य इव वग्नुः आ शृण्वे	द्र० आजौ इमां वाचं प्रचोदयन् आ अर्षसि	(८०६)
१७६. सत्रा वाज न जिग्युषे	द्र० नः गाम् रथ्यम् अश्वम् संकिर	(८१०)
१७७. सहस्त्रेण इव	द्र० यः मघवा जरितृभ्यः शिक्षति	(८११)
१७८. शतानीका इव प्र जिगाति	द्र० धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे	(८१२)
१७९. गिरेः इव रसाः	द्र० अस्य पुरुभोजसः दत्राणि प्र पिन्विरे	(८१२)
१८०. उपमानि	द्र० तव श्रवांसि	(८१४)
१८१. सूपस्थाभिर्न धेनुभिः	द्र० सम्मिश्लः	(८१७)
१८२. श्येनो न	द्र० योनिम् आ सीदस्	(८१७)
१८३. ब्रह्मा इव	द्र० मा उ तन्द्रयुः	(८२६)
१८४. रूपं न	द्र० सोम वर्चसे आभर	(८३४)
१८५. आपो न	द्र० वृक्तबर्हिषः सुतावन्तः वयं स्तोतारः त्वा परि आसते	(८६४)
१८६. नेमिं तष्टा इव	द्र० इन्द्रं गिरा वः आ नमे सुद्रुवम्	(८६७)
१८७. मावते		(८६८)
१८८. पूर्वथा	द्र० अद्यचित् अनुष्टुवन्ति	(८८२)
१८९. दिवश्चित्रं न तन्यतुम्	द्र० पवमानः ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् अजीजनत्	(८८६)
१९०. प्र यद् गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः	द्र० घ्नन्तः कृष्णाम् अप त्वचम्	(८९२)
१९१. वृष्टेरिव स्वनः	द्र० पवमानस्य शुष्मिणः स्वनः शृण्वे	(८९४)
१९२. उषाः सूर्यो न रश्मिभिः	द्र० आ पृण	(८९६)
१९३. रसा इव	द्र० विश्वतः विष्टपम्	(८९७)
१९४. घृत–प्रतीकः	द्र० द्युमत् शुचिः भरतेभ्यः विभाति	(९०७)
१९५. अभ्राद् वृष्टिः इव	द्र० अस्य मन्मनः इयम् पूर्व्यस्तुतिः अजनि	(९१६)
१९६. शकुना इव	द्र० परः सूर्यं पप्तिम	(९२३)
१९७. सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो न अर्वा	द्र० (इन्द्रः अस्ति)	(९२७)
१९८. सूर्यो न	द्र० देवः	(९३४)
१९९. सप्तिः न	द्र० वाजयुः	(९४२)
२००. ऊर्मिं न सिन्धुः	द्र० पवमानः प्रावीविपत्	(९४५)
२०१. यथा आभुवत्त्वष्टा रूपा इव तक्ष्या	द्र० अयं नः	(९४७)
२०२. मतिर्न मधोश्चकानः	द्र० सुतस्य पिब	(९५२)

२०३. जठरं नव्यं न	द्र० इन्द्र पृणस्व	(६५३)
२०४. मधोर्दिवो न	द्र० इन्द्र पृणस्व	(६५३)
२०५. स्वः न	द्र० (सुतः)	(६५३)
२०६. मित्रो न	द्र० तुराषाट्	(६५४)
२०७. यतिर्न	द्र० वृत्रं जघान	(६५४)
२०८. भृगुर्न	द्र० बलं बिभेद	(६५४)
२०६. सूर्यस्येव न रश्मयः	द्र० सर्गा असृक्षत	(६५८)
२१०. देवो न सूर्यः	द्र० पवमान	(६६०)
२११. आपो न प्रवता यतीः	द्र० गावः इन्द्रम् आशत	(६६२)
२१२. त्वं राजा इव सुव्रतः	द्र० सोम	(६७२)
२१३. मखो न	द्र० मंहयुः सोम	(६७४)
२१४. वर्ष्यस्य इव विद्युतः	द्र० तव श्रियः चिकित्रे	(६८२)
२१५. उषसाम् इव एतयः	द्र० अग्नेः तव श्रियः चिकित्रे	(६८२)
२१६. रथ्यो यथा	द्र० ते शर्धांसि पृथक् आ यतन्ते	(६८३)
२१७. अश्वया इव हरिता	द्र० सोमः अधि धारया याति	(६६७)
२१८. समुद्रं न	द्र० संवरणानि अग्मन्	(६६८)
२१६. श्येनो न	द्र० योनिम् आसदत्	(१००८)
२२०. अश्वं न होतारम् अशूशुभन्	द्र० सधमादे होतारम् ईम् मधोः रसम् अशूशुभन्	(१०१०)
२२१. वह्निः न	द्र० विश्पतिः	(१०१२)
२२२. वत्सं जातं न मातरः	द्र० त्वां रिहन्ति धीतयः	(१०१७)
२२३. रजः सूर्यो न रश्मिभिः	द्र० त्वा इन्द्रियम् आ पृणक्तु	(१०२८)
२२४. आपो (न) सिन्धवः	द्र० महान्तं त्वा महीः अनु अर्षन्ति	(१०४०)
२२५. मित्रो न दर्शतः	द्र० अचिक्रदद् वृषा हरिः महान्	(१०४२)
२२६. पर्जन्यो वृष्टिमान् इव	द्र० इन्दो मधोः धारया	(१०४६)
२२७. रथम् इव	द्र० इमं स्तोमं संमहेम	(११६४)
२२८. त्वावान्	द्र० युक्तः	(१०८५)
२२६. ऋणोरक्षं न चक्रयोः	द्र० धृष्णो ईयान स्तोतृभ्यः त्मना युक्तः	(१०८५)
२३०. अक्षं न	द्र० शतक्रतो जरितृणां दुवः कामम् यद् शचीभिः आ ऋणोः	(१०८६)
२३१. सुदुघाम् इव गोदुहे	द्र० जुहूमसि	(१०८७)
२३२. उषाः इव	द्र० इन्द्र यद् उभे रोदसी आ पप्राथ	(१०६०)
२३३. दीर्घं हि अंकुशं यथा	द्र० मन्तुमः मघवन् शक्तिम् विभर्षि	(१०६१)

२३४. अजो यथा	द्र० पर्वेण मघवन्पदा वयाम् यमः	(१०६१)
२३५. शिशुं न हव्यैः	द्र० गूर्तिभिः स्वदयन्त	(१०६८)
२३६. वत्स इव मातृभि. सम् अज्यते	द्र० हिन्वानः इन्दुः मतिभिः परिष्कृतः	(१०६६)
२३७. सूरासो न दर्शतासः	द्र० सोमासः	(११०२)
२३८. ब्रध्नः चित्	द्र० पुरुमेधाः चित् तकवे नरम् धात्	(११०४)
२३६. वातो न जूति	द्र० पुरुमेधाः चित् तकवे नरं धात्	(११०४)
२४०. वृक्षं न पक्वं धूनवत् रणाय	द्र० श्रुते अधि षष्टिं सहस्रा नैगुतः एना वसूनि नः रणाय	(११०५)
२४१. उशना इव	द्र० काव्यं प्र ब्रुवाणः देवानां जनिमा वि वक्ति	(१११६)
२४२. स्वानासो रथा इव	द्र० सोमासो राये अक्रमुः	(१११६)
२४३. अर्वन्तो न श्रवस्यवः	द्र० सोमासो राये अक्रमुः	(१११६)
२४४. रथाः इव	द्र० गभस्त्योः दधन्विरे	(११२०)
२४५. कारिणाम् इव	द्र० भरासः दधन्विरे	(११२०)
२४६. राजानो न प्रशस्तिभिः	द्र० सोमासो गोभिरञ्जते	(११२१)
२४७. यज्ञो न सप्त धातृभिः	द्र० अञ्जते	(११२१)
२४८. विशो राजा इव	द्र० पवमानः स्पृधः अभि सीदति	(११३२)
२४६. जायमानं शिशुं न	द्र० त्वाम् अमृतं विश्वे देवाः अभि संनवन्ते	(११४१)
२५०. मर्य इव युवतिभिः	द्र० सोमः शतयामना पथा कलशे सम् अर्षति	(११५२)
२५१. शिशुं न	द्र० यज्ञैः परिभूषत श्रिये	(११५७)
२५२. वत्सं न मातृभिः	द्र० इ अभि सं सृजत	(११५८)
२५३. यथा शर्धाय	द्र० पुनात	(११५६)
२५४. यथा मित्राय	द्र० पुनात	(११५६)
२५५. अत्या हियाना न हेतृभिः	द्र० आशवः आजसातये वारम् अव्यम् वि असृग्रम्	(११६१)
२५६. अभि वत्सं न मातरः	द्र० इन्दवः वाश्राः अभि अर्षन्ति	(११६३)
२५७. गावो वत्सं न धेनवः	द्र० सोमस्य पीतये विप्राः गावः इन्द्रम् अभि अनूषत	(११६७)
२५८. सिन्धोः ऊर्मेः इव स्वनः	द्र० ते शुष्मासः उद् ईरते	(१२०५)
२५६. यथा सूर्यम् अरोचयः	द्र० अया धारया पवस्व	(१२१६)

२६०. प्रोथदश्वो न यवसे अविष्यन्	द्र० यदा अविष्यन्	(१२२०)
२६१. वज्रो न	द्र० (इन्द्रः)	(१२२४)
२६२. अत्यो न	द्र० हरिः	(१२२८)
२६३. शूरो न	द्र० रथिरः गविष्टिषु गभस्त्योः आयुधा धत्ते	(१२२६)
२६४. विद्युत् अभ्रा इव	द्र० इन्द्रस्य जठरेषु आ विश	(१२३०)
२६५. उपमानां प्रथमः	द्र० नि षीदसि	(१२३४)
२६६. भ्राजा न याति गव्ययुः	द्र० धारा अध्वरे	(१२४०)
२६७. मित्रम् इव प्रियम्	द्र० स्तुषे	(१२४४)
२६८. अग्ने रथं न वेद्यम्	द्र० स्तुषे	(१२४४)
२६९. कविम् इव	द्र० प्रशंस्यम् स्तुषे	(१२४५)
२७०. गिरिर्न	द्र० इन्द्रः पृथुः	(१२४७)
२७१. पर्णवीः इव	द्र० देवो अमर्त्यः अभि दीयति	(१२५६)
२७२. शूरो यन्निव सत्वभिः	द्र० पवमानः एषः विश्वानि वार्या सिषासति	(१२५८)
२७३. श्येनो न	द्र० एषः स्यः मानुषीषु विक्षु आ सीदति	(१२७६)
२७४. गच्छन् जारो न योषितम्	द्र० एषः स्यः मानुषीषु विक्षु आ सीदति	(१२७६)
२७५. सोमो वाजम् इव	द्र० असरत्	(१२६६)
२७६. पर्जन्यो वृष्टिमान् इव	द्र० इन्द्रः	(१३०७)
२७७. राजा इव	द्र० सोमः दस्मः	(१३१६)
२७८. श्येनो न	द्र० योनिं घृतवन्तम् आ सदत्	(१३१६)
२७९. अत्यो न	द्र० मृष्टो अभि वाजम् अर्षसि	(१३१८)
२८०. श्रायन्त इव सूर्यम्	द्र० विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत	(१३१६)
२८१. प्रति भागं न दीधिमः		(१३१६)
२८२. अश्वो न निक्तः	द्र० सोमः	(१३३२)
२८३. वत्सं शिश्वरीः इव	द्र० तमिद् वर्धन्तु नो गिरः	(१३३६)
२८४. पदा क्षुम्पम् इव	द्र० अङ्ग इन्द्रः कदा मर्तम् अराधसम् स्फुरत्	(१३४३)
२८५. वंशम् इव	द्र० ब्रह्माणः त्वा उद् येमिरे	(१३४४)
२८६. धनं कारिणे न	द्र० प्रयंसत्	(१३५८)
२८७. वृषभं यथा	द्र० (शंसत)	(१३६१)
२८८. गां न	द्र० चर्षणीसहम् (शंसत)	(१३६१)
२८९. वाजयन्तो रथा इव	द्र० मधुमत्तमा गिरः	(१३६२)
२९०. कण्वा इव	द्र० आयवः	(१३६३)
२९१. भृगवः सूर्या इव	द्र० आयवः	(१३६३)
२९२. ऋणया न	द्र० ईयसे	(१३६४)

२६३ सूर्यस्य इव रश्मयः	द्र० द्रावयित्नवः ईरते	(१३७०)
२६४. सुन्वताम् इव मधुमान्	द्र० पवमान सन्तनिः वारम् परि अर्षति	(१३७१)
२६५. अत्कं न	द्र० सोमः परि अव्यत	(१३७२)
२६६. मखं न भृगवः	द्र० अराधसं श्वानम् अप हत	(१३८६)
२६७. भुजे न पुत्र ओण्योः	द्र० जामिः अत्के आ अव्यत	(१३८७)
२६८. जारो न योषणाम्	द्र० योनिम् आसदम् सरत्	(१३८७)
२६६. वरो न योनिम्	द्र० आसदम् सरत्	(१३८७)
३००. वेधा न योनिम्	द्र० हरिः योनिम् आसदम् पवित्रे अव्यत	(१३८८)
३०१. पिता इव	द्र० हूयसे	(१३६०)
३०२. पूर्वपा इव		(१३६३)
३०३ अश्वं न	द्र० आ सोतं परि षिञ्चत	(१३६४)
३०४. मिता इव सदम पशुमन्ति	द्र० होता पर्येति	(१३६६)
३०५. वरुणो न सिन्धुः	द्र० रत्नधाः वार्याणि वि दयते	(१४०८)
३०६. भागम् इव	द्र० राधः ईमहे	(१४१२)
३०७. मही इव	द्र० कृत्तिः शरणा ते इन्द्र	(१४१२)
३०८. अत्यो न	द्र० द्रोणं वाजी ननक्षे	(१४१८)
३०६. मातृभिः न शिशुः	द्र० वावशानः वृषा अद्भिः दधन्वे	(१४१६)
३१०. मर्यो न योषाम्	द्र० निष्कृतम् अभि यन् कलशे उस्रियाभिः सं गच्छते	(१४१६)
३११. मूर्धानं गावः न पयसा	द्र० चमूषु अभि श्रीणन्ति वसुभिः निक्तैः	(१४२०)
३१२. जमदग्निवत्		(१४२८)
३१३. घर्मं न	द्र सूर्यं दिवि आ रोहयः	(१४३१)
३१४. महः पात्रस्य इव	द्र० मदः ते	(१४३२)
३१५. पात्रं न शोचिषा	द्र० दस्युम् ओषः	(१४३४)
३१६. प्रत्नवत्		(१४३६)
३१७. उरुधारा इव	द्र० स इन्द्रः दोहते	(१४५२)
३१८. पिता पुत्रेभ्यो यथा	द्र० इन्द्र क्रतुं न आभर	(१४५६)
३१६. रथो न	द्र० स ईम् भूरिषाट्	(१४७२)
३२०. शर्धो न मारुतम्		(१४७३)
३२१. यथा विट्	द्र० पवस्व अनभिशस्ता दिव्या	(१४७३)
३२२. आपो न	द्र० सुमतिः भव	(१४७३)
३२३. पृतनाषाट् न		(१४७३)
३२४. वत्सासो न मातृभिः	द्र० ते सं जानत स्वम् ओक्यम्	(१४८१)

३२५. दिवो न वारम्	द्र० सविता व्यूर्णुते	(१४६५)
३२६. यूथे न निष्ठा वृषभः	द्र० मज्मना निष्ठाः अभि विराजसि	(१४६६)
३२७. सिन्धोरूर्मा उपाक आ	द्र० चित्रभानो विभक्तासि	(१४६८)
३२८. सूर्य इव	द्र० अहम् अजनि	(१५००)
३२६. कण्ववत्		(१५०१)
३३०. उत्सं न	द्र० श्रवसा कचित् अभि–अभि ततर्दिथ	(१५०६)
३३१. शर्याभिः न भरमाणः	द्र० गभस्त्योः जलपानम् ततर्दिथ	(१५०७)
३३२. मेधसातौ इव	द्र० अग्निं त्मना धीभिः नमस्यत	(१५१६)
३३३. सप्तिमाशुम् इव आजिषु	द्र० अग्निं हिन्वन्तु नो धियः	(१५२७)
३३४. अश्वो न	द्र० देववाहनः अग्निः	(१५३६)
३३५. मित्रं न सर्पिरासुतिम्	द्र० यं जनासो हविष्मन्तः प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः	(१५६५)
३३६. सूर्य इव	द्र० उपदृक् भद्रा	(१५७२)
३३७. पूर्वथा	द्र० अद्या तमस्य महिमानम् आयवोऽनु ष्टुवन्ति	(१५७४)
३३८. मधोः न पात्रा प्रथमानि	द्र० अस्मै अग्नये प्रथमानि स्तोमा प्रयन्तु	(१५८३)
३३६. अश्वं न रथ्यम्	द्र० देवयवः गीर्भिः मर्मृज्यन्ते	(१५८४)
३४०. सूरो न	द्र० सयुग्वभिः	(१५६०)
३४१. परावतो न साम	द्र० तद्	(१५६२)
३४२. नृवत्		(१५६३)
३४३. कपोत इव गर्भधिम्	द्र० अयमु ते समतसि	(१५६६)
३४४. पावकवर्णाः	द्र० विपश्चितः	(१६०७)
३४५. सखा इव सख्ये	द्र० रुचे भव	(१६१२)
३४६. मही न धारात्यन्धो अर्षति	द्र० विपश्चिते पवमानाय गायत	(१६१५)
३४७. अहिर्न जूर्णाम् अति सर्पति त्वचम्	द्र० वृषा हरिः असरत्	(१६१५)
३४८. अत्यो न	द्र० क्रीडन्	(१६१५)
३४६. यूथा इव वंसगः	द्र० ओजसा वृषा कृष्टीः इयर्ति	(१६२२)
३५०. आपो न निम्नम्	द्र० इन्दवः यन्ति	(१६२६)
३५१. अश्वं न नमोभिः	द्र० वारवन्तम् अध्वराणां सम्राजं त्वा अग्निं वन्दध्यै	(१६३४)
३५२. शिशुं न मातरा	द्र० अनु ते शुष्मं तुरयन्तम् ईयतुः	(१६३८)
३५३. भारभृत् यथा	द्र० अग्ने महाधने नः मा परावर्क्	(१६५०)
३५४. समुद्राय इव सिन्धवः	द्र० अस्य मन्यवे विशः विश्वाः कृष्टयः सं नमन्त	(१६५१)

३५५. चर्म इव	द्र० इन्द्रः उभे रोदसी व्यवर्तयत्	(१६५३)
३५६. नि इव	द्र० शीर्षाणि मृढ्व मध्य आपस्य तिष्ठति	(१६५६)
३५७. समुद्रम् इव सिन्धवः	द्र० आ त्वा विशन्तु इन्दवः	(१६६०)
३५८. रेवान् इव विश्पतिः	द्र० अग्निः नः शृणोतु	(१६६५)
३५६. यद गवे न शाकिने शम्	द्र० तत् गाय	(१६६६)
३६०. दिवि इव आततं चक्षुः	द्र० तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः	(१६७२)
३६१. मधौ न मक्ष	द्र० ब्रह्मकृतः ते इमे सुते सचा आसते	(१६७६)
३६२. जनः न पुरि विशत्	द्र० चम्वोः आविशत्	(१६८६)
३६३. सप्तिः न	द्र० सः सोमः वाजयुः	(१६६०)
३६४. मृगो न	द्र० वारणः पुरुत्रा दाना	(१६६७)
३६५. छायाम् इव घृणेः	द्र० अग्ने वयं ते शर्म उप अगन्म	(१७०६)
३६६. हिरण्यसंदृशः		(१७०६)
३६७. उग्र इव	द्र० यः	(१७०७)
३६८. तिग्मशृङ्गः न	द्र० वंसगः	(१७०७)
३६६. मित्रमहः		(१७१३)
३७०. पाशिनः न	द्र० केचित् त्वा मा नियेमुः	(१७१८)
३७१. धन्व इव	द्र० तान् अति इत् इहि	(१७१८)
३७२. आ मन्द्रैः इन्द्र हरिभिः याहि मयूररोमभिः		(१७१८)
३७३. गम्भीरान् उदधीन् इव		(१७२०)
३७४. क्रतुं पुष्यसि गा इव		(१७२०)
३७५. प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा		(१७२०)
३७६. ह्रदं कुल्या इवाशत		(१७२०)
३७७. यथा गौरः अपा कृतं तृष्यन् एति अव इरिणम्	द्र० नः सचा आपित्वे प्रपित्वे तूयम् आ गहि	(१७२१)
३७८. अश्व इव चित्रा	द्र० उषाः	(१७२६)
३७६. वाजिनीवति	द्र० उषः	(१७३१)
३८०. वाजिनीवति	द्र० उषः	(१७३३)
३८१. हिरण्यवत्	द्र० रथः (म)	(१७३४)
३८२. हिरण्यवर्तनी		(१७३५)
३८३. यथा चिन्नः अबोधयः	द्र० उषः नः अद्य बोधय	(१७४०)
३८४. आयतीं धेनुं प्रति इव	द्र० उषासं प्रति जनानां समिधा अग्निः अबोधि	(१७४६)

३८५. यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः द्र० प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ (१७४६)
३८६. यथा प्रसूता सवितुः सवाय द्र० एवा रात्री उषसे योनिम् आरैक् (१७४६)
३८७. निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः द्र० प्रति गावोऽरुषीः यन्ति मातरः (१७५५)
३८८. पूर्वथा (१७५६)
३८९. अपसः न द्र० नारीः विष्टिभिः अर्चन्ति (१७५७)
३९०. दिवो न वृष्टयः द्र० ते धाराः सहस्रिणं वाजं प्रयन्ति (१७६१)
३९१. इभः इव द्र० सः सुव्रतः (१७६३)
३९२. राजा इव द्र० सः सुव्रतः (१७६३)
३९३. श्येनो न द्र० वंसु षीदति (१७६३)
३९४. गिरो न द्र० त्वाम् इत् यन्ति (१७६६)
३९५. विस्रुतयो यथा पथा द्र० यन्तु इन्द्र! रातयः त्वत् (१७७०)
३९६. आ त्वा रथं यथोतये (१७७१)
३९७. नभन्यो न द्र० अर्वा (१७७४)
३९८. सूरो न द्र० रुरुक्वान् (१७७४)
३९९. अश्वं न द्र० स्तोमम् (१७७७)
४००. क्रतुं न द्र० भद्रम् (१७७७)
४०१. स्वः न द्र० ज्योतिः (१७७९)
४०२. प्रातः होता इव द्र० इन्द्रः आ मत्सति (१७८७)
४०३. त्वावतः (१८०४)
४०४. इरां न धूनुते वृकः द्र० अत्रा वि नेमिरेषाम् (१८०८)
४०५. वाजयन्तो रथा इव द्र० असृग्रन् देववीतये (१८१२)
४०६. विप्रं न जातवेदसम् द्र० मन्ये (१८१३)
४०७. परिज्मानम् इव द्र० त्वा हुवेम (१८१४)
४०८. पुत्रो मातरा विचरन् (१८१७)
४०९. महिषी इव द्र० अग्निः वि जायते (१८२५)
४१०. यथा त्वम् ईशीय वस्व एक इत् द्र० यदिन्द्राहम् (१८३४)
४११. उशतीरिव मातरः द्र० इह भाजयत (१८३८)
४१२. स्वः न द्र० गन्धर्वः (१८४७)
४१३. वृषभो न भीमः द्र० इन्द्रः (१८४९)
४१४. तमसा अपव्रतेन यथा द्र० तां गहत (१८६०)
४१५. कुमारा विशिखा इव द्र०यत्र वाणाः सं पतन्ति (१८६६)
४१६. अशीर्षाणः अहयः इव द्र० अमित्राः भवत (१८७१)
४१७. मृगो न भीमः द्र० इन्द्रः (१८७३)

चतुर्थ अध्याय

(अथर्ववेद संहिता)

अथर्ववेद में इव, न, यथा, सम, वत्, रूप, अथ, आ आदि उपमावाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस वेद में उपमावाचक पदों के अन्तर्गत **'इव'** शब्द का प्रयोग ज्यादा हुआ है। ३६७ मन्त्रों में **'इव'** शब्द का प्रयोग हुआ है और बहुत–से मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें एक से अधिक बार भी **'इव'** शब्द देखा जाता है। ४३ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें दो बार और चार मन्त्र ऐसे हैं जिनमें तीन बार **'इव'** शब्द का प्रयोग हुआ है। ११० मन्त्रो में **'यथा'** शब्द और ६० मन्त्रों में **'न'** का उपमावाचक के रूप में प्रयोग हुआ है। सात मन्त्रों में दो बार और एक मन्त्र में तीन बार **'न'** शब्द उपमावाचक रूप में आया है। प्रत्यक्ष रूप में **'वत्'** शब्द भी उपमावाचक रूप में गृहीत है। अथर्ववेद में चार मन्त्र ऐसे हैं जिनमें **'वत्'** का प्रयोग देखा जाता है। एक मन्त्र में तो यह दो बार आया है। **सम, रूप, अथ, आ**-आदि शब्दों का प्रयोग प्रायशः एक–एक मन्त्रों में ही देखा जाता है।

१. गां क्षीरिणीम् इव (७–५२–६)
२. धनुः स्नाव्नेव (७–५२–६)
३. अग्निः इव मन्यो त्विषितः (४–३१–२)
४. अग्निः इव एतु प्रतिकूलम् (५–१४–१३)
५. अनुकूलम् इव उदकम् (५–१४–१३)
६. सुखो रथ इव वर्तताम् (५–१४–१३)
७. अग्नेरिवास्य दहतः (७–४७–१)
८. एतामेतस्येर्ष्यामुद्गाग्निमिव शमय (७–४७–१)
६. अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण (६–२०–१)
१०. उतेव मत्तो विलपन्नपायति (६–२०–१)
११. ज्योतिषा इव अभिदीपयन् (४–१६–३)
१२. आपो मलम् इव (२–७–१)
१३. श्येन इव (५–३०–६)
१४. जनयः यथा पतिम् (२०–१७–१)
१५. शुन्ध्युं मर्यं न (२०–१७–१)

१६. अविंवृकों यथा मथत् (७–५२–५)
१७. अविं वृक इव मथ्नीत (५–८–४)
१८. मित्र इव (१६–४६–२)
१६. अत्रिवत् (२–३२–३, ५–२३–१०)
२०. कण्ववत् (२–३२–३, ५–२३–१०)
२१. जमदग्निवत् (२–३२–३, ५–२३–१०)
२२. समये न धीरः (३–३५–३)
२३. दृतेः ऊष्माणम् इव (६–१८–३)
२४. भ्राजन्तो अग्नयो यथा (१३–२–१८/२०–४७–१५)
२५. आपो निम्नेव (२०–१५–२)
२६. पर्वते न समशीत (२०–१५–२)
२७. उदेव यन्त उदभिः (२०–१००–१)
२८. निष्कम् इव (१६–५७–५)
२६. शिशुं न मातरा (२०–१०५–२)
३०. लिबुजेव वृक्षम् (१८–१–१६)
३१. गर्दभीव (१०–१–१४)
३२. सुपर्णो वसतेरिव (६–८३–१)
३३. तायवो यथा (१३–२–१७/२०–४७–१४)
३४. वत्सं संशिश्वरीः इव (२०–६२–८)
३५. इन्द्र इवेन्द्रियाणि (१–३५–३)
३६. पृथिवीव देवी (६–४–२)
३७. अपामूर्मिमदन्निव (२०–२८–४/२०–३६–५)
३८. अजिरायते (२०–२८–४/२०–३६–५)
३६. व्रततेः इव गुष्पितम् (७–६५–१)
४०. पुराणवत् (७–६५–१)
४१. वृक्षात् इव स्रजम् (८–६–२६)
४२. धेनुम् इव आयतीम् उषासं प्रति (१३–२–४६)
४३. यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते (१३–२–४६)
४४. वत्सं गौः इव (३–१८–६)
४५. पथा वारिव (३–१८–६)
४६. अश्वम् इव अश्वाभिधान्या (४–३६–१०)
४७. गाम् उक्षणम् इव रज्ज्वा (३–११–८)
४८. वत्सं न धेनवः (२–४८–१)

४६. नडा इव केशा वर्धन्ताम्		(६–१३७–२)
५०. दुहिता इव पितरं स्वम्		(१०–१–२५)
५१. अदुग्धा इव धेनव		(२०–१२१–१)
५२. ताजदभङ्ग इव भज्यन्ताम्		(८–८–३)
५३. अभ्रातर इव जामयः		(१–१७–१)
५४. रथीव		(७–६४–१)
५५. कपोत इव गर्भधिम्		(२०–४५–१)
५६. जनीरिव अभि संवृतः		(२०–५–१)
५७. अनस्वती वाहिनी इव अभि याहि		(१०–१–१५)
५८. इन्द्रो दस्यून् इव असुरान् वि बाधताम्		(१०–३–११)
५६. इषीकाम् इव		(७–५८–४)
६०. अग्निरिव अच्छोचयन्		(५–२२–२)
६१. वृत्रस्य इव शचीपतिः		(६–१३४–१)
६२. समुद्र इव पप्रथे		(२०–१०४–२)
६३. उदप्लुतं दारु इव		(१०–४–४)
६४. उर्वारुकम् इव बन्धनात्		(१४–१–१७)
६५. इषुमस्तेव		(१६–३४–३)
६६. पिता इव नः शृणुहि		(२०–८–२)
६७. अवक्रक्षिणं वृषभं यथा		(२०–८५–२)
६८. अजुरं गां न		(२०–८५–२)
६६. ज्याम् इव धन्वनो मन्यु अवतनोमि		(६–४२–१)
७०. यथा समनसो भूत्वा सखायौ इव		(६–४२–१)
७१. उदप्लुतं दारु इव		(१०–४–३)
७२. मुष्काबर्हो गवाम् इव		(३–६–२)
७३. अश्व इव रजः दुधुवे		(१२–१–५७)
७४. सिन्धुम् आपो यथा		(२०–२५–१)
७५. असदन् गावः सदने	(लुप्तोपमा)	(७–१०१–१)
७६. अपप्तद् वसतिं वयः	(लुप्तोपमा)	(७–१०१–१)
७७. आस्थाने पर्वता अस्थुः	(लुप्तोपमा)	(७–१०१–१)
७८. स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम्	(लुप्तोपमा)	(७–१०१–१)
७६. अन्तः कोशम् इव जामयः		(१–१४–४)
८०. ज्याम् इव धन्वनः		(५–१३–६)
८१. रथाम् इव		(५–१३–६)

८२ अस्तेव (२०–८६–१)
८३. भूषन्निव (२०–८६–१)
८४. प्रयो न (२०–३५–१)
८५. ऋचीषमाय (धर्मलुप्ता) (२०–३५–१)
८६. प्रय इव (२०–३५–२)
८७. गौर्न पर्व (२०–३५–१२)
८८. सप्तिम् इव (२०–३५–५)
८९. रथं न तष्टेव तात्सिनाय (२०–३५–८)
९०. गाः न व्राणा अमुञ्चत् (२०–३५–१०)
९१. व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ (लुप्तोपमा) (१९–४६–५)
९२. घर्म दुघे इव धेनू (४–२२–४)
९३. वाश्राः इव धेनवः (२–५–६)
९४. अहं सूर्य इव अजनि (२०–११५–१)
९५. वात इव (४–३०–८)
९६. कण्ववत् (२०–११५–२)
९७. श्येनौ संपातिनौ इव (७–७३–३)
९८. बाण इवेषुधिम् (३–२३–२)
९९. वृक्षम् इव अशन्या (७–११४–४)
१००. आपो न देवीः (२०–२५–२)
१०१. विततं यथा रजः (२०–२५–२)
१०२. जोषयन्ते वरा इव (२०–२५–२)
१०३. आपो न सिन्धुम् (२०–१७–७)
१०४. कुल्या इव ह्रदम् (२०–१७–७)
१०५. यवं न वृष्टिः (२०–१७–७)
१०६. स्तर्यो न गावः (२०–१२–४)
१०७. वायुर्न नियुतः (२०–१२–४)
१०८. वृषभो न भीमः (१९–१३–३)
१०९. मयूररोमभिः (लुप्तोपमा) (७–१२२–१)
११०. विं न पाशिनः (७–१२२–१)
१११. अति धन्वेव (७–१२२–१)
११२. वयो न वृक्षम् (६–२–२)
११३. शस्ता पंरूषि इव (६–३–३)
११४. इन्द्राणी इव सुबुधा (१४–२–३१)
११५. पितेव पुत्रान् (२–१३–१)

११६. यथा हिरण्यं तेजसा	(१६–२६–३)
११७. यूथेव क्षुमति पश्वः	(१८–३–२३)
११८. तम इव अप हन्मसि	(६–२–१२)
११६. पृदाकूः इव चर्मणा	(५–१८–३)
१२०. राजाश्वः पृष्ट्याम् इव	(६–१०२–२)
१२१. रेष्मच्छिन्नं यथा तृणम्	(६–१०२–२)
१२२. यमे इव	(१८–३–३८)
१२३. माता पुत्रं यथा सिचा	(१८–२–५०)
१२४. जाया पतिम् इव वाससा	(१८–२–५१)
१२५. वृश्चामि तं कुलिशेन इव वृक्षम्	(२–१२–३)
१२६. वृष्टिरिव वर्धय	(६–५४–१)
१२७. नदी फेनम् इव	(१–८–१)
१२८. पिता पुत्रेभ्यो यथा	(२०–७६–१, १८–३–६७)
१२६. नव्यो न पृणस्व	(२–५–२)
१३०. दिवो न	(२–५–२)
१३१. दिवे न सूर्यः	(२०–६२–१७, २०–१०५–५)
१३२. यतीः न जघान	(२–५–३)
१३३. भृगुः न बलं बिभेद	(२–५–३)
१३४. करेण इव	(२०–६१–६)
१३५. बाहुच्युता पृथिवी द्याम् इव	(१८–३–२५)
१३६. कक्ष्या अश्वा इव	(८–४–६)
१३७. नृपती इव	(८–४–६)
१३८. चरुः अग्निमाँ इव	(८–४–२)
१३६. दृषदा खल्वाँ इव	(२–३१–१)
१४०. परशुः यथा वनम्	(८–४–२१)
१४१. पात्रेव भिन्दन्	(८–४–२१)
१४२. माता इव	(३–२८–५)
१४३. वृष्टे शापं नदीः इव	(३–२४–३)
१४४. रथम् इव	(२०–१३–३)
१४५. इषुः इव दिग्धा	(५–१८–१५)
१४६. पृदाकूः इव	(५–१८–१५)
१४७. मृगम् इव गृह्णातु	(५–१४–१२)
१४८. सरो गौरो यथा पिब	(२०–२२–३, २०–६२–१)

१४६. चक्रवाकेव दंपती (१४–२–६४)
१५०. शकेव पुष्यत (३–१४–४)
१५१. आर्त्नी इव ज्यया (१–१–३)
१५२. पर्वत इव अविचाचलत् (६–८७–२)
१५३. इन्द्र इव (६–८७–२)
१५४. रथैः इव (७–५२–३)
१५५. सिंहः इव तंग्तनीहि (५–२०–१)
१५६. अत्यो न वाजम् (२०–३१–५)
१५७. नडम् इव छिन्धि (४–१६–१)
१५८. अनड्वान् जगताम् इव (१७–३६–४)
१५६. व्याघ्रः श्वपदाम् इव (१७–३६–४)
१६०. उदप्रुतो न वयः (२०–१६–१)
१६१. अभ्रियस्य इव घोषाः (२०–१६–१)
१६२. गिरिभ्रजो न ऊर्मयः (२०–१६–१)
१६३. कन्या इव तुन्ना (६–२२–३)
१६४. पत्या इव जाया तुन्दाना (६–२२–३)
१६५. गृध्रौ द्याम् इव उत्पेततुः (७–१००–१)
१६६. गावौ श्रान्तसदौ इव (७–१००–१)
१६७. कर्कुरौ इव कूजन्तौ (७–१००–२)
१६८. उदवन्तौ वृकौ इव (७–१००–२)
१६६. धनं न जिग्युषः (२०–५६–३)
१७०. जार आ भगम् (१८–१–२३)
१७१. वाजयन्तो रथा इव (२०–१०–१/२०–५६–१)
१७२. एणिः इव (५–१४–११)
१७३. मृगी इव (५–१४–११)
१७४. गौः इव (८–६–१७)
१७५. वृक इव अविम् (६–३७–१)
१७६. अश्वः इव विवर्तताम् (१०–१–१६)
१७७. वत्सः मातरौ इव (१३–२–१३)
१७८. उलूकयातुम् (लुप्तमालोपमा) (८–४–२२)
१७६. शुशुलूकयातुम् (लुप्तमालोपमा) (८–४–२२)
१८०. श्वयातुम् (लुप्तमालोपमा) (८–४–२२)
१८१. कोकयातुम् (लुप्तमालोपमा) (८–४–२२)
१८२. सुपर्णयातुम् (लुप्तमालोपमा) (८–४–२२)

१८३. गृध्रयातुम् (लुप्तमालोपमा) (८–४–२२)
१८४. इन्द्र इव दस्यून् (१६–४६–२)
१८५. खिले गा विष्ठिता इव (७–१२०–४)
१८६. समुद्रं न (लुप्तोपमा) (४–८–७)
१८७. व्याघ्रम् (लुप्तोपमा) (४–८–७)
१८८. सिंहम् (लुप्तोपमा) (४–८–७)
१८९. द्वीपिनम् (लुप्तोपमा) (४–८–७)
१९०. गिरिः न (२०–६४–१)
१९१. पक्वा शाखा न (२०–६–४/२०–७१–४)
१९२. अश्मा भवतु ते तनूः (लुप्तोपमा) (२–१३–४)
१९३. चर्मेव रोदसी (२०–१०७–२)
१९४. उर्वरीरिव साधुया (१०–४–२१)
१९५. अर्वतीरिव (१०–४–२१)
१९६. ऋणादृणम् इव संनय कृत्याम् (१६–४५–६)
१९७. पदा क्षुम्पम् इव स्फुरत् (२०–६३–५)
१९८. कण्वा इव (२०–१०–२/२०–५६–२)
१९९. भृगवः इव (२०–१०–२/२०–५६–२)
२००. सूर्या इव (२०–१०–२/२०–५६–२)
२०१. सूर्यम् इव सर्पन्तम् (४–२०–७)
२०२. शम्बीव नावम् (६–२–६)
२०३. यवमन्तो यवं यथा दान्ति (२०–१२५–२)
२०४. कृतं न श्वघ्नी (२०–१७–५)
२०५. सुखो रथः इव वर्तताम् (५–१४–५)
२०६. प्रेष्यन् जनम् इव शेवधिम् (५–२२–१४)
२०७. गिरा वज्रो न संभृतः (२०–४७–३)
२०८. अग्निः इव अनुदहन् (२–२५–४)
२०९. घर्म इव अभितपन् (१६–२८–३)
२१०. इन्द्र इव विरुजं बलम् (१६–२८–३)
२११. सविता इव तिष्ठासि (१६–४५–४)
२१२. माता पुत्रम् इव पिपृत (५–२६–५)
२१३. धेनुः इव सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहाम् (१२–१–४५)
२१४. अश्मानं तन्वं कृधि (वाचकलुप्तोपमा) (१–२–२)
२१५. अथर्ववत् यातुधानान् (८–३–२१)

२१६. दिवीव चक्षुः (७–२७–७)
२१७. गवे न (२०–७८–१)
२१८. नावं भिन्नाम् इव उदकम् (५–१६–८)
२१६. दिवीव ज्योतिः (६–६२–३)
२२०. गोमताम् इव (४–३६–६)
२२१. श्वानः सिंहम् इव (४–३६–६)
२२२. इन्द्रः सालवृकान् इव (२–२७–५)
२२३. पिता इव पुत्रेभ्यः (१०–६–५)
२२४. जातं जात्रीर्यथा हृदा (२०–४८–२)
२२५. माता इव पुत्रम् (२–२८–१)
२२६. छिन्ना नौः इव बन्धनात् (३–६–७)
२२७. छिन्ना नौः इव बन्धनात् (६–२–१२)
२२८. रात्रीव (६–३–१७)
२२६. हस्तिनीव पद्वती (६–३–१७)
२३०. वृषभस्य वशेव (७–११८–२)
२३१. अश्वः इव कायम् (१६–५७–४)
२३२. अश्वः इव नीनाहम् (१६–५७–४)
२३३. अश्वः इव अनुवपते नडम् (१२–२–५०)
२३४. सिंहम् इव नानदतम् (२०–६१–६)
२३५. वत्सं न स्वसरेषु धेनवः (२०–६–१)
२३६. तिष्ठते अश्वाय घासम् इव (१६–५५–६)
२३७. सूरो न (१८–४–५६)
२३८. अग्निरूपाः नरः (४–३१–१)
२३६. सूर्याम् इव (१४–१–५३)
२४०. इरेव धन्वनि (५–१३–१)
२४१. सूर्य इव (१६–३३–५)
२४२. दाना मृगो न वारणः (२०–५३–२/२०–५७–१२)
२४३. दिवि न केतुः (२०–३०–४)
२४४. हरितो न रंह्या (२०–३०–४)
२४५. श्रान्ता वधूरिव (४–२०–३)
२४६. उदाशवो रथा इव (३–६–५)
२४७. सूर्या इव नारि विश्वरूपा महित्वा (१४–२–३२)
२४८. नडा इव केशा वर्धन्ताम् (६–१३७–३)

२४९. घर्मः इवाभीन्त्संतापयन् (१६–२८–२)
२५०. नावेव नः द्विषः अति पारय (४–३३–७)
२५१. द्रुपदात् इव (६–११५–३)
२५२. मलात् इव (६–११५–३)
२५३. पवित्रेण इव आज्यम् (६–११५–३)
२५४. ध्रुवा द्यौः (लुप्तमालोपमा) (६–८८–१)
२५५. ध्रुवा पृथिवी (लुप्तमालोपमा) (६–८८–१)
२५६. ध्रुवं विश्वम् इदं जगत् (लुप्तमालोपमा) (६–८८–१)
२५७. ध्रुवासः पर्वताः (लुप्तमालोपमा) (६–८८–१)
२५८. जायेव पत्ये (१८–१–८)
२५९. रथ्येव चक्रा (१८–१–८)
२६०. रथ्येव चक्रा (१८–१–९)
२६१. राजा इव दस्म नि षदः (२०–१७–२)
२६२. वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः (१–२७–३)
२६३. अग्निः प्रियतनोरिव (५–१८–६)
२६४. अपचितां वाका इव नश्यन्तु (६–२५–१,२,३)
२६५. अण्डात् पतत्रीव (१४–२–४४)
२६६. गौः इव (६–४६–१)
२६७. मुष्करं यथा (६–१४–२)
२६८. बन्धनं मूलमुर्वावा इव (६–१४–२)
२६९. आशुङ्गः शिशुको यथा (६–१४–३)
२७०. इट इव हायनः (६–१४–३)
२७१. अग्निः इव (५–१८–४)
२७२. (यथा) न्यक् वातो वाति (लुप्तोपमा) (६–६१–२)
२७३. (यथा) न्यक् तपति सूर्यः (लुप्तोपमा) (६–६१–२)
२७४. (यथा) नीचीनम् अघ्न्या दुहे (लुप्तोपमा) (६–६१–२)
२७५. ससताम् इव (२०–२१–१)
२७६. ग्रामम् इव अचितम् (४–७–५)
२७७. तिष्ठा वृक्ष इव (४–७–५)
२७८. ह्रदम् अग्निः इव (६–३७–२)
२७९. दिवो वृक्षम् इव (६–३७–२)
२८०. परिद्याम् इव सूर्यः (६–१२–१)
२८१. रात्री जगत् इव (६–१२–१)

२८२. वाचम् इव वक्तरि (२–१–४)
२८३. आशुः गाष्ठाम् इव (२–१४–६)
२८४. शर इव भज्यन्ताम् (८–८–४)
२८५. विद्धस्य इव पदं नयः (१०–१–२६)
२८६. पिता इव पुत्रान् अभि संस्वजस्व (१२–३–१२)
२८७. पुत्रम् इव पितरौ (२०–१२५–५)
२८८. पुत्र इव पितरम् (५–१४–१०)
२८९. स्वज इव (५–१४–१०)
२९०. बन्धम् इव अवक्रामी (५–१४–१०)
२९१. संमातर इव दुहाम् (८–७–२७)
२९२. मृगो न भीमः (७–२७–२)
२९३. वर्त्रं वेशन्त्या इव (१–३–७)
२९४. समुद्रस्य उदधेः इव (१–३–८)
२९५. घृतं न (२०–३०–१)
२९६. हरिवर्पसम् (रूपोपमा) (२०–३०–१)
२९७. विष्णुः इव प्रति तिष्ठ (१४–२–१५)
२९८. अपाम् इव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधः (२०–१५–१)
२९९. खर्गला इव (८–४–१७)
३००. मर्यः इव योषाः (१८–४–६०)
३०१. अनड्वाहौ व्रजम् इव (७–५५–५)
३०२. अनड्वाहौ व्रजम् इव (३–११–५)
३०३. जातम् अग्निम् इव (८–२–४)
३०४. सूरः अर्थं न (२०–७६–५)
३०५. कामं जनिधा इव (२०–७६–५)
३०६. कक्ष्या इव युक्तम् (१८–१–१५)
३०७. लिबुजा इव वृक्षम् (१८–१–१५)
३०८. माता इव पुत्रेभ्यः (६–३०–३)
३१९. वृक्षात् इव स्रजम् (१–१४–१)
३१०. महाबुध्न इव पर्वतः (१–१४–१)
३११. चमसो न विष्टः (१६–४६–८)
३१२. त्वं दिव्या न क्षाममुक्थाः (१६–४६–८)
३१३. उद्यन् त्वचम् इव भूम्याः (१६–२८–४)
३१४. वत्सं न मातरः (२०–२३–५)

३१५. दिवि द्याम् इव (६–६६–३)
३१६. हिरण्यस्य इव संदृशि (१२–१–१८)
३१७. वधूम् इव (६–३–२४)
३१८. निष्ट्या इव (२०–११६–१)
३२६. अरणा इव (२०–११६–१)
३२०. वनानि न (२०–११६–१)
३२१. अशीर्षाण इव अहयः (६–६७–२)
३२२. मेष इव (६–४६–२)
३२३. ब्रह्मा इव (२०–६०–३)
३२४. मृगो न भीमः (७–८६–३)
३२५. अनाशस्ता इव स्मसि (२०–७४–१)
३२६. समुद्र इव संपिबः (६–१३५–२)
३२७. समुद्र इव संगिरः (६–१३५–३)
३२८. बृहस्पतिः इव (६–३–२)
३३६. शल्य इव कुल्मलम् (२–३०–३)
३३०. यथा कलाम् (६–४६–३/१६–५७–१)
३३१. यथा शफम् (६–४६–३/१६–५७–१)
३३२. यथा ऋणम् (६–४६–३/१६–५७–१)
३३३. यथा आखरः मघवन् चारुः (२–३६–४)
३३४. यथा अग्रे त्वं वनस्पते (१६–३१–६)
३३५. यथा चक्रुः देवासुराः (६–१४१–३)
३३६. यथा मनुष्याः उत (६–१४१–३)
३३७. यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त (६–२–१८)
३३८. यथा इन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे (६–२–१८)
३३६. यथा यशः चन्द्रमसि (१०.३.१८)
३४०. यथा यशः आदित्ये (१०.३.१८)
३४१. यथा यशः पृथिव्याम् (१०.३.१६)
३४२. यथा जातवेदसि (१०.३.१६)
३४३. यथा यशः कन्यायाम् (१०.३.२०)
३४४. यथा संभृते रथे (१०.३.२०)
३४५. यथा यशो ऽग्निहोत्रे (१०.३.२२)
३४६. यथा यशः वषट्कारे (१०.३.२२)
३४७. यथा यशो यजमाने (१०.३.२३)

३४८. यथा यज्ञेऽस्मिन् (१०.३.२३)
३४९. यथा यशः प्रजापतौ (१०.३.२४)
३५०. यथा अस्मिन् परमेष्ठिनि (१०.३.२४)
३५१. यथा देवेषु अमृतम् (१०.३.२५)
३५२. यथैषु सत्यमाहितम् (१०.३.२५)
३५३. यथा द्यां च पृथिवीं च (१–२–४)
३५४. यथा द्यौश्च पृथिवी च (२–१५–१)
३५५. यथा नडं कशिपुने (६–१३८–५)
३५६. यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे (७–७०–२)
३५७. यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां (७–७०–२)
३५८. यथा प्रधिः (७–७०–३)
३५९. यथा उपधिः (७–७०–३)
३६०. यथा नभ्यं प्रधावधि (७–७०–३)
३६१. यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां (७–७०–३)
३६२. यथा बाणः सुशंसितः परापतति आशुमत् (६–१०५–२)
३६३. यथा अहः (२०.१५.२–६)
३६४. यथा रात्री (२०.१५.२–६)
३६५. यथा सूर्यः (२०.१५.२–६)
३६६. यथा चन्द्रः (२०.१५.२–६)
३६७. यथा ब्रह्मम् (२०.१५.२–६)
३६८. यथा क्षत्रम् (२०.१५.२–६)
३६९. यथा सत्यम् (२०.१५.२–६)
३७०. यथा अनृतम् (२०.१५.२–६)
३७१. यथा भूतं च भव्यं च (२०.१५.२–६)
३७२. यथा बीजम् उर्वरायाम् (१०–६–३३)
३७३. यथा भूमिर्मृतमना (६–१८–२)
३७४. यथा मम्रुषो मनः (६–१८–२)
३७५. यथा मनो मनस्केतैः परापतति आशुमत् (६–१०५–१)
३७६. यथा मांसं (६–७०–१)
३७७. यथा सुरा (६–७०–१)
३७८. यथा अक्षा (६–७०–१)
३७९. यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां (६–७०–१)
३८०. यथा मधु मधुकृतः (६–१–१६)

३८१. यथा मक्षा इद मधु (६–१–१७)
३८२. यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः (५–२१–४)
३८३. यथा अयं वाहो अश्विना समैति (६–१०२–१)
३८४. यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् (१०–३–१४)
३८५. यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुम् (१०–१–१३)
३८६. यथा अन्तरिक्षात् अभ्रम् (१०–१–१३)
३८७. यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः (१०–३–१५)
३८८. यथा वातः (१–११–६)
३८९. यथा मनः (१–११–६)
३९०. यथा पतन्ति पक्षिणः (१–११–६)
३९१. यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्ति ओजसा (१०–३–१३)
३९२. यथा वृकात् अजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः (५–२१–५)
३९३. यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते (५–२१–६)
३९४. अहर्दिवि सिंहस्य स्तनयोर्यथा (५–२१–६)
३९५. यथा वृक्षम् अशनिः (७–५२–१)
३९६. यथा वृक्षं लिबुजा (६–८–१)
३९७. यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ (६–८५–३)
३९८. यथा शाम्याकः प्रपतन्नपवान् (१९–५०–४)
३९९. यथा अश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन् (३–६–६)
४००. यथा सत्यं चानृतं च (२–१५–५)
४०१. यथा सिन्धुर्नदीनाम् (१४–१–४३)
४०२. यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् (६–८–२)
४०३. यथा सूर्यो नक्षत्राणाम् (७–१४–१)
४०४. यथा सूर्यो मुच्यते तमसः परि (१०–१–३२)
४०५. (यथा) सूर्यः रात्रिं जहाति (१०–१–३२)
४०६. (यथा) सूर्यः उषसः केतून् जहाति (१०–१–३२)
४०७. हस्तीव रजो दुरितं जहामि (१०–१–३२)
४०८. यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्ति आशुमत् (६–१०५–३)
४०९. यथा सूर्यो अतिभाति (१०–३–१७)
४१०. यथा अस्मिन् तेज आहितम् (१०–३–१७)
४११. यथा सोमः प्रातः सवने (६–१–११)
४१२. यथा सोमः द्वितीये सवने (६–१–१२)
४१३. यथा सोमस्तृतीये सवने (६–१–१३)

४१४. यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां.कृतः (६–१५–३)
४१५. तलाशा वृक्षाणाम् इव अहम् भूयासम् (६–१५–३)
४१६. यथा इन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् (६–५८–२)
४१७. यथाप ओषधीषु यशस्वतीः (६–५८–२)
४१८. यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति (१२–२–२५)
४१९. यथा ऋतवः ऋतुभिः साकं यन्ति (१२–२–२५)
४२०. यथा पूर्वम् अपरो न जहाति (१२–२–२५)
४२१. यथा इमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः (६–८–३)
४२२. यथा इदं पृथिवी मही भूतानां गर्भम् आदधे (५–२५–२)
४२३. यथा इयं पृथिवी मही भूतानां गर्भम् आदधे (६–१७–१)
४२४. यथा इयं पृथिवी मही दाधार इमान् वनस्पतीन् (६–१७–२)
४२५. यथा इयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् (६–१७–३)
४२६. यथा इयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् (६–१७–४)
४२७. यथा इदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति (२–३०–१)
४२८. यथा इषुका परापतत् अवसृष्टाधि धन्वनः (१–३–६)
४२९. यथोदकमपपुषो ऽपशुष्यति आस्यम् (६–१३६–४)
४३०. वृत्रस्य इव शचीपतिः (६–१३५–१)
४३१. द्रुपदात् इव मुञ्चताम् (६–११५–२)
४३२. यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् (२०–२७–१)
४३३. अश्वम् इव अश्वाभिधान्या (५–१४–६)
४३४. यदि जालेन अभिहिताः इव तमसावृता स्थ (१०–१–३०)
४३५. समुद्रस्य इव स्रोत्याः (१–३२–३)
४३६. परिक्रामन् सूर्यः छायाम् इव अनीनशत् (८–६–८)
४३७. रथस्य इव ऋभुः धिया (१०–१–८)
४३८. वृषभो न भीमः (२०–३७–१)
४३९. समुद्रे अपाम् अवो न (२०–४४–२)
४४०. उग्रो मध्यमशीरिव (४–६–४)
४४१. यथा इदं हर्म्यं तथा (४–५–५)
४४२. इन्द्र इव देवेषु (६–४–११)
४४३. सः अर्यः पुष्टीः विज इव आ मिनाति (२०–३४–५)
४४४. समुद्रः इव (२०–७१–३)
४४५. आपो न (२०–७१–३)
४४६. सासहान इव ऋषभः (३–६–४)

४४७. अग्निः गर्भः इव आशये (६–३–२१)
४४८. वन्दना इव वृक्षम् (७–१२०–२)
४४६. वहतौ वधूम् इव (१०–१–१)
४५०. उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे (७–१४–२)
४५१. क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने (८–६–११)
४५२. देवा इव असुरमायया (३–६–४)
४५३. शुनां कपिः इव (३–६–४)
४५४. श्वघ्नीव (२०–३४–४)
४५५. रथान् इव (२०–६३–६)
४५६. हस्तिनं मशका इव (४–३६–६)
४५७. अल्पशयून् इव (४–३६–६)
४५८. स्नुषेव श्वसुरद् (८–६–२४)
४५६. वातो अभ्रम् इव (८–६–१६)
४६०. वत्सो धारुरिव मातरम् (५–१८–५)
४६१. शुने पेष्ट्रम् इव (६–३७–३)
४६२. विद्युता वृक्ष इव (७–६१–१)
४६३. आप इव काशिना (८–४–८)
४६४. महीव द्यौः (६–६–३)
४६५. पिता इव यः तविषीं वावृधे (२०–७३–६)
४६६. उशतीः इव मातरः (१–५–२)
४६७. तिष्ठते अश्वाय घासम् इव (१६–५५–१)
४६८. अप्लवा इव अरातयः रात्रिं न तरेयुः (१६–५०–३)
४६६. रिश्यस्य इव (५–१४–३)
४७०. निष्कम् इव (५–१४–३)
४७१. आपो न (२०–५७–१४)
४७२. वयो न वृक्षम् (२०–१७–४)
४७३. वात इव वृक्षान् (१०–१–१७)
४७४. शरम् इव (४–७–४)
४७५. चरुम् इव (४–७–४)
४७६. स्तुकाम् इव (७–७८–२)
४७७. स्तनयन् इव द्यौः (२०–६१–५)
४७८. मृगा अश्वा इव ईरते (१६–३८–२)
४७६. अश्वाय इव तिष्ठते (३–१५–८)

४८०. पर्षणिं नावं न (२०—७२—१)
४८१. इन्द्रं न चितयन्तः (२०—७२—१)
४८२. परिपदाम् इव (२०—६६—३)
४८३. वृषण्यन्तीव कन्यला (५—५—३)
४८४. वृषभो न तिग्मशृङ्गः (२०—१२६—१५)
४८५. वृषा न क्रुद्धः पतयद् (२०—१७—८)
४८६. नभसा न तन्यतुः (५—१३—३)
४८७. तमस इव ज्योतिः (५—१३—३)
४८८. वृषा यूथेव वंसगः (२०—७०—१४)
४८६. वरुणो यथा धिया (१८—१—१८)
४६०. समुद्रस्य उदधेः इव (१—३—८)
४६१. वृषा इव यूथे सहसा (५—२०—३)
४६२. अश्वो न देववाहनः (२०—१०२—२)
४६३. शतानीका इव (२०—५१—२)
४६४. गिरेः रसाः इव (२०—५१—२)
४६५. भुज्मा गिरिः न (२०—५१—४)
४६६. अबन्धः कोशः इव (२०—१६—७)
४६७. वाग्वीव मन्त्रम् (५—२०—११)
४६८. शारिशाकेव पुष्यत (३—१४—५)
४६६. जाया पत्या नुत्तेव (१०—१—३)
५००. वातं धूम इव (६—८६—२)
५०१. श्वेव एकः (४—३७—११)
५०२. कपिः इव (४—३७—११)
५०३. प्रियो दृश इव (४—३७—११)
५०४. योन्या इव प्रच्युतः (६—१२१—४)
५०५. सखायौ इव सचावहौ (६—४२—२)
५०६. यवसेव रावः (१८—१—२२)
५०७. देवा इव अमृतं रक्षमाणाः (३—३०—७)
५०८. उरुधारा इव दोहते (१०—७—३)
५०६. धनपालो धनेव (१६—३५—२)
५१०. सिन्धुम् इव नावा (४—३३—८)
५११. सा वृक्षाणाम् इव अहं भूयासम् (६—१५—२)
५१२. दधिक्रावा इव (३—१६—६)

५१३. रथम् इव अश्वाः (३–१६–६)
५१४ अरा नाभिम् इव अभितः (३–३०–६)
५१५. समुद्राय इवं सिन्धवः (२०–१०७–१)
५१६. अंशुः इव आप्यायताम् अयम् (५–२६–१२)
५१७. अक्षान् इव श्वघ्नी (४–१६–५)
५१८. शकुनेरिव वृश्चामि (२–५५–२)
५१६. गावौ श्रान्तसदौ इव (७–१००–२)
५२०. कर्कुरौ इव कूजन्तौ (७–१००–२)
५२१ उदवन्तौ वृकौ इव (७–१००–२)
५२२. वत्सं जातम् इव अघ्न्या (३–३०–१)
५२३. व्याघ्रः (८–५–१२)
५२४. सिंहः भवति (लुप्तोपमा) (८–५–१२)
५२५. वृषा (८–५–१२)
५२६. सिंहप्रतीकः (४–२२–७)
५२७. व्याघ्रप्रतीकः (लुप्तोपमा) (४–२२–७)
५२८. सिंहस्य इव स्तनथोः संविजन्ते (८–७–१५)
५२६. अग्नेः इव विजन्ते (८–७–१५)
५३०. सिंह इव (५–२०–२)
५३१. ऋषभ इव (५–२०–२)
५३२. सूर्म्यं सुषिराम् इव (२०–६२–६)
५३३. स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः (२०–३१–४)
५३४. सुदुघाम् इव गोदुहे (२०–५७–१/२०–६८–१)
५३५. मर्यः न योषाम् (२०–१०७–१५)
५३६. सो चित् नु वृष्टिः (२०–७३–५)
५३७. वातो यथा वनम् (२०–७३–५)
५३८. सोमस्य अंशुः इव (५–२६–१३)
५३६. ब्राह्मणा व्रतचारिणः (लुप्तोपमा) (४–१५–१३)
५४०. पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् (१०–४–१६)
५४१. स्तेगो न क्षाम् (१८–१–३६)
५४२. अग्निर्वने न (१८–१–३६)
५४३. राजा इव जोषसे (१६–४६–६)
५४४. इन्द्रः इव अरिष्टः अक्षितः (४–५–७)
५४५. भूयासं मधुसंदृशः (१–३४–१)

५४६. इन्द्र स्वब्दीव वंसगः (२०–५२–२/२०–५७–१५)
५४७. पथ्या सूरिः इव (१८–३–३६)
५४८. क्षुल्लका इव क्रिमयः (२०–३२–५/५–२३–१२)
५४६. दृषदा खल्वाँ इव (५–२३–८)
५५०. हरी दिव्यं यथा सदः (२०–३०–२)
५५१. हरिभिः न धेनवः (२०–३०–२)
५५२. हंसैः इव वावदद्भिः (२०–६१–३)
५५३. कुलपाः न (७–७५–२)
५५४. श्रायन्त इव सूर्यम् (२०–५८–१)
५५५. भागं न दीधिम (२०–५८–१)
५५६. अंशून् इव ग्रावाधिषवणे (५–२०–१०)
५५७. गिरिं न पुरुभोजसम् (२०–६–२/२०–४६–५)
५५८. सेक्तेव कोशम् (२०–८–३)
५५६. क्षोणीः इव (२०–१५–४)
५६०. माता पुत्रं यथा (१८–३–५०)
५६१. यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः (१०–३–१५)
५६२. समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती (४–१८–१)
५६३. पिता पुत्रं (इव) प्रविवेश (११–४–२०)
५६४. महत्रृषभस्य नदतः (वाचकलुप्तोपमा) (४–१५–१)

उपसंहृतिः

इस प्रकार वेदों में यथासामर्थ्य और यथामति हमारे द्वारा एकत्रित उपमाओं का संकलन एवं विवेचन यहाँ तक पूरा हुआ है। इन सब उपमाओं का अध्ययन करने से उपमा के माहात्म्य में अप्पयदीक्षित और राजशेखर आदि काव्यशास्त्रियों के द्वारा उदीरित वचनों की सम्पुष्टि होती है।[1] भावों की अभिव्यक्ति में उपमा और उपमेय की अवस्थिति अनिवार्य है। विश्व के प्राचीनतम काव्यग्रंथ वेदों में उपमा शैलूषी के समान विभिन्न अर्थों को पाठक के मनोमुकुर में प्रतिबिम्बित करती है। अलंकार शिरोरत्नभूत उपमा मंत्र के कथ्य को पाठक के सम्मुख इस प्रकार प्रकट करती है जैसे कोई जादूगर अपने हाथों में ही विविध वस्तुएं हवा में दिखाता रहता है। ऐसे उपमा अलंकार का अध्ययन मादृश अल्पज्ञ क्या कर सकता है? परन्तु गुरुजनों के आशीर्वाद से संसार में हमेशा असम्भव कार्य सम्भव होते रहे हैं। इसी के परिणामस्वरूप यह एक अणुकार्य है।

प्रस्तुत कोश पूर्व और उत्तर दो भागों में विभक्त है। पूर्वभाग के अन्तर्गत इस कोश का **प्रथम अध्याय 'उपमा अलंकार के उद्‌भव और विकास'** पर आधारित है। जिसमें अलंकार–स्वरूप एवं भेद, उपमालंकार–व्युत्पत्ति एवं महत्त्व आदि को स्पष्ट करने के साथ उपमा के उद्‌भव एवं क्रमिक विकास को सोदाहरण दर्शाया गया है। इसमें वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्रभाष्य, गार्ग्य, यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि, भरतमुनि, मेधाविरुद्र, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, दण्डी, भामह, उद्‌भट, वामन, रुद्रट, अग्निपुराण, कुन्तक, भोज, मम्मट, रुय्यक, वाग्भट (१), हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानन्द, वाग्भट (२), विश्वनाथ, केशव मिश्र, अप्पयदीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ तक हुए क्रमिक उपमा–विकास को दर्शाया गया है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने उपमा को अर्थालंकारों में सर्वश्रेष्ठ–स्थान प्रदान करते हुए इसकी परिभाषा में सादृश्य, साम्य एवं साधर्म्य इन तीनों में से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है। कतिपय आलंकारिकों ने इन तीनों के अतिरिक्त गुणलेश, उपमानोपमेय और उपमा के अन्य अलंकारों से विभेद के सूचक शब्दों में से किसी एक का या किन्हीं दो का प्रयोग किया है। इस अध्याय के अन्त में इन सभी परिभाषाओं की समीक्षा की गयी है।

वैदिक उपमा के स्वरूप का विवेचन इस कोश के आगामी **दूसरे अध्याय में है।** इस के अंतर्गत–

(१) वेदों में उपमा शब्द

(२) वेदों में सादृश्य वाचक शब्द

(३) वेदों में वाचक पद–चयन का नियम, एवं

(४) 'न' निपात की सादृश्य के अतिरिक्त अर्थवत्ता

आदि उपविषयों का वर्णन किया गया है। यद्यपि वेदों में 'उपम' या 'उपमा' पद अथवा उसके समान अन्य पद अनेक प्रकार के प्रसंगों में अनेक प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हैं तो भी निर्वचन की दृष्टि से तो उनका मूल अर्थ समीप में स्थापन करना या समीप में स्थापित करके देखना ही है। वेदों में इव, न, चित्, नु, था, आ, वा, मेष, रूप, वर्ण, वत्, सदृश, सम और समान आदि ये उपमा वाचक शब्द प्रमुख रूप से प्रयुक्त हैं। एक साथ पठित दो उपमावाची निपातों में एक निरर्थक है जैसा कि ऋग्वेद ८–४६–६ में 'इव'। ऐसा सायणाचार्य का अभिमत है।

इसी अध्याय के अन्तर्गत **वैदिक उपमा भेदों** का भी वर्णन है। भावों में प्रवृत्त वेदर्षियों ने अपने हृदय गत भावों को विस्तार के साथ व्यक्त करने के लिए अलंकारों में सर्वश्रेष्ठ अलंकार उपमा का आश्रय लिया। तभी इस प्रकार वेदों में अनेक प्रकार की उपमाएँ दृग्गोचर होती हैं।

वेदों की उपमाएँ सर्वथा स्वाभाविक हैं, न तो वे कृत्रिम हैं और न टेढी–मेढी हैं। वैदिक उपमाओं की प्रकृति तीन प्रकार की निर्णीत की जाती है–(१) निदर्शनात्मिका (२) अलङ्करणात्मिका और (३) भावनात्मिका। इन्हें पूर्व प्रस्तुत उपमाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

वेदों में समस्तवस्तुविषया साङ्गा, एकदेशवर्तीसाङ्गा, निरङ्गा, वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा, लुप्ता और माला अनेक भेद उपमा के दिखाई पड़ते हैं। किन्तु वैदिक उपमानों को विविध वर्गों में विभाजन का यह अभिप्राय नहीं है कि वैदिक ऋषियों ने लौकिक कवियों के समान आसक्तिपूर्वक उपमा को विभिन्न भेदों और उपभेदों में बाँटा है। ये अनेक वाचोयुक्तिवैशिष्ट्य किंवा वचन–विच्छेद उनके दीर्घ साँस लेने के समान ही हैं।

प्रायशः वैदिक उपमाएँ 'श्रौती' हैं, 'आर्थी' नही। अर्थात् वहाँ वाचकत्व से 'न' 'इव' और 'यथा' आदि निपात शब्द ही अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं। 'तुल्य' और 'सदृश' आदि विशेषण शब्द तो अल्प ही प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु जब 'तुल्य' के अर्थ में अकेले 'वत्' का प्रयोग नहीं होता है तब 'आर्थी' उपमा होती है।

वैदिक उपमा की संरचना के प्रसङ्ग में हम देखते हैं कि वहाँ उपमेय, उपमान, वाचकपद और साधारण धर्म ये चारों ही तत्त्व उसमें सन्निहित हैं। किन्तु जब कहीं साधारण धर्म का उच्चारण नहीं होता है तो तब 'धर्मलुप्ता' उपमा होती

है। वेदों में अन्य लुप्ता उपमाएँ कम ही हैं।

वेदों में उपमेय और उपमान में लिङ्ग, कारक और वचन आदि का वैपरीत्य अधिकतर दृष्टिगोचर होता है। वहाँ वहुत से स्थलों पर उपमाओं में केवल उपमान ही युक्त है, विशेषण पद उपमेय से सर्वथा असम्बद्ध दिखाई पडता है। किन्तु केवल उपमान से युक्त भी इन विशेषण पदों से उपमा का सौन्दर्य निश्चय ही निर्मलता को प्राप्त होता है।

किन्तु वैदिक उपमाओं के विविध वर्गों में विभाजन का यह अभिप्राय नहीं है कि वेद के ऋषियो ने लौकिक कवियों की तरह उपमा को विभिन्न भेदोपभेदों में विभक्त किया है। ये नानाभणितिभङ्गी उपमाएं तो उनके समुच्छ्वास रूप हैं, जो कि विभिन्न देवताओं के स्वरूप प्रतिपादन में अथवा, किसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में जहां महर्षि भावातिरेक की स्थिति में आ गये वहां उनके मुख से प्रकारान्तर से स्वतन्त्ररूप में प्रस्फुटित हो गयी हैं।

तृतीय अध्याय वैदिक उपमानों से सम्बन्धित है। इसमें वैदिक उपमाओं में प्रयुक्त विभिन्न उपमानों की मीमांसा है। ऐसे उपमानों में सूर्य आदि देवताओं को जहॉ आधार बनाया गया है वहीं पुराणेतिहास से सम्बद्ध उपमान भी लिये गये हैं। वेदों में मानव जीवन से भी उपमान लिये गये हैं। ऐसे उपमानों में प्रमुख रूप से आठ प्रकार के निम्न उपमानों को हमने वेदों में ढूंढा है–

(१) उपमान रूप में प्रयुक्त मनुष्य की अवस्थाएँ।

(२) उपमान रूप में प्रयुक्त मानव के अंग।

(३) नर–सामान्य का उपमानत्व और नारी का उपमानत्व।

(४) मानवों के पारस्परिक सम्बन्ध से सम्बद्ध उपमान।

(५) उपमान रूप में प्रयुक्त विविध समाजवर्ग।

(६) उपमान रूप में, गृहीत गृह और गृह–वस्तुएँ।

(७) उपमानभूत यंत्र और पात्र, तथा

(८) उपमानभूत क्रीडाएँ और अन्य मनोरंजन के साधन।

इसी अध्याय में आगे निम्नलिखित पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत प्रयुक्त उपमानों का वर्णन है:–

(१) यज्ञ–सम्बन्धी उपमान।

(२) उपमानभूत पशु और पक्षी।

(३) युद्ध–सम्बन्धी उपमान।

(४) उपमानभूत प्राकृतिक पदार्थ, एवं

(५) विविध उपमान।

वैदिक ऋषियों की अनुभूति का दायरा अत्यन्त विस्तृत और विविधता–पूर्ण रहा है। नित्य ही प्रकृति की गोद में खेलने वाले उन ऋषियों का प्रकृति के साथ कोई निश्छल सम्बन्ध और कोई विलक्षण तादात्म्य (प्रकृति की अभिन्नता) हुआ है। प्रकृति के विभिन्न रूपों में उन्होंने विविध देवताओ की परिकल्पना की। उनकी जीवन–दृष्टि निःसन्देह बड़ी उदार थी। कोई भी वस्तु उनके लिए उपेक्षा का विषय नहीं बनी। इसीलिए उनके कल्पना–लोक की देवता के रूप में सम्भावित, चेतनीकृत प्राकृतिक शक्तियों का और विभिन्न प्राकृतिक पदार्थो का, पशुओ का और पक्षियों का, मनुष्यों का और उसके शरीर के सम्पूर्ण अवयवों का, अनेक प्रकार के पात्र, अस्त्र और यन्त्रों का, तथा विनोदपूर्ण क्रीड़ा–केलियों का, गृहों का और गृह की वस्तुओं का, एवं मानव के मन की विविध दशा का और समाज के वर्गों का उन्मुक्त सचरण था। वैदिक कवि इन सभी क्षेत्रों से यथोचित उपमानों का संचयन करता है। यह उपमान–चयन वैदिक ऋषि की अनुभूति का और अभिव्यक्ति की शक्ति का सुन्दर निदर्शन है। वहाँ उपमान और उपमेय का बहुत ही विलक्षण सादृश्य दिखाई पडता है। जैसे कि–दीप्तिमत्ता के लिए सूर्य और अग्नि, विस्तार के लिए आकाश, वर्धनशीलता और कम्पनत्व के लिए समुद्र, पवित्रता के लिए जल, अनायास टपकने के भाव (क्षरणत्व) के लिए वर्षा की धारा, संचलनशीलता के लिए वात (मरुत), दुर्लंघनीयता के लिए पर्वत तथा इसी प्रकार के अनेक उपमान प्रकृति से लिये गये हैं। उसी प्रकार साधारणतया पक्षी और विशेषतः श्येन (बाज) अपने उड़ने के वेग के कारण उपमानत्व को प्राप्त हुए हैं। पंक्तिबद्धता, सुन्दरचाल और मधुरता के लिए हंसों को उपमान बनाया गया है। अपनी गति की विशेषता और परस्पर एक–दूसरे के प्रति अनन्य प्रीति के कारण चकवा–चकवी के जोडे ने उपमानत्व को प्राप्त किया है। इसी प्रकार प्रेम–प्रदर्शन के लिए कबूतर, लोभीपन के लिए गिद्ध, पुरानी त्वचा छोड़ने के लिए साँप। धागा, रस्सी, डोर और तार आदि को काटने के लिए चूहा अथवा चूहिया को उपमान बनाया। अधिक क्या, कुछ उपमाएँ तो अतीव रमणीय एवं विशिष्ट छटा छिटकाने वाली हैं। जैसे कि–गर्भ और शिशु को उपमान रूप में ग्रहण करते हुए चित्र तो निश्चय ही विचित्र कलात्मक हैं। नर के उपमानत्व में वे ही भाव मुख्यतः ग्रहण किये गये हैं, जो कि नारी की कोमलता, कमनीयता और लुभावना पन के अभिव्यंजक हैं। जैसे कि–"जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियों में गर्भ रहता है, उसी के सदृश यह अग्नि अरणि के टुकड़ों में अथवा यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के लिए लकड़ी की दो समिधाओं में निहित है।" इसी प्रकार–इन्द्र की इच्छा से आकाश और पृथ्वी, सोम को वैसे ही अपने अन्दर धारण करते हैं जैसे माता गर्भ को धारण करती

है। मरुद्गण फैलाई हुई पृथ्वी में पानी को उसी प्रकार रखते हैं, जिस प्रकार पति, पत्नी में गर्भ स्थापित करता है। दो अरणियों ने नवीन सन्तति के समान अग्नि को उत्पन्न किया। मरुद्गण बच्चों के समान सुन्दर और खिलाड़ी हैं। वह सोम नवजात शिशु के समान वन में क्रन्दन करता है। ये सभी उपमाएँ बचपन की महिमा का वर्णन करने से अत्यधिक रमणीय और आकर्षक हैं।

यौवन के चित्र भी बडे ही मनोहर हैं। मानव–जीवन से लिये गये उपमान, केवल वैदिक आर्यों के जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवन का चित्रण ही नहीं करते हैं, अपितु इनसे चिपका हुआ जो चित्र उभरकर सामने आता है, वह वैदिक आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और सांस्कृतिक इतिहास को भी यथावत्, उचित रूप से आविष्कृत करता है। इन उपमानों से यह भी अनुमान सम्यक् रूप से लगाया जा सकता है कि वैदिक आर्यों का कौटुम्बिक जीवन अत्यन्त उन्नत और विविधता–पूर्ण था।

वैदिक उपमानों में प्रयुक्त उपयुक्त विशेषण पद, वर्णनात्मक वाक्यांश, समृद्ध शब्द–भाण्डार और उसी वस्तु के अनेक नाम वैदिक ऋषि की अनुभूति की गम्भीरता, अभिव्यक्ति की प्रबलता और चिन्तन की सम्पन्नता को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं।

प्रस्तुत कोष के उत्तरार्द्ध में उपमावाचक शब्दों के आधार पर जहाँ उपमाओं का संकलन है वहीं कहीं–कहीं लुप्तोपमाओं को भी इसमें लिया गया है। हम यह तो दावा नहीं करते कि हमने जो संकलन किया है वही अंतिम है। मानुष स्वभाव दोष के कारण कुछ छूट गयी होंगी पुनरपि हमने यथाशक्ति यह प्रयास किया है कि कोई भी उपमा, विशेषकर वाचक शब्दों के आधार पर छूट न जाये।

इस उत्तरभाग का **प्रथम अध्याय** ऋग्वेद संहिता से सम्बन्धित है। इसमें वाचक शब्द **'इव'** द्वारा वर्णित ७७६ उपमाओं का संकलन है। जिसमें अग्नि, सोम, इन्द्र, अदिति–आदित्य, मित्र–मित्रावरुणौ, उषा, आयुर्वेद, मरुत् आदि देवों से सम्बन्धित उपमाएं हैं। इसके साथ ही इसमें वाचक शब्द **'न'** द्वारा वर्णित अग्नि, इन्द्र, सोम, मरुत्, अश्विनौ, आयुर्वेद, रुद्र, उषा, पूषा, विष्णु देवताओं से सम्बन्धी १०६७ उपमाओं का भी संकलन है।

इसमें **'वत्'** द्वारा इन्द्र, सोम, मरुत्, अश्विनौ, आयुर्वेद, उषा, मित्र, अग्नि, विश्वेदेवाः देवों की उपमाएं भी संकलित हैं एवं **'यथा'** द्वारा अग्नि, सोम मरुत् और अश्विनौ देवता की उपमाओं को भी लिया गया है।

उपर्युक्त इङ्गित वाचक शब्दों से अतिरिक्त **चित्, आ, नु, था, वर्ण, रूप** आदि शब्दों द्वारा वर्णित उपमाओं को भी एकत्रित किया गया है। जिनमें **'चित्'** ऋग्वेद में ७८६ बार आया है और १५ स्थलों पर उपमावाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

द्वितीय अध्याय 'यजुर्वेद संहिता' पर आधारित है। इसमें ३२६ उपमाओं का पृथक्-पृथक् वाचक शब्दों के आधार-पर वर्णन न होकर अपितु, उत्तरोत्तर अध्यायों में यथोपलब्ध उपमाओं का संकलन है। इसी प्रकार **'सामवेद संहिता'** से सम्बन्धित **तृतीय अध्याय** में पृथक्-पृथक् वाचक शब्दों के आधार पर संकलन न होकर एक साथ ही है। इसमें ४१७ उपमाओं की प्रविष्टियाँ हैं, जो कि आग्नेय काण्ड, ऐन्द्र काण्ड, पावमान काण्ड, महानाम्न्यार्चिक, उत्तरार्चिक शीर्षको के अन्तर्गत प्रदर्शित हैं। सामवेदीय मन्त्रों का विभाजन प्रायः आर्चिक, अध्याय, खण्ड और मन्त्र के अनुसार है। हमने यहां सुविधा की दृष्टि से इनको न दिखाते हुये केवल मन्त्र संख्या ही सन्दर्भ-ज्ञान के लिये दी है। **चतुर्थ अध्याय 'अथर्ववेद संहिता'** की उपमाओं पर आधारित है। इसमें ५६४ उपमाओं की प्रविष्टियॉ हैं। इस अध्याय में जहां वाचक शब्दों के आधार पर उपमाऐं दी गयी हैं वहीं लुप्तोपमाओं का भी संकलन किया गया है। अथर्ववेद में इव, न, यथा, रूप, अथ, आ आदि उपमावाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस वेद में उपमावाचक पदों के अन्तर्गत 'इव' शब्द का प्रयोग ज्यादा हुआ है और बहुत से मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें एक से अधिक वार भी 'इव' शब्द देखा जाता है। ४३ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें दो बार, चार मन्त्र ऐसे हैं जिनमें तीन बार 'इव' शब्द का प्रयोग हुआ है। ११० मन्त्रों में 'यथा' शब्द और ६० मन्त्रों में 'न' का उपमावाचक के रूप में प्रयोग हुआ है। सात मन्त्रों में दो बार और एक मन्त्र में तीन बार 'न' शब्द उपमावाचक रूप में आया है। प्रत्यक्ष रूप में 'वत्' शब्द भी उपमावाचक रूप में गृहीत है। अथर्ववेद में चार मन्त्र ऐसे हैं जिनमें 'वत्' का प्रयोग देखा जाता है। एक मन्त्र में तो यह दो बार आया है। सम, रूप अथ आदि शब्दों का प्रयोग प्रायशः एक-एक मन्त्रों में ही देखा जाता है।

वैदिक संहिताओं का उपमा सौष्ठवानुसन्धान की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण स्थान है। इस कारण हमारे द्वारा वेदों में दृग्गोचर होने वाले उपमाओं के अपार पारावार का इस कोश के माध्यम से यह विवेचनात्मक एवं संकलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है। वस्तुतः वैदिक कवि की समुच्छ्वासरूप इन नानाभणितिभङ्गी उपमाओं को समझना बहुत ही परिश्रमसाध्यकार्य है। इसके लिए पर्याप्त तप और त्याग की आवश्यकता है।

—·—

संदर्भित ग्रन्थ-सूची

(BIBLIOGRAPHY)

अप्पयदीक्षित	१) चित्रमीमांसा	(बम्बई, निर्णयसागर प्रेस, १६४१)
	२) कुवलयानन्द	(बम्बई, निर्णयसागर प्रेस, १६३७)
अभय विद्यालंकार	ब्राह्मण की गौ	(अरविन्द निकेतन चरथावल, मु. नगर, उ.प्र.)
ए. वेङ्कट सुब्बैया	कॉन्ट्रिब्यूशन्स टु दि इन्टरप्रिटेशन ऑफ द ऋग्वेद	
उद्भट	काव्यालंकार सार संग्रह	(पूना, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, १६२५)
उव्वट–महीधर	यजुर्वेद भाष्य	(वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवनं, १६६६)
कपिलदेव द्विवेदी	संस्कृत निबन्ध शतकम्	(विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी सं० २०३६ वि., द्वि. सं.)
कुन्तक	वक्रोक्ति जीवितम्	(वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, १६६७)
कृष्णकुमार धवन	उपनिषदों में काव्यतत्त्व	(होशिआरपुर, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सं०, १६७६)
केशव मिश्र	अलंकार शेखर	(वाराणसी, संस्कृत सीरिज ऑफिस, वि० १६८४)
क्षेमेन्द्र	औचित्य विचार चर्चा	(वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १६६४)
जयदेव	चन्द्रालोक	(वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, १६७०)
दयानन्द सरस्वती	१) ऋग्वेद भाष्य	(अजमेर, परोपकारिणी सभा)
	२) यजुर्वेद भाष्य	
दण्डी	काव्यादर्श	(काशी, श्री कमलमणि ग्रन्थमाला कार्यालय, वि० १६८८)
दिनेशचन्द्र शास्त्री	ऋग्वेद में उपमा (शो. प्र.)	(श्रीनगर, एच.एन.बी.गढ़वाल विश्वविद्यालय, २००१)

निगम शर्मा	**ऋग्वेद में काव्य-तत्त्व**	(दिल्ली, परिमल पब्लिकेशन्स, १९९८)
पण्डितराज जगन्नाथ	**रसगंगाधर**	(वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६९)
पतञ्जलि	**पातञ्जल महाभाष्य**	(बनारस, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, आफिस १९५४)
पाणिनि	(१) **अष्टाध्यायी**	(मद्रास, श्री बालमनोरमा प्रेस, १९३७)
	(२) **उणादिकोश**	(अजमेर, परोपकारिणी सभा)
पी०वी० कर्ण	**हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स**	(देहली, मोतीलाल बनारसीदास, १९६१)
प्रश्नोपनिषद एवं मुण्डकोपनिषद्	**शांकर भाष्य**	(वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, १९६४)
प्रह्लाद कुमार	**ऋग्वेदेऽलंकाराः**	(दिल्ली, प्रणव प्रतिष्ठान, १९७७)
ब्रह्ममित्र अवस्थी	**अलंकार कोष**	(दिल्ली, इन्दु प्रकाशन, १९८९)
ब्रह्मानन्द शर्मा	**संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास**	(वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९६४)
भरतमुनि	**नाट्यशास्त्रम्**	(वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, १९७०)
भामह	**काव्यालंकार**	(पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६२)
भोज	**सरस्वतीकण्ठाभरण**	(बम्बई, निर्णयसागर प्रेस, १९३४)
मम्मट	**काव्यप्रकाश**	(वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६०)
मातृदत्त त्रिवेदी	**अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन**	(होशिआरपुर, वि०वै०शो०सं०, १९७३)
मोनियर विलियम्स	**संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी**	(ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, १९५१)
यास्क	**निरुक्त**	(वाराणसी, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, १९६६)
	निरुक्त चन्द्रमणि कृत वेदार्थदीपक भाष्य	(आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला, दिल्ली–४०)
रुद्रदेव त्रिपाठी	**संस्कृत साहित्य में शब्दालंकार** (शोप्र)	(विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन)

आर०एन०दाण्डेकर	**वैदिक बिब्लियोग्राफी**	(पूना, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, १९७८)
रामनाथ वेदालंकार	**सामवेद भाष्य**	(साहिबाबाद, समर्पणानन्द शोध संस्थान, प्रथम संस्करण)
रामनाथ वेदालंकार	**वैदिक नारी**	(समर्पण शोध संस्थान, नई दिल्ली)
रमन पाल	**ऋग्वेद में लौकिक सामग्री**	(इण्डोविज़न प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, १९८८)
रुद्रट	**काव्यालंकर**	(वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९६६)
रुय्यक	**अलंकारसर्वस्व**	(वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, १९७१)
वामन शिवराम आप्टे	**संस्कृत-हिन्दी कोष**	(दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, १९६७)
वामन	**काव्यालंकार सूत्राणि**	(बम्बई, निर्णयसागर प्रेस, १९५३)
वाग्भट (प्रथम)	**काव्यानुशासन**	(बम्बई, काव्यमाला सीरिज, निर्णयसागर)
वाग्भट (द्वितीय)	**वाग्भटालंकार**	(वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, १९५७)
विद्याधर	**एकावली**	(दिल्ली, इन्दु प्रकाशन)
विद्यानाथ	**प्रतापरुद्रयशोभूषण**	(बम्बई, निर्णयसागर)
विश्वनाथ	**साहित्यदर्पण**	(वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, १९६६)
विश्वनाथ विद्यालंकार	**सामवेद भाष्य**	(दिल्ली, जनज्ञान प्रकाशन)
वी०वी०एस० स्वामी	**द हिस्ट्री एण्ड सिगनिफिकेन्स ऑफ उपमा**	(एनल्स भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, १९१९–२०, पृ० ८७–९८)
शंकराचार्य	**ब्रह्मसूत्रभाष्य**	(बम्बई, पाण्डुरंगजावजी, निर्णयसागर प्रेस, १९३८)
शौनक	**बृहद्देवता**	(चौखम्बा, १९६३)
श्री हर्ष	**रत्नावली**	(मेरठ, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार)
स्कन्दस्वामी	**निरुक्तभाष्य** (लक्ष्मणस्वरूप सम्पादित)	(लाहौर, पंजाब यूनिवर्सिटी प्रकाशन, १९२७)

सायणाचार्य	**शतपथ ब्राह्मण**	(बम्बई, मालिक "लम्बी-वेङ्कटेश्वर", स्टीम प्रेस, १६४०)
सायणाचार्य	**ऋग्वेद संहिता**	(पूना, वैदिक संशोधन मण्डल, १६६५)
सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर	**१) ऋग्वेद संहिता**	(औंध, स्वाध्याय मण्डल, १६४०)
	२) तैत्तिरीय संहिता	(पारड़ी, स्वाध्याय मण्डल)
	३) दैवत संहिता	(पारडी, स्वाध्याय मण्डल, १६४०)
	४) यजुर्वेद संहिता	(पारड़ी, स्वाध्याय मण्डल, १६५७, तृ. सं.)
	५) सामवेद संहिता	(पारडी, स्वाध्याय मण्डल, १६५६, तृ. सं.)
	६) अथर्ववेद संहिता	(पारडी, स्वाध्याय मण्डल, १६५७, तृ. सं.)
सूर्यकान्त	**वैदिक कोष**	(बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय)
सोमपाल	**अथर्ववेदे उपमालंकारः (शो. प्र.)**	(चण्डीगढ़, पंजाब विश्वविद्यालय)
हरिदामोदर वेलणकर	**१) सिमिलीज ऑफ वामदेवज** **२) सिमिलीज ऑफ द अत्रिज**	(जर्नल ऑफ बोम्बे ब्रान्च ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग १४ और १६, १६३८ और १६४०)
हेमचन्द्र	**काव्यानुशासन**	(बम्बई, श्री महावीर जैन विद्यालय)
हेमलता सिंह	**ऋग्वेद के अग्निसूक्तों की उपमाओं का अध्ययन**	(पटना, अनुपम प्रकाशन, १६८१)

परिशिष्ट 1

वेदों में उपमा अलंकार के विभिन्न भेद

प्रथम अध्याय में हम देख चुके हैं कि उपमा अलंकार का क्रमशः विकास हुआ है। भरत मुनि ने उपमा के 5 भेदों का वर्णन किया था। पण्डितराज जगन्नाथ तक आते-आते उपमा के 160 भेद हो गये।

भरतमुनि से पूर्व यास्क ने अपने निरुक्त में 12 उपमा प्रतिपादक वाक्यांशों एवं इव, यथा, वत्, न, चित्, नु, आ और धा- इन 8 उपमावाचक शब्दों का प्रयोग किया है तथा- (1) अधिक प्रसिद्ध गुण वाले उपमान से छोटे उपमेय की तुलना को अधिकोपमा, (2) छोटे उपमान के साथ बड़े उपमेय की उपमा को हीनोपमा, (3) इव द्वारा द्रव्य के सादृश्य-बोधन को द्रव्योपमा, (4) यथा द्वारा क्रिया के सादृश्य बोधन को कर्मोपमा, (5) प्राणी से की गई तुलना को भूतोपमा, (6) रूप के साथ की गई उपमा को रूपोपमा, (7) वर्ण के साथ की गई तुलना को वर्णोपमा, (8) वति प्रत्यय द्वारा क्रिया से भिन्न सिद्ध पदार्थों की उपमा को सिद्धोपमा और वाचक आदि पदों के लोप होने पर लुप्तोपमा को माना है।

विश्व वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण वेदों में उपमा-भेद अपने पूर्ण विकसित रूप में उपलब्ध नहीं होते, केवल कुछ ही उदाहरण मिलते हैं, जिन्हें इन विकसित भेदों का पूर्णरूप कहा जा सकता है। प्राप्त उपमा-भेद संख्या में 19 हैं। पूर्णोपमा के प्रमुख 6 भेदों में से 3 भेद, लुप्तोपमा के, 19 भेदों में से 15 भेद तथा मालोपमा को मिलाकर कुल 19 उपमा भेद उपलब्ध होते हैं।

"उपमान और उपमेय का उनमें भेद होने पर भी परस्पर साधारण धर्म से सम्बद्ध होना उपमा कहा जाता है।" इसके दो भेद हैं-पूर्णोपमा और लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा- "जहां उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द-उपमा के चारों अंग स्पष्टतया निर्दिष्ट रहा करते हैं वहां पूर्णोपमा होती है।" इसके 6 भेद हैं-

वेदों में उपर्युक्त भेदों में से केवल प्रथम, तृतीय और षष्ठ भेद के उदाहरण मिलते हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं-
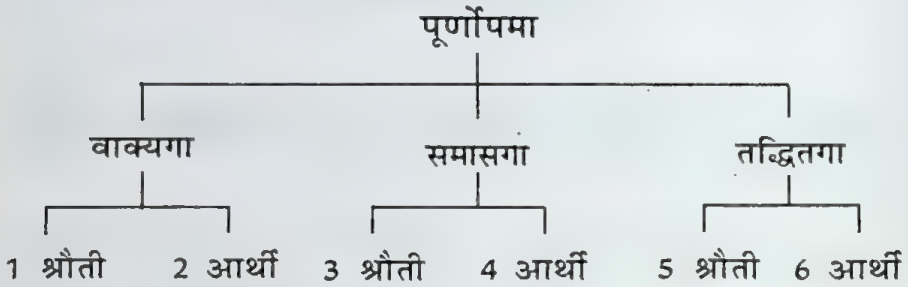
(1) वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा-

जहां यथा, इव, वा आदि शब्दों के द्वारा श्रुतिमात्र से ही उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होती है तथा उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द उपमा के ये चारों अंग स्पष्टतया असमस्त पद द्वारा प्रतिपाद्य होते हैं वहां वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा होती है।

ऋग्वेद के अग्निसूक्तों में ही 163 ऋचाओं में वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का प्रयोग हुआ है। [1] जैसे-

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।
सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ ऋ. 1.27.1

अर्थ- अयाल वाले सुन्दर अश्व के समान ज्वालाओं से प्रदीप्त अग्नि को नमस्कारों से सुपूजित करते हैं।

उपमान- *वारवन्तम् अश्वं*, ***उपमेय***-*अग्निं*, ***साधारण धर्म***- *सम्राजन्तं*, ***सादृश्यवाचक***- *न है। यास्क के अनुसार-यहां भूतोपमा और हीनोपमा है।*

रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति
(ऋ.1/58/3)

देखो, डॉ0 हेमलता सिंह, ऋग्वेद के अग्नि-सूक्तों की उपमाओं का अध्ययन, पृ0 103

अर्थ- अग्नि देव रथ के समान आयुजनों में अग्रगामी होकर सब लोगों में क्रम से स्वीकार करने योग्य धन लाता है।

उपमान- *रथः,* ***उपमेय***-*देव,* ***साधारण धर्म***- *विक्षु, ऋञ्जसानः वार्या विऋण्वति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। हीनोपमा है।*

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि॥

(ऋ.1/59/3)

अर्थ- जिस तरह सूर्य में स्थायी प्रकाश किरणें रहती हैं, उसी प्रकार वैश्वानर अग्नि में सभी धन रहते हैं।

उपमान- *सूर्ये ध्रुवासः रश्मयः,* ***उपमेय***-*वैश्वानरे अग्ना वसूनि,* ***साधारण धर्म***- *आ दधिरे,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

तं त्वा वयं पतिमग्ने रयीणां प्रशंसामो मतिभिर्गोतमासः।
आशुं न वाजंभरं मर्जयन्तः॥ (ऋ.1/60/5)

अर्थ- हे अग्ने अश्व के समान अन्नदाता तुम्हारी गौतम गोत्रोत्पन्न हम प्रशंसा करते हैं।

उपमान- *आशुं,* ***उपमेय***-*अग्ने तं त्वा,* ***साधारण धर्म***- *वाजंभरं,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुषर्भुत्॥

(ऋ. 1/65/9)

अर्थ - उषःकाल में जागने वाला, अपने कर्म से प्रजाओं को जगाने वाला (अग्नि) हंस के समान जल में बैठकर प्राण धारण करता है अर्थात- गति करता है।

उपमान- *हंसः* ***उपमेय***-*विशाम् चेतिष्ठः,* ***साधारण धर्म***- *अप्सु सीदन् श्वसिति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्॥

(ऋ. 1/66/9)

अर्थ- जिस प्रकार सूर्यास्त होने पर गौयें घर को जाती हैं, उसी प्रकार हम इस अग्नि को प्राप्त करते हैं।

उपमान- *गावः अस्तं,* ***उपमेय***-*वयं तं,* ***साधारण धर्म***- *नक्षन्ते,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै॥

(ऋ. 1/69/9)

अर्थ- उषा- प्रेमी सूर्य के समान प्रख्यात (अग्नि) इस मनुष्य को जाने।

उपमान- *उषः जारः,* ***उपमेय***-*संजातरूपः,* ***साधारण धर्म***- *विभावा,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

आदीं राज्ञे न सहीयसे सचा सन्ना दूत्यं भृगवाणो विवाय॥

(ऋ. 1/71/4)

अर्थ- जैसे मित्र बना राजा दूसरे प्रवल राजा के पास दूत भेजता है उसी प्रकार भृगुओं ने इस (अग्नि) को दूत वनाया है।

उपमान- *सहीयसे राज्ञे दूत्यं,* ***उपमेय***-*भृगवाणः,* ***साधारण धर्म***- *दूत्यं आ विवाय,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः॥

(ऋ. 1/71/7)

अर्थ- जिस प्रकार सात महान् नदियां बहती हुई समुद्र को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण अन्न अग्नि को प्राप्त होते हैं।

उपमान- *सप्त यह्वीः स्रवतः समुद्रं,* ***उपमेय***-*विश्वा पृक्षः अग्निं,* ***साधारण धर्म***- *अभि सचन्ते,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

मनो न योऽध्वनः सद्य एत्येकः सत्रा सूरो वस्व ईशे॥

(ऋ. 1/71/9)

अर्थ- मन के समान शीघ्रगामी जो अकेले ही दिव्य मार्ग से शीघ्र गमन करता है।

उपमान- *मनः,* ***उपमेय***-*यः,* ***साधारण धर्म***- *सद्य एति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

नभो न रूपं जरिमा मिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि॥

(ऋ. 1/71/10)

अर्थ- जैसे मेघ सूर्य की किरणों को ढक लेता है उसी प्रकार रूप को बुढ़ापा नष्ट कर देता है।

उपमान- *नभः,* ***उपमेय***-*जरिमा,* ***साधारण धर्म***- *रूपं मिनाति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

अधक्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अत्थीरजानन्॥

(ऋ. 1/72/10)

अर्थ - जिस प्रकार प्रेरित हुई नदियां फैलती हैं, उसी प्रकार अग्नि

का तेज सभी दिशाओं में फैलता है।

उपमान- सृष्टाः सिन्धवाः, **उपमेय**-*अग्नेः,* **साधारण धर्म**- *अध क्षरन्ति,* **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रंन जातवेदसम्।।

(ऋ. 1/127/1)

अर्थ - सम्पूर्ण उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने वाले अग्नि का वेदज्ञ ब्राह्मण के समान सम्मान करता हूं।

उपमान- *जातवेदसं विप्रं,* **उपमेय**-*अग्निं,* **साधारण धर्म**- *जातवेदसं,* **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

आदस्यायुर्ग्रभणवद् वीळु शर्म न सूनवे।

(ऋ. 1/127/5)

अर्थ- जैसे पिता पुत्र के लिए सुखकर गृह देता है, उसी प्रकार इस (अग्नि) के लिए हवि प्रदान करनी चाहिए।

उपमान- *सूनवे वीळु शर्म,* **उपमेय**-*अस्य आयुः,* **साधारण धर्म**- *ग्रभणवत्,* **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

महि स्तोतृभ्यो मघवन्त्सुवीर्य मथीरुग्रो न शवसा।।

(ऋ. 1/127/11)

अर्थ- हे ऐश्वर्यवान् (अग्ने!) वीर पुरुष के समान अपने बल से शत्रुओं को नष्ट कर दो।

उपमान- *उग्रः,* **उपमेय**-*मघवन्,* **साधारण धर्म**- *शवसा मथीः,* **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

न मानुषे वृजने शंतमो हितोऽग्निर्यज्ञेषु जेन्यो न विश्पतिः प्रियो यज्ञेषु विश्पतिः।।

(ऋ. 1/128/7)

अर्थ- वह अग्नि विजयी राजा की तरह यज्ञों में प्रजाओं का पालक और प्रिय है।

उपमान- *जेन्यः विश्पतिः,* **उपमेय**-*अग्निः,* **साधारण धर्म**- *प्रियः विश्पतिः,* **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

वि यदस्थाद् यजतो वातचोदितो ह्वारो वक्वा जरणा अनाकृतः।।

(ऋ. 1/141/7)

अर्थ- वायु द्वारा परिचालित यजनीय (अग्नि) ह्वार पक्षी के समान बहुत शब्द करने वाला है।

उपमान- *ह्वार:,* ***उपमेय***-*वातचोदित: यजत:,* ***साधारण धर्म***- *वक्वा,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

तं त्वा नु नव्यं सहशो युवन् वयं भगं न कारे महिरत्न धीमहि।।

(ऋ. 1/141/10)

अर्थ- हम सूर्य के समान उस (अग्नि) की स्तुति काल में स्तोत्रों से उपासना करते हैं।

उपमान- *भंग,* ***उपमेय***-*तं,* ***साधारण धर्म***- *कारे न धीमहि,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

अमी च ये मघवानो वयं च मिहं न सूरो अतिनिष्टतन्यु:।।

(ऋ. 1/141/13)

अर्थ- बादलों की गर्जना के समान ये, हम और सम्पत्तिवान पुरुष जोर-जोर से स्तुति करते हैं।

उपमान- *मिहं,* ***उपमेय***-*अमी च ये वयं च मघवान:,* ***साधारण धर्म***- *अतिनिष्टतन्यु:* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

य एको वस्वो वरुणो न राजति।।

(ऋ. 1/143/4)

अर्थ- जो (अग्नि) वरुण के समान सब धनों का स्वामी है।

उपमान- *वरुण:,* ***उपमेय***-*य:,* ***साधारण धर्म***- *वस्व: राजति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते।।

(ऋ. 1/143/7)

अर्थ- तुम्हारे लिए यज्ञ के निर्वाहक और घी से प्रदीप्त अग्नि को मित्र समान प्रज्वलित करके विभूषित किया जाता है।

उपमान- *मित्रं,* ***उपमेय***-*अग्निं,* ***साधारण धर्म***- *समिधान ऋञ्जते,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

नित्ये चिन्नु यं सदने जगृभ्रे प्रशस्तिभिदधिरे यज्ञियास:।
प्र सू नयन्त गृभयन्त इष्टावश्वासो न रथ्यो रारहाणा:।।

(ऋ. 1/148/3)

अर्थ- रथ में जुते शीघ्रगामी अश्व की तरह जिस (अग्नि) को

याजकगण यज्ञ में सुन्दरता से बढ़ाते हैं।

उपमान- *रारहाणा: रथ्य: अश्वास:*, **उपमेय**-*यं*, **साधारण धर्म**- *प्र सृ नयन्त*, **सादृश्यवाचक**-*न, है। भूतोपमा है।*

स यो वृषा नरां न रोदस्योः श्रवोभिरस्ति जीवपीत सर्गः॥

(ऋ. 1/149/2)

अर्थ- मनुष्यों में बलवान्, मनुष्य की तरह जो (अग्नि) द्युलोक एवं पृथ्वी लोक में अपने यश से विद्यमान है।

उपमान- *वृषा नरां*, **उपमेय**-*य:*, **साधारण धर्म**- *श्रवोभि: अस्ति*, **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

अग्निं देवासो मानुषीषु विक्षु प्रियं धुः क्षेष्यन्तो न मित्रम्॥

(ऋ. 2/4/3)

अर्थ- देवों ने सूर्य के समान हितकारी अग्नि को प्रजाओं में स्थापित किया है।

उपमान- *मित्रं*, **उपमेय**- *अग्निं*, **साधारण धर्म**- *प्रियं क्षेष्यन्त:*, **सादृश्यवाचक**- *न है। अधिकोपमा है।*

शिशुं न जातमभ्यारुरश्वा देवासो अग्निं जनिमन् वपुष्यन्॥

(ऋ. 3/1/4)

अर्थ- जैसे घोड़ी नवजात शिशु की ओर दौड़ती है, उसी प्रकार देवताओं ने अग्नि को उत्पन्न होते ही दीप्तिमान् किया।

उपमान- *अश्वा:, जातं, शिशुं*, **उपमेय**- *देवास:, जनिमन् अग्निम्*, **साधारण धर्म**- *वपुष्यन्*, **सादृश्यवाचक**- *न है। भूतोपमा है।*

क्रत्वा दक्षस्य तरुषो विधर्मणि देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभिः।
रुरुबानं भानुना ज्योतिषा महामत्यं न वाजं सनिष्यन्नुप ब्रुवे॥

(ऋ. 3/2/3)

अर्थ- अतिशय तेज से शोभित महान् अग्नि को अन्न से परिपूर्ण करने वाले अश्व के समान स्तुति करता हूं।

उपमान- *अत्यं*, **उपमेय**-*अग्निं*, **साधारण धर्म**- *वाजं सनिष्यन्*, **सादृश्यवाचक**-*न, है। भूतोपमा है।*

सो अध्वराय परिणीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः।

(ऋ. 3/2/7)

अर्थ- अन्न से सम्पन्न वह ज्ञानी (अग्नि) हिंसा रहित यज्ञ में अश्व

के समान चारों ओर ले जाया जाता है।

उपमान- अत्यः, उपमेय-सः, साधारण धर्म- परिणीयते, सादृश्यवाचक-न, है। भूतोपमा है।

विशां कविं विश्पतिं मानुषीरिषः सं सीमकृण्वन्स्वधितिं न तेजसे।।

(ऋ. 3/2/10)

अर्थ- अन्न कामनायुक्त प्रजायें प्रजापालक (अग्नि) को तलवार के समान तीक्ष्ण ज्वालाओं से युक्त करती हैं।

उपमान- स्वधितिं, उपमेय-कविं विश्पतिं, साधारण धर्म- स अकृण्वन्, सादृश्यवाचक-न, है।

प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे।।

(ऋ. 3/10/5)

अर्थ- पुरोहित के समान प्राचीन स्तोत्र वाक्यों को कहो।

उपमान- वेधसे, उपमेय-अग्ने, साधारण धर्म-होत्रे, सादृश्यवाचक-न है।

रथो न सस्निरभि वक्षि वाजमग्ने त्वं रोदसी नः सुमेके।

(ऋ. 3/15/5)

अर्थ- हे अग्ने! तुम रथ के समान देवों के निमित्त द्रव्य को ले जाओ।

उपमान- रथः, उपमेय-अग्ने, साधारण धर्म- वाजं वक्षि, सादृश्यवाचक-न, है।

सहस्रिणं वाजमत्यं न सप्तिं ससवान्त्सन् त्स्तूयसे जातवेदः।।

(ऋ. 3/22/1)

अर्थ- हे जातवेद अग्ने! तुम नाना रूपों से सम्पन्न वेगवान अश्व की तरह हव्य रूप अन्न का सेवन करते हुए प्रशंसित होते हो।

उपमान- सप्तिम् अत्यं, उपमेय-जातवेदः, साधारण धर्म- वाजं ससवान् स्तूयसे, सादृश्यवाचक-न, है। भूतोपमा है।

अश्वो न क्रन्दञ्जनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगे युगे।

(ऋ. 3/26/3)

अर्थ- शब्द करता हुआ वैश्वानर अग्नि कुशिकों के द्वारा प्रतिदिन उसी प्रकार उत्पन्न किया जाता है जैसे घोड़ियों के द्वारा घोड़े।

उपमान- जनिभिः अश्वः, उपमेय-कुशिकेभिः, वैश्वानरः, साधारण धर्म-समिध्यते, सादृश्यवाचक-न, है। भूतोपमा है।

वृषोऽग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः।

(ऋ. 3/27/14)

अर्थ- अश्व के समान देवों को लाने वाला बलवान अग्नि प्रज्वलित होता रहता है।

उपमान- *अश्वः*, ***उपमेय***-*अग्निः*, ***साधारण धर्म***- *देववाहनः* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात प्रियंवात्वा कृण्वते हविष्मान्।
अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् तमंहश पीपरो दाश्वासम्।।

(ऋ. 4/2/8)

अर्थ- स्वर्णरचित जीन वाले अश्व के समान श्रद्धा से हवि देने वाले को पापरूप दरिद्रता से पार कर दो।

उपमान- *हेम्यावान् अश्वः*, ***उपमेय***- *दाश्वांसम् तम्* ***साधारण धर्म***- *पीपरः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

अधा ह यद् वयमग्ने त्वाया षड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः।।

(ऋ. 4/2/14)

अर्थ- हे अग्ने! यज्ञकर्ता बुद्धिमान्, जन सत्यस्वरूप तुम्हें उसी प्रकार तैयार करते हैं जिस प्रकार शिल्पी रथ को।

उपमान- *क्रन्तः रथं*, ***उपमेय***- *आशुषाणाः सुध्यः ऋतं*, ***साधारण धर्म***- *येमुः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमाधमन्तः।।

(ऋ. 4/2/17)

अर्थ- शोभनकर्मा दीप्तियुक्त देवाभिलाषी दिव्य गुणयुक्त मनुष्य अपने जीवन को उसी प्रकार निर्मल करते हैं, जिस प्रकार लोहार धौंकनी से लोहे को निर्मल करता है।

उपमान- *अयः*, ***उपमेय***- *सुकर्माणः जनिमा*, ***साधारण धर्म***- *धमन्तः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्रसदमित् स्रवि तवे दधन्युः।।

(ऋ. 4/3/12)

अर्थ- दिव्य नदियां युद्ध में जाने के लिए प्रस्तुत अश्व की तरह सत्य

से प्रेरित होकर सदैव बहने के लिए जाती हैं।

उपमान- *सर्गेषु प्रस्तुभानः वाजी*, ***उपमेय***- *देवीः आपः*, ***साधारण धर्म***- *दधन्युः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥

(ऋ. 4/4/4)

अर्थ- जो हमसे शत्रुता करता है उसे शुष्क घास के समान जला दो।

उपमान- *शुष्कम् अतसं*, ***उपमेय***- *अरातिं*, ***साधारण धर्म***- *धक्षि*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

पदं न गोरपगूळहं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदुवोचन्मनीषाम्॥

(ऋ. 4/5/3)

अर्थ- गोपद के समान छिपे हुए ज्ञानियों के महान ज्ञान को जानता हुआ अग्नि मेरे लिए उसका उपदेश करे।

उपमान- *गोः पदम्*, ***उपमेय***- *मनीषां महि साम*, ***साधारण धर्म***- *अपगूळहं*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

इदं मे अग्ने कियते पावकाऽमिनते गुरुं भारं न मन्म।
बृहद् दधाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठं प्रयसा सप्तधातु॥

(ऋ. 4/5/6)

अर्थ- हे पावक अग्ने! जैसे उदार मनुष्य थोड़ा मांगने वाले को भी बहुत अधिक दे देता है उसी प्रकार तुम मुझे बृहत धन प्रदान करो।

उपमान- *कियते गुरुं भारं*, ***उपमेय***- *मे बृहत् मन्म*, ***साधारण धर्म***- *दधाथ*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

रुशद् वसानः सुदृशीवरूपः क्षितिर्न राया पुरुवारो अद्यौत्।

(ऋ. 4/5/15)

अर्थ- तेजस्वी रूपवाला वरणीय (अग्नि) उसी प्रकार प्रकाशित होता है जैसे मनुष्य ऐश्वर्य के कारण चमकता है।

उपमान- *राया क्षितिः*, ***उपमेय***- *रुशद् वसानः सुदृशीव रूपः पुरुवारः*, ***साधारण धर्म***- *अद्यौत्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति प्रदिव उराणः॥

(ऋ. 4/6/4)

अर्थ- तेजस्वी होता अग्नि हव्य को विस्तृत करता हुआ पशपालक की तरह तीन बार प्रदक्षिणा करता है।

उपमान- *पशुपा,* ***उपमेय***- *अग्निः,* ***साधारण धर्म***- *त्रिविष्टि परि एति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

द्रवन्त्यस्य वाजिनो न शोका भयन्ते विश्वा भुवना यद् भ्राट्॥

(ऋ. 4/6/5)

अर्थ- इस (अग्नि) की किरणें अश्व के समान सब ओर दौड़ती हैं।

उपमान- *वाजिनः,* ***उपमेय***- *अस्य शोका,* ***साधारण धर्म***- *द्रवन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु॥

(ऋ. 4/6/7)

अर्थ- पावक अग्नि मानवी प्रजाओं के मध्य सूर्य के समान दीप्तिमान् होता है।

उपमान- *मित्रः,* ***उपमेय***- *अग्निः,* ***साधारण धर्म***- *दीदाय,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

प्रेत दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः॥

(ऋ. 4/10/4)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारी तेजस्वी ज्वालायें बादल के समान शब्द करती हैं।

उपमान- *दिवः,* ***उपमेय***- *ते शुष्माः,* ***साधारण धर्म***- *प्रस्तनयन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके॥

(ऋ. 4/10/5)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारी परमप्रिय कान्ति चाहे दिन हो अथवा रात हो दोनों कालों में अलंकार के समान समीप ही शोभित होती है।

उपमान- *रुक्मः,* ***उपमेय***- *अग्ने तव स्वादिष्ठ संदृष्टिः,* ***साधारण धर्म***- *उपाके रोचते,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

ऊर्ध्व भानुं सविता देवो अश्रेद् द्रप्सं दविध्वद् गविषो न सत्वा॥

(ऋ. 4/13/2)

अर्थ- जैसे गौ का इच्छुक वृषभ धूल को उड़ाता है उसी प्रकार तेजस्वी सूर्य अपनी किरणों को ऊपर की ओर फैलाता है।

उपमान- *गविषः सत्वा द्रप्सं,* ***उपमेय***- *देवः सविता भानुं,* ***साधारण***

धर्म- दविध्वद् उर्ध्वं अश्रेत्, ***सादृश्यवाचक****-न, है। भूतोपमा है।*

कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभिचाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत् पवन्ते।।

(ऋ. 4/58/9)

अर्थ- विवाह के लिए जाने वाली कन्यायें जिस प्रकार अलंकार आदि धारण करके अपना तेज प्रकट करती हैं, उसी प्रकार घृत की धाराएं बहती हैं।

उपमान*- वहतुमेतवा कन्या,* ***उपमेय****- घृतस्य धारा,* ***साधारण धर्म****- अञ्जि- अञ्जाना अभिपवन्ते,* ***सादृश्यवाचक****-न, है।*

एतं ते स्तोमं तुविजात विप्रो रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्।

(ऋ. 5/2/11)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारे रथ के समान इस स्तोत्र को बनाया है।

उपमान*- रथं,* ***उपमेय****- एतं स्तोमं,* ***साधारण धर्म****- अतक्षम्,* ***सादृश्यवाचक****-न, है।*

द्वेषोयुतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्।।

(ऋ. 5/9/6)

अर्थ- मानवी पापकर्मों को उसी प्रकार पार कर जाऊं जैसे द्वेष करने वाले शत्रुओं से पार होता हूं।

उपमान*- द्वेषो युतः,* ***उपमेय****- मर्त्यानां दुरिता,* ***साधारण धर्म****- तुर्याम,* ***सादृश्यवाचक****-न, है।*

त्वे असुर्यमारुहत् क्राणा मित्रो न यज्ञियः।।

(ऋ. 5/10/2)

अर्थ- यज्ञ रूप अग्नि सूर्य के समान शीघ्र ही चारों ओर व्याप्त होता है।

उपमान*- मित्रः,* ***उपमेय****- यज्ञियः,* ***साधारण धर्म****- क्राणा आरुहत्,* ***सादृश्यवाचक****-न, है। अधिकोपमा है।*

घृतं न यज्ञ आस्ये सुपूतं गिरं भरे वृषभाय प्रतीचीम्।।

(ऋ. 5/12/1)

अर्थ- यज्ञ में अग्नि के मुख में डालने योग्य पवित्र घृत के समान सरल और माननीय स्तुति प्रस्तुत करता हूं।

उपमान*- सुपूतं घृतं,* ***उपमेय****- प्रतीचीम् गिरं,* ***साधारण धर्म****- प्रभरे,* ***सादृश्यवाचक****-न, है।*

स संवतो नवजातस्तुतुर्यात् सिंहं न क्रुद्धमभितः परिष्ठुः।।

(ऋ. 5/15/3)

अर्थ- वह नवजात (अग्नि) क्रोधित सिंह की तरह एकत्रित शत्रुओं को नष्ट करे।

उपमान- *क्रुद्धं सिंहं*, ***उपमेय***- *सः नवजातः*, ***साधारण धर्म***- *संवतो तुतुर्यात्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

वाजो नु ते शवसस्पात्वन्तमुरुं दोघं धरुणं देव रायः।
पदं न तायुर्गुहा दधानो महोराये चितयन्नत्रिमस्पः॥

(ऋ. 5/15/5)

अर्थ- जैसे तस्कर गुहा के मध्य में छिपकर धन को धारण करता है उसी प्रकार देव (अग्नि) प्रचुर लाभ के लिए सन्मार्ग को प्रकाशित करता है।

उपमान-*गुहापदं दधानः तायुः*, ***उपमेय***- *महः राये चितयन् देवः*, ***साधारण धर्म***-*अत्रिमस्पः* , ***सादृश्यवाचक***-*न, है। हीनोपमा है।*

यं मित्रं न प्रशस्तिभिर्मर्तासो दधिरे पुरः॥

(ऋ. 5/16/1)

अर्थ- मनुष्यगण जिस (अग्नि) को सूर्य की तरह प्रकृष्ट स्तुतियों द्वारा सबसे आगे स्थापित करते हैं।

उपमान- *मित्रं*, ***उपमेय***- *यं*, ***साधारण धर्म***- *पुरः दधिरे*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

वि हव्यमग्निरानुषग्भगो न वारमृण्वति॥

(ऋ. 5/16/2)

अर्थ- अग्नि सूर्य के समान श्रेष्ठ सम्पत्ति प्रदान करता है।

उपमान- *भगः*, ***उपमेय***-*अग्निः*, ***साधारण धर्म***-*वारम् ऋण्वति*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

तमिद् यह्वं न रोदसी परिश्रवो बभूवतुः॥

(ऋ. 5/16/4)

अर्थ- जैसे महान् सूर्य के सहारे आकाश और पृथ्वी स्थित हैं उसी प्रकार सभी अन्न-धन उस (अग्नि) के आश्रय में स्थित हैं।

उपमान-*यह्वं रोदसी*, ***उपमेय***-*श्रवः तम् इत्*, ***साधारण धर्म***-*परिबभूवतुः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

दिवो न यस्य रेतसा बृहच्छोचन्त्यर्चयः॥

(ऋ. 5/17/3)

अर्थ- प्रकाशमान सूर्य की तरह जिसकी बृहत् ज्वालाएं तेज से प्रकाशित होती हैं।

उपमान-*दिवः*, ***उपमेय***-*यस्य अर्चयः*, ***साधारण धर्म***-*रेतसा बृहत्, शोचन्ति*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यं शूष्यं घृतं न पूतमद्रिभिः।।

(ऋ. 5/86/6)

अर्थ- बलवर्धक घृत के समान पत्थरों से टूटकर पवित्र किए गये हवि को इन्द्राग्नि के लिए समर्पित करता हूं।

उपमान-*शूष्यं घृतं*, ***उपमेय***- *हव्यं*, ***साधारण धर्म***-*पूतं*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

त्वं हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे।।

(ऋ. 6/2/1)

अर्थ- हे अग्ने! तुम सूर्य के समान हविर्युक्त यजमान के द्वार जाते हो।

उपमान- *मित्रः*, ***उपमेय***-*अग्ने त्वं*, ***साधारण धर्म***-*पत्यसे*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

ऊती ष बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति।।

(ऋ. 6/2/4)

अर्थ- वह (स्तुतिकर्ता मनुष्य) दीप्त रक्षासाधनों के द्वारा अपने शत्रुओं को पाप के समान नष्ट कर देता है।

उपमान- *अंहः*, ***उपमेय***-*द्विषः*, ***साधारण धर्म***-*तरति*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे।।

(ऋ. 6/2/6)

अर्थ- पावक अग्ने! तुम सूर्य के समान अपनी कान्ति से प्रकाशित होते हो।

उपमान-*सूरः*, ***उपमेय***- *पावक त्वं*, ***साधारण धर्म***-*द्युता कृपा रोचसे*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

सूरो न यस्य दृशतिररेपा भीमा यदेति शुचतस्त आ धीः।।

(ऋ. 6/3/3)

अर्थ- सूर्य के समान जिसका दर्शन पापरहित है।

उपमान-*सूरः*, ***उपमेय***-*यस्य दृशतिः*, ***साधारण धर्म***-*अरेपाः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

स ईं रेभो न प्रति वस्त उस्राः शोचिषा रारपीति मित्रमहाः।

(ऋ. 6/3/6)

अर्थ- वह (अग्नि) रेभ नामक ऋषि के समान अपनी प्रदीप्त ज्वालाओं को फैलाता है।

उपमान-*रेभः*, **उपमेय**-*सः*, **साधारण धर्म**-*उस्राः प्रति-वस्ते*, **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

द्यावो न यस्य पनयन्त्यभ्वं भासांसि वस्ते सूर्यो न शुक्रः॥

(ऋ. 6/4/3)

अर्थ-जिस (अग्नि) की ज्वालाएं तेजस्वी सूर्य किरणों के समान चमकती हैं।

उपमान-*सूर्यः*, **उपमेय**-*यस्य भासांसि*, **साधारण धर्म**-*वस्ते*, **सादृश्यवाचक**-*न, है। अधिकोपमा है।*

त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि संनवन्ते॥

(ऋ. 6/7/4)

अर्थ- हे मरणधर्मरहित अग्ने! स्तोतागण अरणिमन्थन से उत्पन्न तुम्हें शिशु के समान स्तुति करते हुए प्राप्त करते हैं।

उपमान-*जायमानं शिशुं*, **उपमेय**-*अमृतं त्वां*, **साधारण धर्म**-*अभिसंनवन्ते*, **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

वैश्वानरो जायमानो न राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥

(ऋ. 6/9/1)

अर्थ- वैश्वानर अग्नि वर्धमान राजा के समान अपने तेज से अंधकार को नष्ट करता है।

उपमान-*जायमानः राजा*, **उपमेय**-*वैश्वानरः अग्निः*, **साधारण धर्म**-*ज्योतिषा तमांसि अवातिरक्*, **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

आयुं न यं नभसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्चजनाः॥

(ऋ. 6/11/4)

अर्थ- मनुष्य के समान जिस (अग्नि) को पांच यजमान हवि रूप अन्न से संतुष्ट करते हैं।

उपमान-*आयुं*, **उपमेय**-*यं*, **साधारण धर्म**-*नभसा अञ्जति*, **सादृश्यवाचक**-*न, है।*

अभ्यक्षि सद्मसदने पृथिव्या अश्रायि यज्ञः सूर्ये न चक्षुः॥

(ऋ. 6/11/5)

अर्थ- जैसे सूर्य में प्रकाश किरणें आश्रित रहती हैं उसी प्रकार यजमान का यज्ञ अग्नि के आश्रित रहता है।

उपमान-*सूर्ये चक्षुः*, ***उपमेय***- *यज्ञः*, ***साधारण धर्म***- *अश्रायि*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

रायः सूनो सहसो वावसाना अति स्रसेम वृजनं नांहः॥

(ऋ. 6/11/6)

अर्थ- हे बलपुत्र अग्ने! हाथ से तुम्हें आच्छादित करते हुए हम भेरा के समान पाप का अतिक्रमण करें।

उपमान-*वृजनं*, ***उपमेय***-*अंहः* ***साधारण धर्म***- *अतिस्रसेम*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

अयं स सूनुः सहश ऋतावा दूरात्सूर्यो न शोचिषा ततान॥

(ऋ. 6/12/1)

अर्थ- सत्यस्वरूप वाला वह (अग्नि) सूर्य के समान दूर से ही द्यावापृथ्वी को प्रकाशित करने के लिए अपने तेज का विस्तार करता है।

उपमान-*सूर्यः*, ***उपमेय***-*सः*, ***साधारण धर्म***- *शोचिषा ततान*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

आ यस्मिन्त्वे स्वपाके यजत्र यक्षद्राजन्सर्वतातेव नु द्यौः।
त्रिषधस्थस्ततरुषो न जंहो हव्या मघानि मानुषा यजध्यै॥

(ऋ. 6/12/2)

अर्थ-हे यष्टव्य तेजस्वी (अग्ने!) मनुष्य द्वारा प्रदत्त हवि को प्रदान करने के लिए तुम सूर्य के समान वेगवान् बनो।

उपमान- *ततरुषः*, ***उपमेय***- *यजत्र राजन्*, ***साधारण धर्म***-*जंहः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

सद्यो यः स्पन्द्रो विषितोधवीयानृणो न तायुरति धन्वा राट्॥

(ऋ. 6/12/5)

अर्थ- जो स्पन्दनशील (अग्नि) शीघ्र भागने वाले चोर के समान शीघ्र गमन करने वाला है।

उपमान- *ऋणो तायुः*, ***उपमेय***- *यः स्पन्द्रः*, ***साधारण धर्म***- *सद्यः धवीयान्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। हीनोपमा है।*

त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वयाः।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम्॥

(ऋ. 6/13/1)

अर्थ- जैसे वृक्ष से अनेक शाखाएं निकलती हैं उसी प्रकार पशुसंघ रूपी धन अग्नि से उत्पन्न होता है।

उपमान- *वनिनः वयाः,* ***उपमेय***-*त्वद् विश्वा रयिः,* ***साधारण धर्म***-*श्रुष्टी,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वं शोचिषम्।।

(ऋ. 6/15/2)

अर्थ- जिस (अग्नि) को मित्र के समान भृगुओं ने घर में स्थापित किया है।

उपमान- *मित्रं,* ***उपमेय***- *यं,* ***साधारण धर्म***- *दधुः,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्।

(ऋ. 6/48/1)

अर्थ- हम सब मित्र के समान प्रिय जातवेद (अग्नि) की प्रशंसा करते हैं।

उपमान-*मित्रं,* ***उपमेय***- *जातवेदसं,* ***साधारण धर्म***-*प्रियं,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

प्र वो देवं चित्सहसानमग्निमश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः।

(ऋ. 7/7/1)

अर्थ- अश्व के समान वेगवान या बलवान अग्नि को स्तुति द्वारा प्रसन्न करते हैं।

उपमान- *अश्वं,* ***उपमेय***- *अग्निम्,* ***साधारण धर्म***- *वाजिनम्,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

अर्वन्तो न काष्ठां नक्षमाणा इन्द्राग्नी जोहुवतो नरस्ते।।

(ऋ. 7/93/3)

अर्थ- (मेधावी जन) युद्ध में शीघ्रगन्ता अश्व के समान इन्द्राग्नी का पुनः पुनः आह्वान करते हैं।

उपमान- *अर्वन्तः,* ***उपमेय***-*इन्द्राग्नी,* ***साधारण धर्म***-*नक्षमाणा,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

यज्ञेभिरद्भुतक्रतुं यं कृपा सूदयन्त इत्।
मित्रं न जने सुधितमृतावनि।।

(ऋ. 8/23/8)

अर्थ- मित्र के समान हवि द्वारा संतुष्ट अग्नि को यजमानगण अपने सामर्थ्य से यज्ञ द्वारा प्राप्त करते हैं।

***उपमान**-मित्रं, **उपमेय**-यं, **साधारण धर्म**- सुधितं, **सादृश्यवाचक**-न, है।*

अग्ने मन्मानि तुभ्यं कं घृतं न जुह्व आसनि।।

(ऋ. 8/39/3)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारे मुख में सुखकर घृत के समान मननीय स्तोत्र आहुत करता हूं।

***उपमान**- घृतं, **उपमेय**- मन्मानि, **साधारण धर्म**- कं, **सादृश्यवाचक**-न, है।*

स त्वमग्ने विभावसुः सृजन्त्सूर्यो न रश्मिभिः।
शर्धन्तमांसि जिघ्नसे।।

(ऋ. 8/43/32)

अर्थ- हे अग्ने! तुम सूर्य के समान ज्वालाओं से बल प्राप्त कर अन्धकार को नष्ट करते हो।

***उपमान**-सूर्य, **उपमेय**- अग्ने त्वम्, **साधारण धर्म**- तमांसि जिघ्नसे, **सादृश्यवाचक**-न, है। अधिकोपमा है।*

धीरो ह्यस्यद्मसद्विप्रो न जागृविः सदा।
अग्ने दीदयसि द्यवि।।

(ऋ. 8/44/29)

अर्थ- हे अग्ने! तुम मेधावी ब्राह्मण के समान प्रजा के हित के लिए जागरणशील हो।

***उपमान**- विप्रः, **उपमेय**-अग्ने, **साधारण धर्म**-सदा जागृविः, **सादृश्यवाचक**-न, है।*

प्रति त्वा शवसी वदद्गि रावप्सो न योधिसत्।
यस्ते शत्रुत्वमाचके।।

(ऋ. 8/45/5)

अर्थ- हे इन्द्राग्नी! जो तुमसे शत्रुता करता है वह पर्वत से अपनी छाती टकराता है।

***उपमान**- अप्सः, **उपमेय**- यः ते शत्रुत्वम् आचके, **साधारण धर्म**- योधिषत्, **सादृश्यवाचक**-न, है।*

ते जानत स्वमोक्यं सं वत्सासो न मातृभिः।
मिथो नसन्त जामिभिः।।

(ऋ. 8/72/14)

अर्थ- जैसे बच्चे अपनी मां के साथ जाते हैं, उसी प्रकार गौयें परस्पर बंधुओं के साथ मिलती हैं।

उपमान-*मातृभिः वत्सासः*, ***उपमेय***-*जामिभिः ते*, ***साधारण धर्म***-*मिथः सं नसन्त*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम्।।

(ऋ. 8/74/2)

अर्थ- हविर्युक्त यजमान सूर्य के समान जिस (अग्नि) के लिए घृत की आहुति देते हैं।

उपमान- मित्रं, **उपमेय**-यं, **साधारण धर्म**-सर्पिरासुतिम्, **सादृश्यवाचक**-न, है। अधिकोपमा है।

मां चत्वार आशवः शविष्ठस्य द्रवित्नवः।
सुरथासो अभिप्रयो वक्षन्वयो न तुग्र्यम्।।

(ऋ. 8/74/14)

अर्थ- चारों अश्व पक्षी के समान वेग से अन्न को वहन करते हैं।

उपमान-*वयः*, ***उपमेय***- *चत्वार आशवः*, ***साधारण धर्म***-*तुग्र्यम् प्रयः अभिवक्षन्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः।
ऊर्मिर्न नावमावधीत्।।

(ऋ. 8/75/9)

अर्थ- नौका को डुबाने वाली लहर के समान पाप बुद्धि हिंसक हमारी हिंसा न करे।

उपमान- *नावम् ऊर्मिः*, ***उपमेय***- *दूढ्यः परिद्वेषसः अंहतिः*, ***साधारण धर्म***- *मा आ वधीत्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

अश्वं न गीर्भीः रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः।।

(ऋ. 8/103/7)

अर्थ- (हे अग्ने!) शोभनदान कर्ता यजमान रथवाहक अश्व के समान तुम्हारी स्तुतियों से परिचर्या करते हैं।

उपमान-*रथ्यम् अश्वं*, ***उपमेय***-*गीर्भीः*, ***साधारण धर्म***- *मर्मृज्यन्ते*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

आ हि द्यावापृथिवी अग्न उभे सदा पुत्रो न मातरा ततन्थ।।

(ऋ. 10/1/7)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे पुत्र माता-पिता की सेवा करता है उसी प्रकार तुम द्यावापृथिवी का अपने तेज से विस्तार करते हो।

उपमान- *मातरा पुत्रः,* ***उपमेय***-*उभे द्यावापृथिवी अग्ने,* ***साधारण धर्म***-*सदा आ ततन्थ,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

स्वना न यस्य भामासः पवन्ते रोचमानस्य बृहतः सुदिवः।

(ऋ. 10/3/5)

अर्थ- जिस (अग्नि) की प्रज्ज्वलित किरणें शब्दायमान वायु के समान शब्द करती हुई गमन करती हैं।

उपमान-*स्वना,* ***उपमेय***- *रोचमानस्य यस्य भामासः,* ***साधारण धर्म***-*पवन्ते,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः।
अस्नातापो वृषभो न प्रवेति सचेतसो यं प्रणयन्त मर्ताः॥

(ऋ. 10/4/5)

अर्थ- जैसे तृषार्त वृषभ प्यास बुझाने के लिए अरण्य-मध्य-स्थित जलाशय के समीप जाता है उसी प्रकार धूम-प्रज्ञान अग्नि अपनी तृषा-शान्ति के लिए जंगल की ओर बढ़ता है।

उपमान-*वृषभः आपः,* ***उपमेय***-*धूमकेतुः,* ***साधारण धर्म***-*वने प्रवेति,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

तमुस्रामिन्द्रं न रेजमानमग्निं गीर्भिर्नमोभिराकृणुध्वम्।

(ऋ. 10/6/5)

अर्थ- (हे यजमानगण!) तुम ज्वालाओं से प्रकाशित अग्नि की इन्द्र के समान स्तुति एवं हवि से स्तुति करो।

उपमान-*इन्द्र,* ***उपमेय***-*अग्निम्,* ***साधारण धर्म***-*नमोभिः गीर्भिः आकृणुध्वम्,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

सं यस्मिन् विश्वा वसूनि जग्मुर्वाजे नाश्वाः सप्तीवन्त एवैः॥

(ऋ. 10/6/6)

अर्थ- संग्राम में जाने वाले सर्पणशील शीघ्रगन्ता अश्व के समान सभी धन जिस (अग्नि) की ओर गमन करते हैं।

उपमान-*वाजे सप्तीवन्तः अश्वाः,* ***उपमेय***- *यस्मिन् विश्वावसूनि,* ***साधारण धर्म***- *सं जग्मुः,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनुग्मन्।

(ऋ. 10/46/2)

अर्थ- जैसे पदचिन्हों के द्वारा खोये हुए पशु का पता लगाया जाता है उसी प्रकार ऋषियों ने जल के मध्य में निगूढ अग्नि का पता लगाया।

उपमान-*पदैः नष्टं पशुं*, ***उपमेय***- *अपां सधस्थे विधन्तो इमं*, ***साधारण धर्म***-*अनुग्मन्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः॥

(ऋ. 10/46/7)

अर्थ- अग्नि सोमरस के समान गमनशील है।

उपमान- *सोमाः*, ***उपमेय***-*अग्नयः*, ***साधारण धर्म***-*वायवः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥

(ऋ. 10/110/5)

अर्थ- हे द्वार देवियो! जैसे शोभमान स्त्रियां विशेष रूप से पति के आश्रित होती हैं उसी प्रकार तुम विस्तृत रूप में आश्रित होओ।

उपमान- *पतिभ्यः शुम्भमानाः जनयः*, ***उपमेय***-*देवीर्द्वारः*, ***साधारण धर्म***-*उर्विया वि श्रयन्तां*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य शासं तुरासः।

(ऋ. 1/68/9)

अर्थ- पिता का आदेश मानने वाले पुत्र के समान जिन मनुष्यों ने इस (अग्नि) की आज्ञा को सुनकर कर्म प्रारम्भ किया।

उपमान- *पितुः पुत्राः*, ***उपमेय***-*ये अस्य*, ***साधारण धर्म***- *शासं श्रोषन् क्रतुं जुषन्त*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

वेधा अदृप्तो, अग्निर्विजानन्नूधर्न गोनां, स्वाद्मा पितूनाम्॥

(ऋ. 1/69/3)

अर्थ- अग्नि गो दुग्ध के समान अन्न को स्वादिष्ट बनाता है।

उपमान- *गोनाम् ऊधः*, ***उपमेय***- *अग्निः*, ***साधारण धर्म***- *पितूनाम् स्वाद्मा*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

वि त्वा नरः पुरुत्रा सर्पयन् पितुर्न जिव्रेर्विभेदो भरन्त॥

(ऋ. 1/70/10)

अर्थ- (हे अग्ने!) जैसे पुत्र वृद्ध पिता से धन प्राप्त करता है, उसी प्रकार मनुष्य तुमसे धन प्राप्त करते हैं।

उपमान-जिव्रेः पितुः, **उपमेय**-त्वा नरः, **साधारण धर्म**-भेदो भरन्तु, **सादृश्यवाचक**-न, है।

विश्वो विहाया अरतिर्वसुर्दधे हस्ते दक्षिणे तरणिर्न शिश्रथच्छ्रवस्यया न शिश्रथत्॥

(ऋ. 1/128/6)

अर्थ- विश्वव्यापी महान् (अग्नि) सूर्य के समान दाहिने हाथ में यजमान को देने योग्य धन धारण करता है।

***उपमान**-तरणिः, **उपमेय**-विश्वः विहाया अरतिः अग्निः, **साधारण धर्म**- दक्षिणे हस्ते वसुः दधे, **सादृश्यवाचक**-न, है। अधिकोपमा है।*

त्वया ह्यग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः।
यत् सीमनु क्रतुना विश्वथा विभुररान्न नेमिः परिभूरजायथाः।

(ऋ. 1/141/9)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे रथ का पहिया अरों को व्याप्त करके रहता है, उसी प्रकार तुम सर्वव्यापी और सबों के पराभवकारी होकर उत्पन्न हुए हो।

***उपमान**-अरान् नेमिः, **उपमेय**- अग्ने, **साधारण धर्म**-विश्वथा विभुः परिभूः अनुअजायथाः, **सादृश्यवाचक**-न, है।*

भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः॥

(ऋ. 1/143/3)

अर्थ- हे अग्ने! नदी के समान तुम्हारी जरारहित ज्वालाएं कम्पित होती हैं

***उपमान**- अत्यक्तुः सिन्धवः, **उपमेय**- अग्ने अजराः भात्वक्षसः, **साधारण धर्म**- रेजन्ते, **सादृश्यवाचक**-न, है।*

नि यं दधुर्मनुष्यासु विक्षुस्वर्ण चित्रं वपुषे विभावम्।

(ऋ. 1/148/1)

अर्थ- सूर्य के समान विलक्षणता से युक्त, तेजस्वी जिस (अग्नि) को मानवी प्रजाओं में शरीर की पुष्टि के लिए स्थापित किया जाता है।

***उपमान**- स्वः, **उपमेय**- यम्, **साधारण धर्म**-चित्रं विभावं मनुष्यासु विक्षु निदधुः, **सादृश्यवाचक**-न, है। अधिकोपमा है।*

आदस्य वातो अनु वाति शोचिरस्तुर्न शर्यामसनामनुद्यून्।

(ऋ. 1/148/4)

अर्थ- जैसे बाण चालक के पास से बाण वेग से जाता है उसी प्रकार इस (अग्नि) की ज्वालाएं प्रतिदिन वायु का अनुकरण करती हुई वेग से जाती हैं।

उपमान- *अस्तुः असनां शर्या*, ***उपमेय***- *अस्य शोचिः*, ***साधारण धर्म***- *अनुद्यून् वातः वाति*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

स होता विश्वं परिभूत्वध्वरं तमु हव्यैर्मनुष ऋञ्जते गिरा।
हिरिशिप्रो वृधसानासु जर्भुरद् द्यौर्नस्तृभिश्चितयद् रोदसी अनु॥

(ऋ. 2/2/5)

अर्थ- जैसे नक्षत्रों से आकाश प्रकाशित होता है, उसी प्रकार तेजस्वी ज्वालाओं वाला वह (अग्नि) अपने प्रकाश से द्यावापृथ्वी को प्रकाशित करता है।

उपमान- *स्तृभिः द्यौः*, ***उपमेय***- *सः हिरिशिप्रः रोदसी*, ***साधारण धर्म***- *अनुचितयत्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है।*

प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि स्वर्ण शुक्रमुषसो वि दिद्युतुः॥

(ऋ. 2/2/7)

अर्थ- (हे अग्ने!) सूर्य के समान प्रकाशमान उषायें तुम्हें प्रकाशित करती हैं।

उपमान-*स्वः*, ***उपमेय***-*शुक्रम् उषसः*, ***साधारण धर्म***- *विदिद्युतुः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

अस्माकं द्युम्नमधि पञ्चकृष्टिषूच्चा स्वर्ण शुशुचीत दुष्टरम्॥

(ऋ. 2/2/10)

अर्थ- हमारी अनन्त और दूसरों के लिए अप्राप्य धनराशि सूर्य के समान पांचों वर्षो में प्रकाशित हो।

उपमान-*स्वः*, ***उपमेय***- *अस्माकं उच्चा दुष्टरम्, द्युम्नम्*, ***साधारण धर्म***- *शुशुचीत*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

स यो व्यस्थादभि दक्षदुर्वी पशुर्नैति स्वयुरगोपाः॥

(ऋ. 2/4/7)

अर्थ- वह (अग्नि) रक्षकहीन पशु के समान अपनी इच्छा से इधर-उधर जाता है।

उपमान- *अगोपाः पशुः*, ***उपमेय***- *सः*, ***साधारण धर्म***-*स्वयुः एति,*

सादृश्यवाचक-न, है। भूतोपमा है।

आ यः स्वर्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा। अञ्जानो अजैरभि॥

(ऋ. 2/8/4)

अर्थ- तेजस्वी किरणों वाले सूर्य के समान जो अपनी ज्वालाओं से प्रकाशित होता है।

उपमान- *भानुना स्वः*, ***उपमेय***- *यः स्व अर्चिषा*, ***साधारण धर्म***- *आ विभाति*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

स जिन्वते जठरेषु प्रजज्ञिवान् वृषा चित्रेषु नानदन्न सिंहः॥

(ऋ. 3/2/11)

अर्थ- वह (वैश्वानर अग्नि) सिंह के समान जंगलों में गर्जन करता है।

उपमान-*सिंहः*, ***उपमेय***-*सः*, ***साधारण धर्म***-*चित्रेषु नानदत्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः॥

(ऋ. 4/10/3)

अर्थ- हे अग्ने! सूर्य के समान प्रकाश से युक्त तुम हम लोगों की ओर आओ।

उपमान-*स्वः*, ***उपमेय***- *अग्ने*, ***साधारण धर्म***- *ज्योतिः*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

त्वं त्या चिदच्युताग्ने पशुर्न यवसे।
धामा ह यत्ते अजर वना वृश्चन्ति शिक्वसः॥

(ऋ. 6/2/9)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे पशु घास को खा जाता है, उसी प्रकार तुम्हारी अच्युत ज्वालाएं वृक्षोंको भस्म कर देती हैं।

उपमान-*यवसे पशुः*, ***उपमेय***- *अग्ने त्वं त्या अच्युता*, ***साधारण धर्म***-*वना वृश्चन्ति*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। भूतोपमा है।*

स नो विभावा चक्षणिर्न वस्तोरग्निर्वन्दारु वेद्यश्चनो धात्॥

(ऋ. 6/4/2)

अर्थ- अग्नि दिन के प्रकाशक सूर्य के समान विशेष रूप से दीप्यमान है।

उपमान-*वस्तोः चक्षणिः*, ***उपमेय***- *सः अग्निः*, ***साधारण धर्म***-*विभावा वेधः वन्दारु चनः धात्*, ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

स्वर्ण वस्तोरुषसामरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म।
अग्निर्जन्मानि देव आ विविद्वान्द्रवद्दूतो देवयावा वनिष्ठः॥

(ऋ. 7/10/2)

अर्थ- अग्नि दिन के प्रकाशक सूर्य के समान दीप्त होता है।

उपमान- *स्वः,* ***उपमेय***-*अग्नि,* ***साधारण धर्म***- *अरोचि,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है। अधिकोपमा है।*

प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम्॥

(ऋ. 7/13/1)

अर्थ- वैश्वानर अग्नि के लिए हवि के समान मननीय स्तोत्र प्रस्तुत करो।

उपमान- *हविः,* ***उपमेय***-*मन्म,* ***साधारण धर्म***- *प्रभरध्वम्,* ***सादृश्यवाचक***-*न, है।* जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशून्न गोपा हर्यः परिज्मा।

(ऋ. 7/13/3)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे गोपालक पशुओं को देखता है उसी प्रकार तुम सभी जीवों को रक्षा के लिए देखते हो।

उपमान-*गोपाः पशून्,* ***उपमेय***-*अग्ने भुवना,* ***साधारण धर्म***-*व्यख्यः,* ***सादृश्यवाचक***-*न है। भूतोपमा है।*

पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवाँ एतु प्र णो हविः।

(ऋ. 8/19/27)

अर्थ- जैसे पिता के पास पुत्र जाता है उसी प्रकार अग्नि यज्ञ में अर्पित हमारी हवि को देवों तक पहुंचाये।

उपमान- *पितुः पुत्रः,* ***उपमेय***-*सुभृतः नः हविः देवान्,* ***साधारण धर्म***- *आ प्र एतु,* ***सादृश्यवाचक***-*न है।*

मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये॥

(ऋ. 8/103/6)

अर्थ- इस (अग्नि) के लिए मदकारी सोम के समान स्तोत्र प्रदान किए जाते हैं।

उपमान- *मधोः,* ***उपमेय***-*अस्मै अग्नये प्रथमानि स्तोमा,* ***साधारण धर्म***- *प्रयन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*न है।*

याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः॥

(ऋ. 10/30/5)

अर्थ- जैसे नवयुवती स्त्रियों के साथ युवा आनन्दित होता है, उसी प्रकार सोम जल के साथ मुदित और हर्षित होता है।

उपमान- *कल्याणीभिः युवतिभिः मर्यः,* ***उपमेय***-*सोमः याभिः,* ***साधारण धर्म***- *मोदते हर्षते च,* ***सादृश्यवाचक***- *न है।*

इव-

निम्नलिखित कतिपय ऋचाओं में उपमावाचक इव शब्द का प्रयोग हुआ है अतः यास्क के अनुसार यहां द्रव्योपमा है।

स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोति नः।
उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः॥

(ऋ. 1/27/12)

अर्थ- वह तेजस्वी अग्नि धनवानों के समान स्तोत्रों के साथ हमारी प्रार्थना को सुने।

उपमान- *रेवाँ,* ***उपमेय***-*सः अग्निः,* ***साधारण धर्म***-*उक्थैः नः शृणोतु,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।*

अयं जायत मनुषो धरीमणि होता यजिष्ठ उशिजामनुव्रतमग्निः स्वमनुव्रतम्।
विश्वश्रुष्टिः सखीयते रयिरिव श्रवस्यते॥

(ऋ. 1/128/1)

अर्थ- अग्नि धन की कामना करने वाले के लिए धन के समुद्र के समान है।

उपमान- *रयिः,* ***उपमेय***-*अग्निः,* ***साधारण धर्म***-*विश्वश्रुष्टिः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।*

त्वं ह्यग्ने दिव्यस्य राजसि त्वं पार्थिवस्य पशुपा इव त्मना॥

(ऋ. 1/144/6)

अर्थ- हे अग्ने! तुम पशुपालक के समान अपने सामर्थ्य से द्यावापृथिवी पर शोभित होते हो।

उपमान- *पशुपा,* ***उपमेय***-*अग्ने त्वं,* ***साधारण धर्म***- *त्वमना राजसि,* ***सादृश्यवाचक***- *इव है।*

यो विश्वतः प्रत्यङ्ङसि दर्शतो रण्वः संदृष्टो पितुमाँ इव क्षयः

(ऋ. 1/144/7)

अर्थ- जो (अग्नि) यथेष्ट अन्नशाली गृह की तरह नेत्रों को आनन्द देने वाला और सबका आश्रय स्थल है।

उपमान- *पितुमान् क्षयः,* **उपमेय**-*यः,* **साधारण धर्म**- *संदृष्टो रण्वः,* **सादृश्यवाचक**-*इव है।*

विद्वाँ अस्य व्रता ध्रुवा वया इवानुरोहते।

(ऋ. 2/5/4)

अर्थ- इस (अग्नि) के अटल नियमों को जानने वाला वृक्षों की शाखाओं के समान प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करता है।

उपमान- *वया,* **उपमेय**-*अस्य ध्रुवा व्रता विद्वाँ,* **साधारण धर्म**-*अनुरोहते,* **सादृश्यवाचक**-*इव है।*

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव।
अति गाहेमहि दिषः॥

(ऋ. 2/7/3)

अर्थ- जल की धारा के समान हम सम्पूर्ण द्वेष करने वाले शत्रुओं का अतिक्रमण करें।

उपमान-*उदन्या धारा,* **उपमेय**-*विश्वा द्विषः,* **साधारण धर्म**-*अतिगाहेमहि,* **सादृश्यवाचक**- *इव है।*

अस्मै तिस्त्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्।
कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम्॥

(ऋ. 2/35/5)

अर्थ- तीन देवियां जलप्रवाह के समान आगे चलती हैं।

उपमान-*अप्सुकृताः,* **उपमेय**-*तिस्त्रः देवीः,* **साधारण धर्म**- *उप प्रसर्स्रे,* **सादृश्यवाचक**-*इव है।*

हंसा इव श्रेणिशोयतानाः शुक्रावसानाः स्वरवो न आगुः।

(ऋ. 3/8/9)

अर्थ- यूप हंस के समान पंक्तिबद्ध दिखाई देते हैं।

उपमान- *हंसाः,* **उपमेय**-*स्वरवः,* **साधारण धर्म**-*श्रेणिशः यतानाः नः आगुः,* **सादृश्यवाचक**-*इव है।*

अग्निर्नेता भग इव क्षितीनां दैवीनां देव ऋतुपा ऋतावा

(ऋ. 3/20/4)

अर्थ- ऋतुओं की पालना करने वाले सूर्य के समान अग्नि मनुष्यों

और देवों का नेता है।

उपमान- *ऋतुपा भगः,* ***उपमेय***-*अग्निः,* ***साधारण धर्म***- *क्षितीनां देवीनां नेता,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। अधिकोपमा है।*

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु।।

(ऋ. 3/29/2)

अर्थ- जातवेद अग्नि गर्भिणी स्त्रियों में गर्भ के समान अरणियों में निहित है।

उपमान-*गर्भिणीपु गर्भः,* ***उपमेय***-*जातवेदा,* ***साधारण धर्म***-*अरण्योर्निहितः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।*

अग्ने नेमिरराँ इव देवास्त्वं परिभूरसि।।

(ऋ. 5/13/6)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे रथनेमि अरों से व्याप्त रहती है उसी प्रकार तुम देवों को चारों ओर से व्याप्त करते रहते हो।

उपमान-*नेमिः अरान्,* ***उपमेय***-*अग्ने त्वं देवान्,* ***साधारण धर्म***-*परिभूरसि,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।*

यस्य भा परुषाः शतमुद्धर्षयन्त्युक्षणः।
अश्वमेधस्य दानाः सोमा इव त्र्याशिरः।।

(ऋ. 5/27/5)

अर्थ- वे वृषभ दही, सत्तू और दूध इन तीनों पदार्थों से मिश्रित सोम के समान मुझे आनन्द देने वाले हों।

उपमान-*त्र्याशिरः सोमाः,* ***उपमेय***-*शतं उक्षणः,* ***साधारण धर्म***-*मा उद्धर्षयन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।*

तस्येदु विश्वा भुवनाधिमूर्धनि वया इव रुरुहुः सप्त विस्त्रुहः।।

(ऋ. 6/7/6)

अर्थ- उस (वैश्वानर अग्नि) के तेज से शाखा के समान सर्पणशील नदियां उत्पन्न होती हैं।

उपमान-*वया,* ***उपमेय***-*सप्तविस्त्रुहः,* ***साधारण धर्म***-*रुरुहुः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।*

वैश्वानराय मतिर्नव्यसी शुचिः सोम इव पवते चारुरग्नये।।

(ऋ. 6/8/1)

अर्थ- वैश्वानर अग्नि के लिए शोभनीय स्तुति सोमरस के समान उपस्थित होती है।

उपमान-*सोम*, ***उपमेय***-*चारुः मतिः*, ***साधारण धर्म***-*पवते*, ***सादृश्यवाचक***- *इव है।*

ओकिवांसा सुते सचाँ अश्वा सप्ती इवादने।।

(ऋ. 6/59/3)

अर्थ- भक्षणीय घास में सर्पणशील अश्व के समान अभिषुत सोम में (इन्द्राग्नी के साथ) समवेत होते हैं।

उपमान- *आदने सप्ती अश्वाः*, ***उपमेय***- *सुते*, ***साधारण धर्म***-*सचा ओकिवांसा*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। भूतोपमा है।*

विश्वेत् स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत्।।

(ऋ. 8/19/14)

अर्थ- वह शोभनकर्मा (मनुष्य) तेजयुक्त यश द्वारा जल के समान सबसे आगे बढ़ जाता है।

उपमान-*उद्न*, ***उपमेय***-*द्युम्नै सः सुभगः*, ***साधारण धर्म***- *अतितारिषत्*, ***सादृश्यवाचक***- *इव है।*

यदी घृतेभिराहुते वाशीमग्निर्भरत उच्चावच।
असुर इव निर्णिजम्।।

(ऋ. 8/19/23)

अर्थ- अग्नि प्रकाश को बिखेरने वाले सूर्य के समान अपने रूप को ऊपर के लोकों में फैलाता है।

उपमान-*असुरः*, ***उपमेय***-*अग्निः*, ***साधारण धर्म***- *निर्णिजम्*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। अधिकोपमा है।*

अग्ने तव त्ये अजेरन्धानासो बृहद्भाः।
अश्वा इव वृषणः तविषीयवः।।

(ऋ. 8/23/11)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारी रश्मियां वीर्यवान् अश्व के समान बल-सम्पन्न होती है।

उपमान- *अश्वाः*, ***उपमेय***-*अग्ने तव त्ये बृहद्भाः*, ***साधारण धर्म***-*तविषीयवः*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। भूतोपमा है।*

आरोका इव घेदह तिग्मा अग्ने तव त्विषः।
दद्भिर्वनानि बप्सति।।

(ऋ. 8/43/3)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारी तीक्ष्ण ज्वालायें तेजस्वी पशु के समान दांतों से जंगलों को खा जाती हैं।

उपमान- *आरोका*, ***उपमेय***-*अग्ने तव तिग्मा त्विषः*, ***साधारण धर्म***-*दद्भिः वनानि वप्सति*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। भूतोपमा है।*

उत त्वाग्ने मम स्तुतो वाश्राय प्रति हर्यते।
गोष्ठं गाव इवाशत॥

(ऋ. 8/43/17)

अर्थ- हे अग्ने! मुझ आङ्गिरस की स्तुतियां शब्द करते हुए बछड़े की ओर जाने वाली गायों के समान तुम्हारे प्रति जायें।

उपमान-*वाश्राय गोष्ठं गावः*, ***उपमेय***-*मम स्तुतः त्वा*, ***साधारण धर्म***-*आशत*, ***सादृश्यवाचक***- *इव है। भूतोपमा है।*

पदं देवस्य मीळ्हुषोऽनाधृष्टाभिरूतिभिः।
भद्रा सूर्य इवोपदृक्॥

(ऋ. 8/102/15)

अर्थ- अग्निदेव की दृष्टि सूर्य के समान कल्याणकारिणी है।

उपमान- *सूर्य*, ***उपमेय***-*देवस्य उपदृक्*, ***साधारण धर्म***- *भद्रा*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। अधिकोपमा है।*

घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते सर्पिरासुतिः।

(ऋ. 10/69/2)

अर्थ- घृत से आहुत (अग्नि) पृथ्वी पर सूर्य के समान प्रकाशित होता है।

उपमान-*सूर्य*, ***उपमेय***-*घृतेनाहुतः*, ***साधारण धर्म***-*रोचते*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। अधिकोपमा है।*

शूर इव धृष्णुश्च्यवनो जनानां त्वमग्ने पृतनायूँरभि ष्याः॥

(ऋ. 10/69/6)

अर्थ- हे अग्ने! तुम धर्षणशील शत्रु को नष्ट करने वाले वीर पुरुष के समान संग्राम के इच्छुक मनुष्यों को परास्त करो।

उपमान-*धृष्णुः जनानां च्यवनः शूरः*, ***उपमेय***-*अग्ने त्वम्*, ***साधारण धर्म***- *पृतनायून् अभि ष्याः*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है।*

यथा-

निम्नलिखित कतिपय ऋचाओं में उपमावाचक **यथा** पद का प्रयोग अवलोकनीय है। यास्क के अनुसार **यथा** द्वारा क्रिया का सादृश्यबोध होने

के कारण इन ऋचाओं में कर्मोपमा है।

आ नो बर्ही रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा।
सीदन्तु मनुषो यथा।।

(ऋ. 1/26/4)

अर्थ- शत्रुनाशक वरुण, मित्रः, और अर्यमा हमारे आसन पर उसी प्रकार बैठें जैसे मनु के यज्ञ में बैठे थे।

उपमान-*मनुष्यः,* ***उपमेय***-*वरुणः, मित्रः अर्यमा,* ***साधारण धर्म***-*नः बर्हिः आ सीदन्तु,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।*

यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवाँ अयजः कविभिः कविः सन्।
एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व।।

(ऋ. 1/76/5)

अर्थ-हे अग्ने! तुम मेधावियों के साथ मेधावी बनकर ज्ञानी मनुष्य की हवि द्वारा देवों के समान पूजित होओ।

उपमान-*देवान्,* ***उपमेय***-*अग्ने त्वम्,* ***साधारण धर्म***-*विप्रस्य मनुषः हविर्भिः अजयः,* ***सादृश्यवाचक***- *यथा है।*

त्वया यथा गृत्समदासो अग्ने गुहा वन्वन्त उपराँ अभि ष्युः।
सुवीरासो अभिमातिषाहः स्मत् सूरिभ्यो गृणते तद् वयो धाः।।

(ऋ. 2/4/9)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे गृत्समद आदि ऋषियों ने तुम्हारी कृपा से शत्रुओं को पराजित कर उत्कृष्ट स्थान प्राप्त किया था उसी प्रकार हम स्तुतिकर्ताओं को भी प्रदान करो।

उपमान-*गृत्समदासः सुवीरासः अभिमातिषाहः उपरान् अभि स्युः,* ***उपमेय***-*सूरिभ्यः गृणते स्मत्,* ***साधारण धर्म***- *तद् वयो धाः,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।*

यथा विद्वाँ अरं करद्विश्वेभ्यो यजतेभ्यः।
अयमग्ने त्वे अपि यं यज्ञं चकृमा वयम्।।

(ऋ. 2/5/8)

अर्थ- हे अग्ने! जिस प्रकार विद्वान् सब देवों की तृप्ति भली-भांति करता है उसी प्रकार हमारा यज्ञ तुम्हारी तृप्ति के लिए हो।

उपमान- *विश्वेभ्यो यजतेभ्यः विद्वान्,* ***उपमेय***-*वयं यं यज्ञं चकृमा अयम् त्वे,* ***साधारण धर्म***- *अरं करद्,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।*

आ भन्दमाने उषसा उपाके उत स्मयेते तन्वा विरूपे।
यथा नो मित्रो वरुणो जुजोषदिन्द्रो मरुत्वाँ उत वा महोभिः॥

(ऋ. 3/4/6)

अर्थ- मित्र, वरुण और मरुत् गणों से युक्त इन्द्र के समान उषा और रात्रि अपने तेज से हमें तेजस्वी करें।

उपमान- *मित्रो वरुणो जुजोषदिन्द्रो मरुत्वान्,* ***उपमेय***-*उषसा,* ***साधारण धर्म***- *महोभिः तन्वा स्मयेते,* ***सादृश्यवाचक***- *यथा है।*

यथा ह त्यद् वसवो गौर्य चित्पदि षितामममुञ्चता यजत्राः।
एवो ष्व स्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः॥

(ऋ. 4/12/6)

अर्थ- हे अग्ने! जिस प्रकार तुमने बंधे पैर वाली गौ को विमुक्त किया था उसी प्रकार हमें पापों से मुक्त करो।

उपमान- *पदि सितां त्यत् गौर्यं चित्,* ***उपमेय***- *एवो अस्मत् अंहः,* ***साधारण धर्म***- *सु विमुञ्चत्,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है। भूतोपमा है।*

उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी॥

(ऋ0 5/9/3)

अर्थ- जिस (अग्नि) को दो अरणियां नवजात शिशु के समान उत्पन्न करती हैं।

उपमान- *नवं शिशुं,* ***उपमेय***-*यं,* ***साधारण धर्म***-*जनिष्ट,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।*

यथा होतर्मनुषो देवताता यज्ञेभिः सूनो सहसो यजासि।
एवा नो अद्य समना समानानुशन्नग्न उशतो यक्षि देवान्।

(ऋ. 6/4/1)

अर्थ- हे अग्ने! जिस प्रकार मनु के देवताता नामक यज्ञ में तुमने हवि द्वारा देवताओं का यजन किया था उसी प्रकार आज हमारे इस यज्ञ में देवों का यजन करो।

उपमान-*मनुषः देवताता यज्ञेभिः यजासि,* ***उपमेय***- *अग्ने एवा नो अद्य,* ***साधारण धर्म***- *यक्षि,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।*

यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परीळाभिर्घृतवद्भिश्च हव्यैः।
तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्निपाहि॥

(ऋ. 7/3/7)

अर्थ- हे अग्ने! तुम अपने प्रसिद्ध अपरिमित तेज से असंख्य लोहे के दृढ़ किले वाले नगर के समान हमारी रक्षा करो।

उपमान-*शतम् आयसीभिः पूर्भिः*, **उपमेय**-*अग्ने तेभिः अमितैः महोभिः नः*, **साधारण धर्म**-*निपाहि*, **सादृश्यवाचक**-*यथा है।*

स्पार्हा यस्य श्रियो दृशे रयिर्वीरवतो यथा।
अग्रे यज्ञस्य शोचतः॥

(ऋ. 7/15/5)

अर्थ- यज्ञ के अग्रभाग में दीप्यमान जिस (अग्नि) का तेज पुत्रवान् मनुष्य के समान दर्शक के लिए स्पृहणीय है।

उपमान-*वीरवतः रयिः*, **उपमेय**-*यज्ञस्य अग्रे शोचतः यस्य श्रियः*, **साधारण धर्म**-*स्पार्हा*, **सादृश्यवाचक**- *यथा है।*

अग्ने याहि सुशस्तिभिर्हव्या जुह्वान आनुषक्।
यथा दूतो बभूथ हव्यवाहनः।

(ऋ. 8/23/6)

अर्थ- हे अग्ने! तुम दूत के समान हवि को ले जाने वाले हो।

उपमान-*दूतः*, **उपमेय**-*अग्ने*, **साधारण धर्म**-*हव्यवाहनः बभूथ*, **सादृश्यवाचक**-*यथा है।*

यथा चिद् बृद्धमतसमग्ने संजूर्वसि क्षमि।
एवा दह मित्रमहो यो अस्मध्रुग्दुर्मन्मा कश्च वेनति॥

(ऋ. 8/60/7)

अर्थ- हे अग्ने! पृथ्वी पर स्थित पुरानी गाड़ी के समान जो हमसे द्वेष करता है उसे नष्ट कर दो।

उपमान- *वृद्धमतसं*, **उपमेय**-*अग्ने यः अस्मध्रुक्*, **साधारण धर्म**-*दह*, **सादृश्यवाचक**- *यथा है।*

तं नेमिमृभवो यथा नमस्व सहूतिभिः।
नेदीयो यज्ञमङ्गिरः॥

(ऋ. 8/75/5)

अर्थ- हे अग्ने! ऋभु द्वारा रथनेमि के लाने के समान आहूत इन (देवताओं) को यज्ञ में लाओ।

उपमान- *ऋभवः नेमिं*, **उपमेय**-*अङ्गिरः तं*, **साधारण धर्म**- *यज्ञम् आ नेदीयः*, **सादृश्यवाचक**-*यथा है।*

यथायज ऋतुभिर्देव देवानेवा यजस्व तन्वं सुजात।

(ऋ. 10/7/6)

अर्थ- हे शोभनजन्मा अग्निदेव! जैसे विशिष्ट समय में देवों का तुमने यजन किया था, उसी प्रकार तुम अपना भी यजन करो।

उपमान-*देवान् अयजः*, ***उपमेय***-*देव तन्वं*, ***साधारण धर्म***-*यजस्व*, *सादृश्यचाचक-यथा है।*

विश्वं स वेद वरुणोयथा धिया स यज्ञियो यजतु यज्ञियाँ ऋतून्।

(ऋ. 10/11/1)

अर्थ- वह (अग्नि) अपनी अनुरूप प्रज्ञा से वरुण के समान सब कुछ जानता है

उपमान-*वरुणः*, ***उपमेय***-*सः*, ***साधारण धर्म***-*धिया विश्वं वेद* , ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।*

आ ते यतन्ते रथ्यो यथा पृथक्शर्धास्याग्ने अजराणि धक्षतः।।

(ऋ. 10/9/7)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारा जरा रहित तेज रथी वीर के समान पृथक्-पृथक् प्रकट होता है।

उपमान-*रथ्यः*, ***उपमेय***-*अग्ने ते अजराणि शर्धांसि*, ***साधारण धर्म***-*पृथक् यतन्ते*, ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।*

चित्-

कुछ ऋचाओं में उपमावाचक चित् शब्द का प्रयोग हुआ है। अकेले ऋग्वेद संहिता में ही यह पद 786 बार आया है और 15 स्थलों पर उपमावाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

यच्चिद्धि शश्वता तना देवं देवं यजामहे।
त्वं इद्धूयते हविः।।

(ऋ. 1/26/6)

अर्थ- जिस प्रकार शाश्वत काल से हम प्रत्येक देव का यजन करते आए हैं उसी प्रकार तुम्हें हवि दी जाती है।

उपमान- *देवं देवं यजामहे*, ***उपमेय***-*त्वे*, ***साधारण धर्म***- *हविः हूयते*, ***सादृश्यवाचक***- *चित् है।*

तद् भद्रं तव दंसना पाकाय चिच्छदयति।।

(ऋ. 3/9/7)

अर्थ- (अग्ने!) तुम्हारा वह कल्याणकारी कर्म बालक के समान अज्ञ को भी पूजा करने के लिए प्रेरित करता है।

उपमान-*पाकाय,* ***उपमेय***-*तव तद् भद्रं दंसना,* ***साधारण धर्म***- *छदयति,* ***सादृश्यवाचक***-*चित् है।*

मित्रश्चिद्धिष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति।।

(ऋ. 10/12/5)

अर्थ- सूर्य के समान देवों तक हमारी स्तुति- सम्पन्न वाणी पहुंचे।

उपमान- *मित्रः,* ***उपमेय***-*देवान्,* ***साधारण धर्म***-*नः श्लोकः यातां,* ***सादृश्यवाचक***-*चित् है।*

आ-

कुछ ऋचाओं में उपमावाचक **आ** पद का प्रयोग हुआ है।

विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरुर्मा उपाक आ।।

(ऋ. 1/27/6)

अर्थ-विलक्षण तेजस्वी (अग्नि) देव सिन्धु की लहर के समान धन का विभाजन करता है।

उपमान-*सिन्धोः उपाके ऊर्मा,* ***उपमेय***-*चित्रभानो,* ***साधारण धर्म***-*विभक्तासि,* ***सादृश्यवाचक***-*आ है।*

धनोरधि प्रवत आ स ऋण्वत्यभि व्रजद्भिर्वयुना नवाधित।।

(ऋ. 1/144/5)

अर्थ- जैसे धनुष से बाण निकलता है उसी प्रकार वह (अग्नि) प्रकट होता है।

उपमान-*धनो प्रवतः,* ***उपमेय***-*सः,* ***साधारण धर्म***-*ऋण्वति,* ***सादृश्यवाचक***-*आती है।*

2. समासगा श्रौती पूर्णोपमा

उपमान, उपमेय, साधारण धर्म *और* ***वाचक*** *शब्द* ***उपमा*** *के इन चार अंगों के विद्यमान रहने पर जहां ''इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च'' इस वार्तिक के अनुसार वाचक पद इव के साथ सुप्सुप् समास और विभक्ति का अलोप होता है वहां समासगा श्रौती पूर्णोपमा होती है। यास्क के अनुसार* ***इव*** *पद के द्वारा द्रव्य का सादृश्यबोधन होने से द्रव्योपमा होती है।*

ऋग्वेद के अग्निसूक्तों में ही कम से कम 69 ऋचाओं में समासगा श्रौती पूर्णोपमा और द्रव्योपमा का प्रयोग हुआ है-

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव॥

(ऋ. 1/1/9)

अर्थ- (हे प्रसिद्ध अग्ने!) तुम हमारे लिए, पुत्र के लिए पिता के समान सुख से प्राप्त होने योग्य होओ।

***उपमान**-पिता सूनवे, **उपमेय**-स नः, **साधारण धर्म**- सूपायनो भव, **सादृश्यवाचक**-इव है। पितेव में समास है।*

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः॥

(ऋ. 1/31/15)

अर्थ- हे अग्ने! तुम प्रयत्नशील दाता मनुष्य को सिले हुए कवच के समान सब ओर से सुरक्षित रखते हो।

***उपमान**-स्यूतं वर्म, **उपमेय**-अग्ने त्वं प्रयत दक्षिणं नरं, **साधारण धर्म**-विश्वतः परिपासि, **सादृश्यवाचक**-इव है। **वर्मेव** में समास है।*

घनेव विष्वग्वि जह्यराव्णस् तपुर्जम्भ यो अस्मध्रुक्॥

(ऋ. 1/36/16)

अर्थ-अपनी उष्णता से रोग-बीजों के नाशक हे अग्ने! गदा से नष्ट करने के समान कंजूसों को चारों ओर से विनष्ट कर दो।

***उपमान**-घना, **उपमेय**-तपुर्जम्भ, **साधारण धर्म**-अराव्णःविष्वक् विजहि, **सादृश्यवाचक**-इव है। घनेव में समास है।*

सिन्धोरिव प्रस्वनितास ऊर्मयोऽग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः।

(ऋ. 1/44/12)

अर्थ- प्रचण्ड ध्वनि करने वाली समुद्र की लहर के समान अग्नि की ज्वालायें प्रदीप्त होती हैं।

***उपमान**- सिन्धोः ऊर्मयः, **उपमेय**-अग्नेः अर्चयः, **साधारण धर्म**-प्रस्वनितासः भ्राजन्ते, **सादृश्यवाचक**- इव है। सिन्धोरिव में समास है।*

वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ॥

(ऋ. 1/59/1)

हे वैश्वानर अग्ने! समीपस्थ स्तम्भ के समान तुम सब जनों के आधार हो।

***उपमान**-उपमित् स्थूणा, **उपमेय**-वैश्वानर जनान्, **साधारण धर्म**-ययन्थ, **सादृश्यवाचक**- इव है। स्थूणेव में समास है।*

वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योअर्थम्।
द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद्भृगवे मातरिश्वा।

(ऋ. 1/60/1)

अर्थ- धन की तरह श्रेष्ठ हविर्वाहक अग्नि को मातरिश्वा वायु ने भृगु के लिए मित्र बनाया।

उपमान-रयिम्, उपमेय-वह्निं, साधारण धर्म-प्रशस्तं, सादृश्यवाचक-इव है। रयिमिव में समास है।

चित्तिरपां दमे विश्वायुः सद्मेव धीराः संभाय चक्रुः॥

(ऋ. 1/67/10)

अर्थ- ज्ञानी पुरुष गृह के समान ज्ञानदाता अग्नि की पूजा करके अपना कार्य करते हैं।

उपमान- सद्म, उपमेय-चित्तिरपां दमे विश्वायुः, साधारण धर्म-संभाय चक्रुः , सादृश्यवाचक-इव है। सद्मेव में समास है।

यानाये मर्तान्त्सुषूदो अग्ने ते स्याम मघवानो वयं च।
छायेव विश्वं भुवनं सिसक्ष्यापप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्॥

(ऋ. 1/73/8)

अर्थ- हे अग्ने! तुम सम्पूर्ण विश्व को छाया की तरह शरण देते हो।

उपमान- छाया, उपमेय-अग्ने, साधारण धर्म-विश्वं भुवनं सिसक्ष्या, सादृश्यवाचक-इव है। छायेव में समास है।

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया॥

(ऋ. 1/94/1)

अर्थ- पूजनीय धनोत्पादक जातवेद (अग्नि) के लिए रथ के समान स्तोत्र अर्पित करते हैं।

उपमान-रथम्, उपमेय-जातवेदसे इमं स्तोमं, साधारण धर्म- सं महेम, सादृश्यवाचक-इव है। रथमिव में समास है।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय॥

(ऋ. 1/97/7)

अर्थ- हे विश्वतोमुख अग्ने! नौका से समुद्र पार होने के समान सब शत्रुओं से हमें पार ले जाओ।

उपमान- नावा, उपमेय-विश्वतोमुख द्विषः नः, साधारण धर्म- अति पारय, सादृश्यवाचक- इव है। नावेव में समास है।

स नः सिन्धुमिव नावयाति वर्षा स्वस्तये॥

(ऋ. 1/97/8)

अर्थ- वह (अग्नि) नौका से समुद्र पार जाने के समान हमारे कल्याण के लिए हमें सब शत्रुओं से पार ले जाये।

उपमान-*नावया सिन्धुम्*, ***उपमेय***-*स नः स्वस्तये*, ***साधारण धर्म***-*अतिवर्षा*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। सिन्धुमिव में समास है।*

परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम्

शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विश।

(ऋ. 1/127/2)

अर्थ- द्युलोक में सर्वत्र गमन करने वाले सूर्य के समान जिसको प्रजाएं तृप्त करती हैं।

उपमान- *द्यां परिज्मानम्*, ***उपमेय***-*यं शोचिष्केशं*, ***साधारण धर्म***-*इमाः विशः प्रावन्तु*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। परिज्मानमिव में समास है। अधिकोपमा है।*

अस्माकमग्ने मघवत्सु दीदिह्यध श्वसीवान् वृषभो दमूनाः।

अवास्या शिशुमतीरदीदेर्वर्मेव युत्सु परिजर्भुराण॥

(ऋ. 1/140/10)

अर्थ- हे अग्ने! तुम युद्धभूमि में रक्षा करने वाले कवच के समान शत्रु से हमारी रक्षा करते हुए दीप्त होओ।

उपमान-*युत्सु वर्म*, ***उपमेय***-*अग्ने*, ***साधारण धर्म***-*परिजर्भुराणः अदीदेः*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। वर्मेव में समास है।*

आदिद्धोतारं वृणते दिविष्टिषु भगमिव पपृचानास ऋञ्जते॥

(ऋ. 1/141/6)

अर्थ- हवनकर्ता मनुष्य सूर्य के समान होता अग्नि को प्रसन्न करते हैं।

उपमान-*भगम्*, ***उपमेय***-*होतारं*, ***साधारण धर्म***-*ऋञ्जते*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। भगमिव में समास है। अधिकोपमा है।*

पुरु त्वा दाश्वान् वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा।

तोदस्येव शरण आ महस्य॥

(ऋ. 1/150/1)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे महान् सूर्य की शरण में सब जीव आते हैं उसी प्रकार तुम्हारे शत्रु भी तुम्हारी शरण में आ जाते हैं।

उपमान-*महस्य तोदस्य*, ***उपमेय***-*अग्ने तव*, ***साधारण धर्म***-*शरणे अरिः स्वित् आ*, ***सादृश्यवाचक***- *इव है। तोदस्येव में समास है। अधिकोपमा है।*

परि विश्वानि काव्यां नेमिश्चक्रमिवाभवत्।।

(ऋ. 2/5/3)

अर्थ- जिस प्रकार धुरी के चारों ओर चक्र होता है उसी प्रकार सारी स्तुतियां (अग्नि के) चारों ओर घूमती हैं।

उपमान-*नेमिः चक्रम्,* ***उपमेय***-*विश्वानि काव्या,* ***साधारण धर्म***-*परिअभवत्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। चक्रमिव में समास है।*

तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते।।

(ऋ. 2/5/6)

अर्थ- (अग्नि को प्राप्त कर) अध्वर्यु उसी प्रकार प्रसन्न होता है जैसे वर्षा को प्राप्त कर जौ।

उपमान-*वृष्टिः यवः,* ***उपमेय***- *अध्वर्युः,* ***साधारण धर्म***- *मोदते,* ***सादृश्यवाचक***- *इव है। वृष्टीव में समास है।*

अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे।
दूतो जन्येव मित्र्यः।।

(ऋ. 2/6/7)

अर्थ- हे अग्ने! तुम दूत के समान मनुष्यों का हित करने वाले हो।

उपमान-*दूतः जन्यः,* ***उपमेय***-*अग्ने,* ***साधारण धर्म***-*मित्र्यः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। जन्येव में समास है।*

वाजयन्निव नू रथान् योगाँ अग्नेरुप स्तुहि।

(ऋ. 2/8/1)

अर्थ- (हे स्तोतागण!) धन देने वाले जुते हुए रथ के समान अग्नि की स्तुति करो।

उपमान- *वाजयन् योगान् रथान्,* ***उपमेय***-*अग्नेः,* ***साधारण धर्म***-*उपस्तुहि,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। वाजयन्निव में समास है।*

जोहूत्रो अग्निः प्रथमः पितेवेळस्पदे मनुषा यत् समिद्धः।।

(ऋ. 2/10/1)

अर्थ- अग्नि पिता के समान सबका पालक है।

उपमान-*पिता,* ***उपमेय***-*अग्निः,* ***साधारण धर्म***-*जोहूत्रः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। पितेव में समास है।*

स होता यस्य रोदसी चिदुर्वी यज्ञंयज्ञमभिवृधे गृणीतः।
प्राची अध्वरेव तस्थतुः सुमेके ऋतावरी ऋतजातस्य सत्ये।।

(ऋ. 3/6/10)

अर्थ- सत्यस्वरूप द्यावापृथ्वी यज्ञ के समान सत्य द्वारा प्रकट इस अग्नि के अनुकूल होकर रहती है।

उपमान-*अध्वरा,* ***उपमेय***-*ऋतावरी रोदसी,* ***साधारण धर्म***-*ऋतजातस्य प्राची तस्थतुः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। अध्वरेव में समास है।*

व्यंगेभिर्दिद्युतानः सधस्थ एकामिव रोदसी आ विवेश।।

(ऋ. 3/7/4)

अर्थ- जिस प्रकार युवा पुरुष एक पत्नी के निकट जाता है उसी प्रकार तेजस्वी अग्नि द्यावा-पृथ्वी में व्याप्त होता है।

उपमान-*एकाम्,* ***उपमेय***-*अंगेभिः दिद्युतानः रोदसी,* ***साधारण धर्म***-*आ विवेश,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। एकामिव में समास है।*

अन्वीमविन्दन् निचिरासो अद्रुहोऽप्सु सिंहमिव श्रितम्।।

(ऋ. 3/9/4)

अर्थ- द्रोह न करने वाले अमर देवों ने गुफा में छिपे सिंह के समान जल में छिपे इस (अग्नि) को खोजकर प्राप्त किया।

उपमान-*सिंहम्,* ***उपमेय***-*अप्सु श्रितम् ईं,* ***साधारण धर्म***-*अनु अविन्दन्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। सिंहमिव में समास है। भूतोपमा है।*

ससृवांसमिव त्मनाग्निमित्था तिरोहितम्।
ऐनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि।।

(ऋ. 3/9/5)

अर्थ- स्वेच्छाचारी पुत्र के समान जल में छिपे इस अग्नि को मातरिश्वा वायु ने देवताओं के लिए प्रकट किया।

उपमान-*ससृवांसम्,* ***उपमेय***-*अग्निम्,* ***साधारण धर्म***-*आनयत्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। ससृवांसमिव में समास है।*

जन्मेव नित्यं तनयं जुषस्व स्तोमं मे अग्ने तन्वा सुजात

(ऋ. 3/15/2)

अर्थ- हे अग्ने! तुम मेरे स्तोत्र को नित्य उसी प्रकार सुनो जिस प्रकार पिता पुत्र की बात सुनता है।

उपमान- *तनयं जन्म,* ***उपमेय***-*अग्ने मे स्तोमं,* ***साधारण धर्म***- *नित्यं जुषस्व,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। जन्मेव में समास है।*

अमित्रायुधो मरुतामिव प्रयाः प्रथमजा ब्रह्मणो विश्वभिद् विदुः।।

(ऋ. 3/29/15)

अर्थ- मरुतों के सैन्य अभियान के समान शत्रुओं के साथ युद्ध करने वाले कुशिक गोत्रोत्पन्न ऋषिगण विश्व को जानते हैं।

उपमान- *मरुताम् प्रयाः,* ***उपमेय***-*अमित्रायुधः ब्रह्मणः,* ***साधारण धर्म***-*आयुधः विश्वं विदुः,* ***सादृश्यवाचक***- *इव है। मरुतामिव में समास है।*

चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्॥

(ऋ. 4/2/11)

अर्थ- जैसे अश्वपालक उत्तम और अनुत्तम पीठ वाले अश्व को अलग-अलग कर देता है उसी प्रकार ज्ञानवान् अग्नि मनुष्यों के पाप-पुण्य को पृथक्-पृथक् कर देता है।

उपमान-*वीता वृजिना पृष्ठा,* ***उपमेय***-*विद्वान् मर्तान् चित्तिं च अचित्तिं,* ***साधारण धर्म***-*चिनवत्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। पृष्ठेव में समास है। भूतोपमा है।*

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां यज्जनिमान्त्युग्र।

(ऋ. 4/2/18)

अर्थ- जिस प्रकार धनी मनुष्य के गृह में पशुओं के समूह की प्रशंसा होती है उसी प्रकार जो देवों के समीप उनके जन्मों की प्रशंसा करते हैं उन मनुष्यों की प्रजा समर्थ होती है।

उपमान-*क्षुमति पश्वः यूथ,* ***उपमेय***-*यत् देवानाम् अन्ति जनिम,* ***साधारण धर्म***- *आ अख्यत्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। यूथेव में समास है। भूतोपमा है।*

अयं योनिश्चकृमा यं वयं ते जायेव पत्य उशती सुवासाः।

(ऋ. 4/3/2)

अर्थ- (हे अग्ने!) पति की कामना करती हुई, सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित स्त्री जिस प्रकार अपने समीप पति के लिए स्थान प्रस्तुत करती है उसी प्रकार हम तुम्हारे लिए स्थान तैयार करते हैं।

उपमान- *पत्य उशती सुवासाः जाया,* ***उपमेय***-*वयं ते,* ***साधारण धर्म***-*यं चकृम अयं योनिः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। जायेव में समास है।*

आशृण्वते अदृपिताय मन्म नृचक्षसे सुमृळीकाय वेधः।
देवाय शस्तिममृताय शंस ग्रावेव सोता मधुषुद्यमीळे॥

(ऋ. 4/3/3)

अर्थ- (हे ज्ञानी मनुष्य) जैसे सोम निचोड़ने वाला व्यक्ति सोम

निचोड़ने वाले पत्थर की स्तुति करता है उसी प्रकार तुम भी दिव्यगुणयुक्त अमर (अग्नि) के लिए स्तोत्र और स्तुति वचनों का पाठ करो।

उपमान-*सोता मधुषुद् ग्रावा ईळे,* ***उपमेय***-*वेधः देवाय अमृताय,* ***साधारण धर्म***- *शस्तिम् शंस,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। ग्रावेव में समास है।*

यदुस्त्रियाणामप वारिव व्रन्याति प्रियं रूपो अग्रं पदं वेः॥

(ऋ. 4/5/8)

अर्थ- (दोग्धा) गौ के दूध को जल के समान दूहते हैं।

उपमान-*वार,* ***उपमेय***-*उस्त्रियाणाम् यद्,* ***साधारण धर्म***-*अपव्रन्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। वारिव में समास है।*

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे॥

(ऋ. 4/7/3)

अर्थ- नक्षत्रों से प्रकाशमान आकाश की तरह मायारहित, ज्ञानसम्पन्न (अग्नि) सम्पूर्ण यज्ञों को प्रकाशित करता है।

उपमान-*स्तृभिः द्याम्,* ***उपमेय***-*ऋतावानं विचेतसं, विश्वेषामध्वराणां,* ***साधारण धर्म***- *हस्कर्तारं पश्यन्तः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। द्यामिव में समास है।*

स विप्रश्चर्षणीनां शवसा मानुषाणाम्।
अति क्षिप्रेव विध्यति॥

(ऋ. 4/8/8)

अर्थ- वह मेधावी (अग्नि) मनुष्यों के कष्टों को गतिशील बाण के समान तेजी से नष्ट कर देता है।

उपमान-*क्षिप्रा,* ***उपमेय***-*सः विप्रः,* ***साधारण धर्म***-*शवसा अति विध्यति,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। क्षिप्रेव में समास है।*

दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अपस्वन्तः॥

(ऋ. 4/13/4)

अर्थ- कम्पनयुक्त सूर्य की किरणें अन्तरिक्ष में स्थित अंधकार को चर्म के समान हटा देती हैं।

उपमान-*चर्म,* ***उपमेय***-*तमः,* ***साधारण धर्म***-*अवाधुः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। चर्मेव में समास है। हीनोपमा है।*

परि त्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिव॥

(ऋ. 4/15/2)

अर्थ- अग्नि रथी के समान यज्ञ के चारों ओर घूमता है।

उपमान-*रथी*, **उपमेय**-*अग्निः*, **साधारण धर्म**-*त्रिविष्टि परि याति*, **सादृश्यवाचक**-*इव है। रथीरिव में समास है।*

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्तता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥

(ऋ. 4/58/8)

अर्थ- जिस प्रकार समान मनवाली, हितकारिणी, हंसती हुई स्त्रियाँ अपने पतियों के पास जाती हैं उसी प्रकार ये घृत की धाराएं अग्नि की ओर जाती हैं।

उपमान-*समना कल्याण्यः स्मयमानासः योषाः*, **उपमेय**-*घृतस्य धाराः अग्निम्*, **साधारण धर्म**- *अभि प्रवन्त*, **सादृश्यवाचक**-*इव है। समनेव में समास है।*

अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति॥

(ऋ. 5/1/4)

अर्थ- जिस प्रकार मनुष्यों की आंखें सूर्योदय की प्रतीक्षा करती हैं उसी प्रकार उपासकों का मन अग्नि के चारों ओर घूमता है।

उपमान-*सूर्ये चक्षूंषि*, **उपमेय**-*देवयतां मनांसि अग्निम्*, **साधारण धर्म**-*अच्छा संचरन्ति*, **सादृश्यवाचक**- *इव है। चक्षूंषीव में समास है।*

गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत्।

(ऋ. 5/1/12)

अर्थ- गौ का दान करने वाले उपासक द्युलोक में तेजस्वी एवं गतिशील सूर्य की स्थापना के समान अग्नि में नमनपूर्वक स्तोत्र को स्थापित करते हैं।

उपमान-*दिवि रुक्मं उरुव्यञ्च*, **उपमेय**-*अग्नौ नमसा स्तोमं*, **साधारण धर्म**-*अश्रेत्*, **सादृश्यवाचक**- *इव है। दिवीव में समास है। अधिकोपमा है।*

अव स्म यस्य वेषणे स्वेदं पथिषु जुह्वति।
अभीमह स्वजेन्यं भूमा पृष्ठेव रुरुहुः॥

(ऋ. 5/7/5)

अर्थ- जैसे पुत्र पिता की पीठ पर चढ़ता है उसी प्रकार घृत की आहुति इस (अग्नि) में डाली जाती है।

उपमान-*स्वजेन्यं भूम पृष्ठा*, **उपमेय**-*यस्य वेषणे स्वेदं*, **साधारण**

धर्म-*अग्नि रुरुहु:,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। पृष्ठेव में समास है।*

त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च॥

(ऋ. 5/11/5)

अर्थ- (हे अग्ने!) बड़ी नदियां जैसे समुद्र को परिपूर्ण करती हैं उसी प्रकार ये स्तुतियां तुम्हें पूर्ण करती हैं।

उपमान- *मही: अवनी: सिन्धुम्,* ***उपमेय***-*गिर: त्वां,* ***साधारण धर्म***-*पृणन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। सिन्धुमिव में समास है।*

मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनं जनं धायसे चक्षसे च॥

(ऋ. 5/15/4)

अर्थ- (हे अग्ने!) सर्वत्र प्रख्यात तुम माता के समान प्रत्येक जन का पोषण करते हो।

उपमान-*माता,* ***उपमेय***-*पप्र थान:,* ***साधारण धर्म***-*जनं जनं यद् भरसे,* ***सादृश्यवाचक***- *इव है। मातेव में समास है।*

स नो विश्वा अति द्विषः पर्षन्नावेव सुक्रतुः॥

(ऋ. 5/25/9)

अर्थ- शोभनकर्मा वह (अग्नि) नौका द्वारा समुद्र पार होने के समान सब शत्रुओं से हमें पार ले जायें।

उपमान- *नावा,* ***उपमेय***-*सुक्रतु: स: विश्वा द्विष:,* ***साधारण धर्म***-*अतिपर्षद्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। नावेव में समास है।*

इन्द्राग्नी शतदाव्न्यश्वमेधे सुवीर्यम्।
क्षत्रं धारयतं वृहद् दिवि सूर्यमिवाजरम्॥

(ऋ. 5/27/6)

अर्थ- इन्द्राग्नी द्युलोक में कभी क्षीण न होने वाले सूर्य के समान रक्षक एवं श्रेष्ठ बल को धारण करते हैं।

उपमान-*दिवि अजरम् सूर्यम्,* ***उपमेय***-*इन्द्राग्नी,* ***साधारण धर्म***-*बृहत् सुवीर्यम् धारयतं,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। सूर्यमिव में समास है।*

दृळहा चित्स प्र भेदति द्युम्ना वाणीरिव त्रितः॥

(ऋ. 5/86/1)

अर्थ- ज्ञानी जिस प्रकार वाणी का मर्म समझ लेता है उसी प्रकार वह (अग्नि) दृढ़ एवं तेजस्वी शत्रु-सेना को छिन्न-भिन्न कर देता है।

उपमान-*त्रित: वाणी:,* ***उपमेय***-*स: दृळहा द्युम्ना चित्,* ***साधारण***

धर्म- भेदति, सादृश्यवाचक-इव है। वाणीरिव में समास है।

वृतेव यन्तं बहुभिर्वसव्यैस्त्वे रयिं जागृवांसो अनुग्मन्।।

(ऋ. 6/1/3)

अर्थ- दोनों लोकों के मध्य जाने वाले मार्ग के समान वसुओं के श्रेष्ठ मार्ग से गमन करने वाले दीप्तिमान् (अग्नि) का धन के इच्छुक यजमान अनुगमन करते हैं।

***उपमान**-वृता, **उपमेय**-बहुभिः वसव्यैः, **साधारण धर्म**- यन्तं, **सादृश्यवाचक**-इव है। वृतेव में समास है।*

स त्वं न ऊर्जसन ऊर्ज धा राजेव जेरवृके क्षेष्यन्तः।।

(ऋ. 6/4/4)

अर्थ- हे ऊर्जस्वी अन्न के दाता (अग्ने!) वह तुम राजा के समान हमारे शत्रुओं को जीतो।

***उपमान**-राजा, **उपमेय**-सः त्वं, **साधारण धर्म**-जेः, **सादृश्यवाचक**-इव है। राजेव में समास है।*

क्षामेव विश्वा भुवनानि यस्मिन्त्सं सौभगानि दधिरे पावके।।

(ऋ. 6/5/2)

अर्थ- जिस प्रकार पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करती है उसी प्रकार शोधक अग्नि सम्पूर्ण धन को धारण करता है।

***उपमान**-विश्वा भुवनानि क्षामा, **उपमेय**-यस्मिन् पावके सौभगानि, **साधारण धर्म**-संदधिरे, **सादृश्यवाचक**-इव है। क्षामेव में समास है।*

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्‌भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः।
वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम्।।

(ऋ. 6/8/3)

अर्थ- वैश्वानर अग्नि ने चमड़े के समान द्यावापृथ्वी को विस्तृत किया है।

***उपमान**-चर्मणि, **उपमेय**-रोदसी, **साधारण धर्म**-अवर्तयत्, **सादृश्यवाचक**-इव है। चर्मणीव में समास है। हीनोपमा है।*

उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः।
बर्हिषदा पुरुहूते मघोनी आ यज्ञिये सुविताय श्रयेताम्।।

(ऋ. 7/2/6)

अर्थ- कामनाओं को पूर्ण करने वाली गौ के समान अहोरात्रि हमारे

लिए कल्याणकारी आश्रय प्रदान करे।

उपमान-*सुदुघा धेनुः,* ***उपमेय***-*उषासानक्ता,* ***साधारण धर्म***-*सुविताय श्रयेताम्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। सुदुघेव में समास है। भूतोपमा है।*

निर्यत्पूतेव स्वधितिः शुचिर्गात्स्वया कृपा तन्वा रोचमानः।।

(ऋ. 7/3/9)

अर्थ- पवित्र अग्नि तलवार के समान प्रकाशमान तीक्ष्ण ज्वालाओं से युक्त होकर काष्ठ से आविर्भूत होता है।

उपमान- *पूता स्वधितिः,* ***उपमेय***-*शुचिः त्वया तन्वा कृपा,* ***साधारण धर्म***-*रोचमानः निर्यत्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। पूतेव में समास है।*

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः।
अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि।।

(ऋ. 7/94/1)

अर्थ- स्तोता (वसिष्ठ) से यह स्तुति मेघ से वर्षा के समान प्रादुर्भूत हुई है।

उपमान-*अभ्रात् वृष्टिः,* ***उपमेय***-*अस्य मन्मनः इयं पूर्व्यस्तुतिः,* ***साधारण धर्म***- *अजनि,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। वृष्टिरिव में समास है।*

स मुदा काव्या पुरु विश्वं पुष्यति।।

(ऋ. 8/39/7)

अर्थ- जैसे पृथ्वी संसार को धारण करके पुष्ट करती है उसी प्रकार वह (अग्नि) प्रसन्नतापूर्वक सभी कार्यों को धारण कर पुष्ट करे।

उपमान-*विश्वं भूम,* ***उपमेय***-*सः पुरु काव्या,* ***साधारण धर्म***-*पुष्यति,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। भूमेव में समास है।*

येन दृळहा समस्त्वा वीळु चित्साहिषीमह्यग्निर्वनेव वात
इन्नभन्तामन्यके समे।।

(ऋ. 8/40/1)

अर्थ- जिस प्रकार अग्नि हवा के सहारे वृक्षों को भस्म कर देता है उसी प्रकार इस धन के द्वारा हम स्थिर शत्रु को पराजित करें।

उपमान-*अग्निः वात इत् वना,* ***उपमेय***-*येन समत्सु दृळहा चित् वीळु,* ***साधारण धर्म***-*साहिषीमहि,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। वनेव में समास है।*

एते त्ये वृथगग्नय इद्धासः समदृक्षत। उषसामिव केतवः।

(ऋ. 8/43/5)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारी ये प्रदीप्त ज्वालायें उषाकाल की सूचना देने वाली पताका के समान हैं।

उपमान-*उषसाम् केतवः,* ***उपमेय***-*एते त्ये वृथक्-इद्धासः अन्यः,* ***साधारण धर्म***-*समदृक्षत,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। उषसामिव में समास है।*

अग्ने धृतव्रताय ते समुद्रायेव सिन्धवः। गिरो वाश्रास ईरते॥

(ऋ. 8/44/25)

अर्थ- हे अग्ने! समुद्र की ओर जाने वाली नदियों के समान सुन्दर शब्दवाली स्तुतियाँ तुम्हारे लिए प्रेरित होती हैं।

उपमान-*समुद्राय सिन्धवः,* ***उपमेय***-*ते वाश्रास गिरः,* ***साधारण धर्म***-*ईरते,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। समुद्रायेव में समास है।*

विश्वासु विक्ष्ववितेव हव्यो भुवद्वस्तुर्ऋषूणाम्॥

(ऋ. 8/71/15)

अर्थ- प्रजारक्षक राजा के समान ऋषियों का रक्षक वासक अग्नि हव्य को ग्रहण करे।

उपमान-*विश्वासु विक्षु अविता,* ***उपमेय***-*ऋषूणाम् अविता वस्तुः,* ***साधारण धर्म***- *हव्यो भुवत्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। अवितेव में समास है।*

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव।

(ऋ. 8/75/1)

अर्थ- हे अग्ने! सारथि के समान अभीष्ट प्राप्ति के लिए देवों का आह्वान करने वाले अश्वों को रथ (यज्ञ) में योजित करो।

उपमान-*रथीं,* ***उपमेय***-*अग्ने देवहूतमाँ अश्वाँ,* ***साधारण धर्म***- *युक्ष्वा,* ***सादृश्यवाचक***- *इव है। रथीरिव में समास है।*

कविमिव प्रचेतसं यं देवासो अधद्विता।
नि मर्त्येष्वादधुः॥

(ऋ. 8/84/2)

अर्थ- प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष के समान इन्द्रादि देवों ने जिस (अग्नि) को मनुष्यों में गार्हपत्य और आहवनीय अथवा भूमि पर हवि आहरण और स्वर्ग में हवि प्रदान करने रूप दो कार्यों के लिए नियुक्त किया है।

उपमान-*प्रचेतसं कविम्,* ***उपमेय***-*देवासः यं मर्त्ये,* ***साधारण धर्म***-*द्विता नि आ दधुः,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है। कविमिव में समास है।*

सहस्रसां मेधसाताविव त्मानाग्निं धीभिः सपर्यत॥

(ऋ. 8/103/3)

अर्थ- हे मनुष्यो! मेधसाता यज्ञ के समान हजारों गायों एवं धन के दाता अग्नि की अपने कर्तव्यों के द्वारा स्वयं ही परिचर्या करो।

उपमान-*मेधसाता*, ***उपमेय***-*सहस्रसाम् अग्निं*, ***साधारण धर्म***-*धीभि: त्मना सपर्यत*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। मेधसाताविव में समास है।*

यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ।

(ऋ. 10/4/2)

अर्थ- जैसे गौ शीतजनित दु:ख को दूर करने के लिए उष्ण व्रज अर्थात् बाड़े का आश्रय लेती है उसी प्रकार यजमानगण तुम्हारी शरण में आते हैं।

उपमान-*गाव: उष्णं व्रजं*, ***उपमेय***-*यविष्ठ यं त्वा जनास:*, ***साधारण धर्म***- *अभि संचरन्ति*, ***सादृश्यवाचक***- *इव है। उष्णमिव में समास है।*

द्युभिर्हितं मित्रमिव प्रयोगं प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम्।
बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षु होतारं न्यसादयन्त॥

(ऋ. 10/7/5)

अर्थ- सूर्य के समान तेजस्वी अग्नि को यजमान अपेन हाथों से उत्पन्न करते हैं।

उपमान-*मित्रम्*, ***उपमेय***-*अग्निम्*, ***साधारण धर्म***-*द्युभिर्हितं*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। अधिकोपमा है।*

सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुष: स्वध्वर:॥

(ऋ. 10/11/5)

अर्थ- हे अग्ने! जिस प्रकार घास हस्ती, अश्व आदि चतुष्पदी को पुष्ट कर रमणीय बनाता है उसी प्रकार तुम सभी जीवों को पुष्ट कर रमणीय बनाते हो।

उपमान-*यवस*, ***उपमेय***-*अग्ने*, ***साधारण धर्म***- *सदा पुष्यते रण्व:*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। यवसेव में समास है।*

त्वे धर्माण आ सते जुहूभि: सिञ्चतीरिव॥

(ऋ. 10/21/3)

अर्थ- (हे अग्ने!) यज्ञकर्ता ऋत्विक्‌गण सम्पूर्ण आहुति युक्त होमपात्रों से जल सींचती हुई नारी के समान तुम्हारी उपासना करते हैं।

उपमान-*सिञ्चती:*, ***उपमेय***-*धर्माण:*, ***साधारण धर्म***-*जुहूभि: त्वे आसते*, ***सादृश्यवाचक***-*इव है। सिञ्चतीरिव में समास है।*

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्॥

(ऋ. 10/45/4)

अर्थ- दावाग्नि गर्जना करते हुए बादल के समान महान् शब्द करता है।

उपमान-*स्तनयन् द्यौः*, **उपमेय**-*अग्निः*, **साधारण धर्म**-*अक्रन्दत्*, **सादृश्यवाचक**-*इव है। स्तनयन्निव में समास है।*

त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक्।

(ऋ. 10/69/8)

अर्थ- हे जातयज्ञ! कहीं भी एक जगह संयुक्त न होने वाले सूर्य से संगत अमृत का दोहन करने वाली गौ के समान तुम्हारी गौ सरलता से दुही जाती है।

उपमान-*असश्चता समान सबर्धुक्*, **उपमेय**-*जातवेदः त्वे धेनुः*, **साधारण धर्म**-*सुदुघा*, **सादृश्यवाचक**- *इव है। असश्चतेव में समास है। भूतोपमा है।*

पितेव पुत्रमबिभरुपस्थे त्वामग्ने वध्र्यश्वः सपर्यन्॥

(ऋ. 10/69/10)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे पिता पुत्र को गोद में उठाकर प्यार करता है उसी प्रकार वेदी में परिचर्या करते हुए वध्र्यश्व ने तुम्हे पुष्ट किया था।

उपमान-*पिता पुत्रम्*, **उपमेय**-*अग्ने वध्र्यश्वः त्वाम्*, **साधारण धर्म**-*उपस्थे सपर्यन् अबिभः*, **सादृश्यवाचक**-*इव है। पितेव में समास है।*

किं देवेषु त्यज एनश्चकर्थाग्ने पृच्छामि नु त्वामविद्वान्।
अक्रीळन् क्रीळन् हरिरत्तवेऽदन्वि पर्वशश्चकर्त गामिवासिः॥

(ऋ. 10/79/6)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे तलवार गाय को टुकड़े-टुकड़े कर डालती है उसी प्रकार तुम भक्षणीय काष्ठादि की प्रत्येक सन्धि को अलग-अलग कर डालते हो।

उपमान-*असिः गाम्*, **उपमेय**-*अग्ने अत्तवे अदन्*, **साधारण धर्म**-*पर्वशः विचकर्त*, **सादृश्यवाचक**-*इव है। गामिव में समास है। भूतोपमा है।*

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव।
जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्यो विशंविशम्॥

(ऋ. 10/91/2)

अर्थ- दर्शनीय विभूतिवाला अग्नि सभी मनुष्यों को शिकारी के समान त्यागकर नहीं जाता।

उपमान-*तक्ववी: , **उपमेय**-दर्शतश्री: जन्य: स:, **साधारण धर्म**-जनं जनं नाति मन्यते, **सादृश्यवाचक**-इव है। तक्ववीरिव समास है।*

अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु॥

(ऋ. 10/156/1)

अर्थ- युद्धभूमि में शीघ्रगामी सर्पणशील अश्व के समान अग्नि को हमारी स्तुतियां प्रेरित करें।

उपमान-*आजिषु सप्तिम् आशुं, **उपमेय**-न: धिय: अग्निम्, **साधारण धर्म**-हिन्वन्तु, **सादृश्यवाचक**-इव है। आशुमिव में समास है।* भूतोपमा है।

(3) तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा-

उपमा के चारों अंगों के विद्यमान रहने पर जहां तुल्य, वत् आदि पदों के प्रयोग द्वारा साधर्म्य की प्रतीति आक्षेपगम्य होती है, शब्द-साम्य या साक्षाद् गम्य नहीं, वहां तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा होती है, कारण यहां साधर्म्य शब्द-प्रतिपाद्य नहीं अपितु **अर्थ**-लभ्य होता है और "**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः**" (अ. 5/1/115) सूत्र से "तुल्य" के (सामान्य सादृश्य रूप) अर्थ में विहित वति प्रत्यय का प्रयोग होता है।

यास्क ने वति प्रत्यय द्वारा क्रिया से भिन्न सिद्ध पदार्थो की उपमा को सिद्धोपमा कहा है।

निम्नलिखित कतिपय ऋचाओं में तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा और सिद्धोपमा का प्रयोग हुआ है-

नि त्वा यज्ञस्य साधनमग्ने होतारमृत्विजम्।
मनुष्वद् देव धीमहि प्रचेतसं जीरं दूतममर्त्यम्॥

(ऋ. 1/44/11)

अर्थ- हे अग्ने! मनु के समान यज्ञ के साधन होता तुम्हें यहां स्थापित करते हैं।

उपमान-*मनुष्, **उपमेय**-अग्ने होतारम्, **साधारण धर्म**-निधीमहि, **सादृश्यवाचक**-वत् है।*

स नो रेवत्समिधानः स्वस्तये संददस्वान् रयिमस्मासु दीदिहि॥

(ऋ. 2/2/6)

अर्थ- हे अग्ने! तुम हमारे कल्याण के लिए धनवान् मनुष्य के समान ऐश्वर्य प्रदान करो।

उपमान-*रै, **उपमेय**-अग्ने न: स्वस्तये, **साधारण धर्म**-रयिं अस्मासु*

दीदिहि, ***सादृश्यवाचक***-*वत् है।*

मनुष्वद् दैव्यमष्टमं पोता विश्वं तदिन्विति।।

(ऋ. 2/5/2)

अर्थ- पावक वह (अग्नि) मनु के समान यज्ञ का आठवाँ स्थानीय होकर पूर्ण रूप से व्याप्त होता है।

उपमान-*मनुष्*, ***उपमेय***-*तत् पोता*, ***साधारण धर्म***- *दैव्यम् अष्टमं विश्वम् इन्वति*, ***सादृश्यवाचक***-*वत् है।*

ज्ञेया भागं सहसानो वरेण त्वा दूतासो मनुवद् वदेम।।

(ऋ. 2/10/6)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारा दूत होने पर हम मनु के समान स्तुति करते हैं।

उपमान-*मनु*, ***उपमेय***-*त्वा दूतासः*, ***साधारण धर्म***-*वदेम*, ***सादृश्यवाचक***-*वत् है।*

अग्न एषु क्षयेष्वा रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि।।

(ऋ. 5/23/4)

अर्थ- हे अग्ने! तुम हमारे घरों में ऐश्वर्यवान् व्यक्ति के समान अन्न और यश से युक्त तेज को फैलाओ।

उपमान-*रै*, ***उपमेय***-*अग्ने*, ***साधारण धर्म***-एषु क्षयेषु द्युमत् *आ दीदिहि*, ***सादृश्यवाचक***-*वत् है।*

इममु त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः।

(ऋ. 6/15/17)

अर्थ- यज्ञकर्त्ता ऋत्विक्गण अथर्वा ऋषि के समान अग्नि का मन्थन करते हैं।

उपमान-*अथर्व*, ***उपमेय***-*वेधसः*, ***साधारण धर्म***-*अग्निं मन्थन्ति*, ***सादृश्यवाचक***-*वत् है।*

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि।।

(ऋ. 6/48/7)

अर्थ- हे तेजस्वी अग्ने! हमारे लिए धनवान् के समान अन्न और यश से युक्त तेज सम्पन्न होकर प्रदीप्त होओ।

उपमान-*रै*, ***उपमेय***-*अग्ने*, ***साधारण धर्म***- द्युमत् दीदिहि,

सादृश्यवाचक-वत् है।

ईळेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम्।
मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम॥

(ऋ. 7/2/3)

अर्थ- (हे अध्वर्यु!) तुम सब मनु के समान प्रजापति द्वारा प्रज्वलित अग्नि की सदैव पूजा करो।

***उपमान**-मनुष्, **उपमेय**-वः मनुना, **साधारण धर्म**-समिद्धम् अग्निं संमहेम, **सादृश्यवाचक**-वत् है।*

मनुष्वदग्न इह यक्षि देवान्भवा नो दूतो अभिशस्तिपावा।

(ऋ. 7/11/3)

अर्थ- हे दूत अग्ने! मनु के समान इस यज्ञ में देवताओं का यजन करो।

***उपमान**-मनुष्, **उपमेय**-दूतो अग्ने, **साधारण धर्म**-इह देवान् यक्षि, **सादृश्यवाचक**-वत् है।*

नूनमर्च विहायसे स्तोमेभिः स्थूरयूपवत्।
ऋषे वैयश्व दम्यायाग्नये॥

(ऋ. 8/23/24)

अर्थ- हे वैयश्व! स्थूरयूप नामक ऋषि के समान स्तोमों से अग्नि की स्तुति करो।

***उपमान**-स्थूरयूप, **उपमेय**-वैयश्व, **साधारण धर्म**- स्तोमेभिः अग्नये अर्च, **सादृश्यवाचक**-वत् है।*

यं त्वा जनास इन्धते मनुष्वदङ्गिरस्तम।
अग्ने स बोधि मे वचः॥

(ऋ. 8/43/27)

अर्थ- हे अग्ने! मनुष्य तुम्हें मनु के समान प्रज्वलित करते हैं।

***उपमान**-मनुष्, **उपमेय**-अग्ने त्वा जनासः, **साधारण धर्म**- इन्धते, **सादृश्यवाचक**-वत् है।*

मनुष्वद्यज्ञं सुधिता हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त।

(ऋ. 10/70/8)

अर्थ- इळा देवी मनु के यज्ञ के समान इस यज्ञ में हवि का सेवन करे।

***उपमान**-मनुष्, **उपमेय**-इळा देवी, **साधारण धर्म**- यज्ञं सुधिता*

हवींषि जुषन्त, ***सादृश्यवाचक****-वत् है।*

ओ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।

(ऋ. 10/110/8)

अर्थ- जैसे करने योग्य कार्य को मनु जानता है उसी प्रकार जानती हुई इळा देवी यहां आये।

उपमान*-मनुष्,* ***उपमेय****-इळा,* ***साधारण धर्म****-चेतयन्ती इह एतु,* ***सादृश्यवाचक****-वत् है।*

इस प्रकार (1) वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा, (2) समासगा श्रौती पूर्णोपमा (3) तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा-पूर्णोपमा के इन तीनों भेदों का उपर्युक्त कतिपय वेद की ऋचाओं में सुन्दर प्रयोग हुआ है।

लुप्तोपमा-

उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और **वाचक शब्द**-इन चारों अंगों में से एक अथवा दो अथवा तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा होती है। इसके 29 भेद माने गए हैं किन्तु यहां केवल 15 भेदों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। कुछ ऋचाओं में लुप्तोपमा का प्रयोग द्रष्टव्य है। जिनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है:-

(1) धर्मलुप्तोपमा-

साधारण धर्म के लोप होने पर धर्मलुप्तोपमा होती है। इसके पांच भेद हैं-धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती एवं आर्थी उपमा, धर्मलुप्ता समासगा श्रौती एवं आर्थी उपमा तथा तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा।
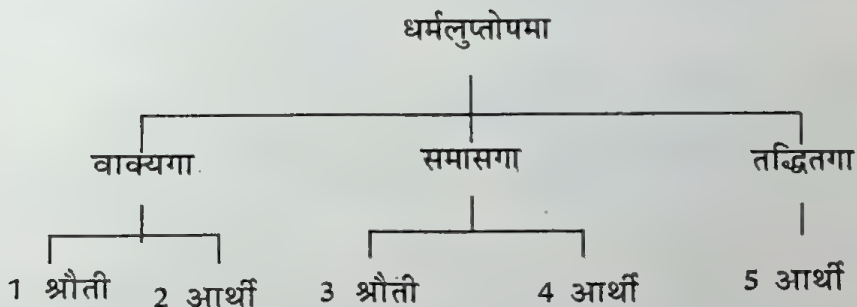
इन 5 भेदों में से केवल 2 भेदों के उदाहरण ही यहां उपलब्ध होते हैं।

(क) धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती लुप्तोपमा-

उपमान और उपमेय के साधारण धर्म का लोप होने पर वाचक पद का उपमान के साथ समास नहीं होने पर धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती लुप्तोपमा होती है। निम्नलिखित कुछ ऋचाओं में धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती लुप्तोपमा का प्रयोग हुआ है-

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।।

(ऋ. 1/77/3)

अर्थ- वह (अग्नि) सूर्य के समान है।

***उपमान**-मित्रः, **उपमेय**-सः, **सादृश्यवाचक**-न है। तेजस्वी रूप साधारण धर्म का उपादान नहीं किया गया है। अधिकोपमा है।*

निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः।।

(ऋ. 5/19/3)

अर्थ- (मनुष्य) शहद के समान इन स्तुतियों से तेजस्वी वैद्युत् अग्नि के बल को बढ़ाते हैं।

***उपमान**- मध्वा, **उपमेय**-एना, **सादृश्यवाचक**-न है। मधुरता रूप साधारण धर्म का लोप है।*

आ यो विवाय सख्या सखिभ्योऽपरिह्वृतो अत्यो न सप्तिः।

(ऋ. 10/6/2)

अर्थ- जो (अग्नि) मित्ररूप यजमानों के लिए अपरिहिंसित होकर सर्पणशील सततगामी अश्व के समान जाता है।

***उपमान**-सप्तिः अत्यः, **उपमेय**-यः, **सादृश्यवाचक**-न है। गमनक्रियारूप **साधारण धर्म** का उपपादन नहीं किया गया है। भूतोपमा है।*

अग्निर्ह नाम धायि दन्नपस्तमः सं यो वना युवते भस्मना दता।अभिप्रमुरा जुह्वा स्वध्वर इनो न प्रोथमानो यवसे वृषा।

(ऋ. 10/115/2)

अर्थ- अग्नि खाते हुए समर्थ पुष्टांग वृषभ के समान है।

***उपमान**-इनः प्रोथमानः वृषा यवसे, **उपमेय**-अग्निः, **सादृश्यवाचक**-न है। हविभक्षण रूप साधारण धर्म का लोप है। भूतोपमा है।*

(ख) धर्मलुप्ता समासगा श्रौती लुप्तोपमा

जहां साधारण धर्म का शब्दशः कथन नहीं किया जाता है तथा वाचक

पद का 'इवेन नित्य समासो विभक्त्यलोपश्च'' वार्तिक के अनुसार सुप्सुप् समास और विभक्यलोप होता है वहां धर्मलुप्ता समासगा श्रौती लुप्तोपमा होती है। निम्नलिखित कुछ ऋचाओं में इसका प्रयोग हुआ है। यास्क के अनुसार इन तीनों में द्रव्योपमा है।

यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः॥

(ऋ. 1/94/10)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है।

***उपमान**-वृषभस्य, **उपमेय**-ते रवः, **सादृश्यवाचक**-इव है। गंभीरता रूप साधारण धर्म का लोप है। वृषभस्येव में समास है।*

अहं हुवान आर्क्षे श्रुतर्वणि मदच्युति।

शर्धांसीव स्तुकाविनां मृक्षा शीर्षा चतुर्णाम्॥

(ऋ. 8/74/13)

अर्थ- बिखरे लोमों के समान दान में दिए गए अश्व के केशयुक्त सिरों को मैं (ऋषि) धोता हूं।

***उपमान**- शर्धांसि, **उपमेय**-मृक्षा शीर्षा, **सादृश्यवाचक**-इव है।*

धोना क्रिया रूप साधारण धर्म का लोप है। शर्धांसीव में समास है।

धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन्॥

(ऋ. 10/4/1)

अर्थ- हे अग्ने! तुम हविर्दाता यजमान के लिए मरुभूमि में निर्झर (जल-स्रोत) के समान हो।

***उपमान**-धन्वन् प्रपा, **उपमेय**-अग्ने, **सादृश्यवाचक**-इव है। सुखदायक रूप **साधारण धर्म** का लोप है। धन्वन्निव में समास है।*

(2) उपमानलुप्तोपमा-

जहां उपमा के चारों अंगों में से **उपमान** का शब्दशः कथन नहीं होता है वहां **उपमानलुप्तोपमा** होती है। **इसके 2 भेद है - वाक्यगा आर्थी उपमानलुप्तोपमा** और **समासगा आर्थी उपमानलुप्तोपमा। काव्यप्रकाश** में **उपमानलुप्ता** श्रौती उपमा को मान्यता नहीं मिली है। कारण इव आदि साधर्म्यवाचक पद **उपमान** में अन्वित होकर ही अपने अर्थ-सामर्थ्य का प्रतिपादन करते हैं। **उपमान** के लोप होने पर यह संभव नहीं हो सकता अतः श्रौती **उपमानलुप्ता** नहीं मानी गई है किन्तु यहां वेद में **उपमान** के अभाव में भी **उपमान** के विशेषणों का प्रयोग कर न आदि सादृश्यवाचक पद का प्रयोग

किया गया है। अतः **वाक्यगा उपमानलुप्ता** को श्रौती मान सकते हैं। ऐसा विद्वानों का मानना है।[1]

(क) वाक्यगा श्रौती उपमानलुप्तोपमा

निम्न ऋचा में- **वाक्यगा श्रौती उपमानलुप्तोपमा** का प्रयोग द्रष्टव्य है-

शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात्पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्रा॥

(ऋ. 1/79/2)

अर्थ- हास्ययुक्त कल्याणकारिणी (स्त्रियों) के समान बिजली से युक्त मेघ आता है।

***उपमेय**-अभ्रा स्तनयन्ति मिहः पतन्ति, **साधारण धर्म**-आगात्, **सादृश्यवाचक**-न है। यहां **उपमान** के विशेषण शिवाभिः स्मयमानाभिः का उल्लेख है किन्तु **उपमान** रूप "स्त्री" का शब्दशः कथन नहीं है।*

(ख) समासगा आर्थी उपमानलुप्तोपमा

कुछ ऋचाओं में समासगा आर्थी **उपमान**लुप्तोपमा का प्रयोग हुआ है-

महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते॥

(ऋ. 5/25/7)

अर्थ- जिस प्रकार स्त्री से (पुत्र) उत्पन्न होता है उसी प्रकार (हे अग्ने!) तुमसे धन उत्पन्न होता है।

***उपमेय**-त्वत् रयिः, **साधारण धर्म**-उदीरते, **सादृश्यवाचक**-इव है। पुत्र रूप **उपमान** का लोप है। महिषीव में समास है। द्रव्योपमा है।*

अयमग्निरुरुष्यत्यमृतादिव जन्मनः॥

(ऋ. 10/176/4)

अर्थ- यह अग्नि देवताओं से होनेवाले (भय) के समान मनुष्य से होने वाले (भय) से भी रक्षा करता है।

***उपमेय**-अयम् अग्निः जन्मनः, **साधारण धर्म**-उरुष्यति, **सादृश्यवाचक**-इव है। भय रूप **उपमान** का लोप है। अमृतादिव में समास है। द्रव्योपमा है।*

---

1. देखो, डॉ0 हेमलता सिंह, ऋग्वेद के अग्निसूक्तों की उपमाओं का अध्ययन, पृ0 148

(3) वाचकलुप्तोपमा-

यथा, इव, न आदि सादृश्यवाचक पदों का उपादान नहीं होने पर वाचकलुप्तोपमा होती है। इसके 6 भेद हैं- (1) समास में, (2) कर्म कारक से विहित क्यच् में, (3) अधिकरण कारक से विहित क्यच् में, (4) कृतकारक से विहित क्यङ् में, (5) कर्मोपपद णमुल् प्रत्यय के विधान में और (6) कर्त्रुपपद प्रत्यय के प्रयोग में। छः में से केवल दो -(1) समासगा वाचकलुप्तोपमा और (2) कर्तृ कारक से विहित क्यङ् के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा के उदाहरण मिलते हैं।

इन दोनों के अतिरिक्त (1) वाक्यगा वाचकलुप्तोपमा और (2) वतुप् प्रत्ययान्त वाचकलुप्तोपमा के भी उदाहरण मिलते हैं-जिनका काव्यप्रकाश में उल्लेख नहीं किया गया है।

(क) वाक्यगा वाचकलुप्तोपमा

उपमावाचक पद का शब्दशः कथन नहीं होने पर और उपमा के शेष तीनों अंगों के स्पष्टतया असमस्त पद द्वारा प्रतिपादन होने पर वाक्यगा वाचकलुप्तोपमा होती है। ऋग्वेद की कतिपय निम्नलिखित ऋचाओं में इसका द्रष्टव्य है-

अग्ने गृणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात्पूर्भिरायसीभिः॥

(ऋ. 1/58/8)

अर्थ- हे अग्ने! लोहे के दृढ़ किलों से युक्त नगर के समान स्तुतिकर्ता की पाप से रक्षा करो।

उपमान- *आयसीभिः पूर्भिः,* ***उपमेय***-*अग्ने गृणन्तं अंहसः,* ***साधारण धर्म***-*उरुष्य है। वाचक पद का लोप है।*

कृष्णप्रुतौ वेविजे अस्य सक्षिता उभा तरेते अभि मातरा शिशुम्।
प्राचाजिह्वं ध्वसयन्तं तृषुच्युतमा साच्यं कुपयं वर्धनं पितुः॥

(ऋ. 1/140/3)

अर्थ- (अरणि रूप) दोनों मातायें शिशु के (समान) अन्धकारनाशक (अग्नि) को उत्पन्न करती हैं।

उपमान-*शिशुम्,* ***उपमेय***-*उभा मातरा ध्वसयन्तं प्राचाजिह्वं,* ***साधारण धर्म***-*अभितरेते है। वाचक पद का लोप है।*

एवा नो अग्ने अमृतेषु पूर्व्य धीष्पीपाय बृहद्दिवेषु मानुषा।
दुहाना धेनुर्वृजनेषु कारवे त्मना शतिनं पुरुरूपमिषणि।

(ऋ. 2/2/9)

अर्थ- हे अग्ने! तुम पयस्विनी धेनु (के समान) यज्ञ में कर्म करने वाले को स्वयं विविध प्रकार का धन देते हो।

उपमान-*दुहाना धेनुः,* ***उपमेय***-*अग्ने त्मना,* ***साधारण धर्म***-*पुरुरूपं शतिनं इषणि है। वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।।

(ऋ. 2/35/4)

अर्थ- (जिस प्रकार) अभिमान से रहित युवतियां तरुण पुरुष को अलंकृत करती हैं (उसी प्रकार) शुद्ध करने वाला जल उस (अपां नपात् देव) के चारों ओर बहता है।

उपमान-*अस्मेराः युवतयः युवानं,* ***उपमेय***-*तं मर्मृज्यमानाः आपः,* ***साधारण धर्म***-*परियन्ति है। वाचक पद का लोप है।*

अजीजनन्नमृतं मर्त्यासोऽस्त्रेमाणं तरणिं वीळुजम्भम्।
दश स्वसारो अग्रुवः समीचीः पुमांसं जातमभि सं रभन्ते।।

(ऋ. 3/29/13)

अर्थ- पुत्रोत्पत्ति (के समान) अग्नि को उत्पन्न कर भगिनी रूप अंगुलियाँ प्रसन्न होकर शब्द करती हैं।

उपमान-*पुमांसं जातम्,* ***उपमेय***-*वीळुजम्भं,* ***साधारण धर्म***-*अजीजनन् समीचीः अभि संरभन्ते, वाचक पद का लोप है।*

यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत्।।

(ऋ. 4/2/7)

अर्थ- (हे अग्ने!) जो अतिथि के (समान) तुम्हारा आदर करता है उसके घर में अचल सम्पत्ति हो।

उपमान-*अतिथिम्,* ***उपमेय***-*यः ते,* ***साधारण धर्म***-*उदीरत्, वाचक पद का लोप है।*

अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते।।

(ऋ. 4/15/1)

अर्थ- अग्नि हमारे यज्ञ में शीघ्रगामी अश्व (के समान) सब ओर ले जाया जाता है।

उपमान- *वाजी,* ***उपमेय***-*अग्निः,* ***साधारण धर्म***-*परिणीयते, वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे।।

(ऋ. 5/3/9)

अर्थ- हे बलपुत्र अग्ने! (जैसे) पुत्र पिता की सेवा करता है (उसी प्रकार) जो विद्वान् तुम्हारी सेवा करता है, उसे तुम संकटों से पार कर दो।

उपमान-*पुत्रः पिता,* ***उपमेय***-*यः विद्वान् ते,* ***साधारण धर्म***-*ऊहे, वाचक पद का लोप है।*

वातस्य पत्मन्नीळिता दैव्या होतारा मनुषः।
इमं नो यज्ञमा गतम्।।

(ऋ. 5/5/7)

अर्थ- हे दिव्य होता! (वायु की गति के समान) गति से हमारे इस यज्ञ में आओ।

उपमान-*वातस्य,* ***उपमेय***-*दैव्या होतारा,* ***साधारण धर्म***-*आ गतम्, वाचक पद का लोप है।*

तव त्ये अग्ने अर्चयो महि व्राधन्त वाजिनः।।

(ऋ. 5/6/7)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारी वे किरणें आहुतियुक्त होकर अश्व के (समान) बहुत बढ़ती हैं।

उपमान-*वाजिनः,* ***उपमेय***-*अग्ने तव त्ये अर्चयः,* ***साधारण धर्म***-*महि व्राधन्त, वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

नवं नु स्तोममग्नये दिवः श्येनाय जीजनम्।।

(ऋ. 7/15/4)

अर्थ- श्येन पक्षी के (समान) शीघ्र गमनशील अग्नि के लिए नूतन स्तोत्र रचते हैं।

उपमान-*श्येनाय,* ***उपमेय***-*अग्नये,* ***साधारण धर्म***-*नु, वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

ताविद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम्।
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम्।।

(ऋ. 7/94/12)

अर्थ- (हे इन्द्राग्नी) तुम दोनों दुष्ट हिंसक शत्रु को मारने वाले साधन से घड़े के (समान) तोड़ डालो।

उपमान-*उदधिं,* ***उपमेय***-*दुःशंसं दुर्विद्वांसं मर्त्यं,* ***साधारण धर्म***-*हन्मना*

हतम्, वाचक पद का लोप है।

तं त्वा जनन्त मातरः कविं देवासो अङ्गिरः।।

(ऋ. 8/102/17)

अर्थ- देवों ने उस (अग्नि) को माता के (समान) उत्पन्न किया।

***उपमान**-मातरः, **उपमेय**-देवासः तं त्वा, **साधारण धर्म**-अजनन्त, वाचक पद का लोप है।*

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः।।

(ऋ. 10/1/2)

अर्थ- हे अग्ने! शिशु के (समान) तुम कल्याणकारी अरणियों के मन्थन से उत्पन्न होते हो।

***उपमान**-शिशुः, **उपमेय**-अग्ने, **साधारण धर्म**-ओषधीषु जातः, वाचक पद का लोप है।*

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।
अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य।।

(ऋ. 10/7/3)

अर्थ- द्युलोक में स्थित सूर्य के (समान) तेजस्वी अग्नि को पिता मानता हूं।

***उपमान**-सूर्यस्य, **उपमेय**-अग्निं, **साधारण धर्म**-शुक्रं पितरं मन्ये, वाचक पद का लोप है। अधिकोपमा है।*

प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।।

(ऋ. 10/8/1)

अर्थ- अग्नि वृषभ के (समान) अत्यधिक शब्द करता है।

***उपमान**-वृषभः, **उपमेय**-अग्निः, **साधारण धर्म**- रोरवीति, वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

यस्य धर्मन्त्स्वरेनीः सपर्यन्ति मातुरूधः।।

(ऋ. 10/20/2)

अर्थ- जैसे गौ अपना दुग्धपान कराकर बछड़े का पालन करती है उसी प्रकार सभी देवता अपनी गमनशील स्तुतियों से इस (अग्नि) की परिचर्या करते हैं।

***उपमान**-मातुः ऊधः, **उपमेय**-स्वः यस्य एनीः, **साधारण धर्म**-सपर्यन्ति,*

वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।

यत्ते मनुर्यदनीकं सुमित्रः समीधे अग्ने तदिदं नवीयः।।

(ऋ. 10/69/3)

अर्थ- हे अग्ने! मैं सुमित्र तुम्हारे रश्मि-संघ को मनु के (समान) प्रदीप्त करता हूं।

उपमान-*मनुः*, ***उपमेय***-*सुमित्रः*, ***साधारण धर्म***-*अग्ने ते अनीकं समीधे,वाचक पद का लोप है।*

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।

दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने।।

(ऋ. 10/110/6)

अर्थ- उषा और रात्रि इस यज्ञ-स्थल में दिव्य स्त्रियों के (समान) शोभन रूप से जाती हुई नियमपूर्वक प्रतिष्ठित हों।

उपमान-*दिव्ये योषणे*, ***उपमेय***-*उषासानक्ता*, ***साधारण धर्म***-*सुष्वयन्ती नि आ सदताम्, वाचक पद का लोप है।*

वातस्याश्वो वायोः सखाथ देवेषितो मुनिः।।

(ऋ. 10/136/5)

अर्थ- वायु का मित्र (अग्नि) वायु के (समान) गति से सर्वत्र व्याप्त है।

उपमान-*वातस्य*, ***उपमेय***-*वायोः सखा*, ***साधारण धर्म***-*अश्वः, वाचक पद का लोप है।*

प्रत्यस्य श्रेणयो ददृश्र एकं नियानं बहवो रथासः।

बाहू यदग्ने अनुमर्मृजानो न्यङ्ङुत्तानामन्वेषि भूमिम्।।

(ऋ. 10/142/5)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारी जलती हुई ज्वालाएं मुख्य लक्ष्य-स्थल की ओर जाते हुए अनेकों रथिकों के (समान) दिखाई देती हैं।

उपमान-*एकं नियानं बहवः रथासः*, ***उपमेय***-*अग्ने अस्य श्रेणयः*, ***साधारण धर्म***-*ददृश्र, वाचक पद का लोप है।*

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्।

इदं नो बर्हिरासदे।।

(ऋ. 10/188/1)

अर्थ- जातवेद (अग्नि) को अश्व के (समान) स्तुति द्वारा प्रेरित करो।

***उपमान**-अश्वं, **उपमेय**-जातवेदसं, **साधारण धर्म**-प्रहिनोत, वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

(ख) समासगा वाचकलुप्तोपमा :-

जहां सादृश्यवाचक पद का शब्दशः कथन नहीं होने पर समास के द्वारा ही उपमा की प्रतिपत्ति होने के कारण इव आदि उपमाबोधक पदों का लोप हो जाता है वहां समासगा वाचकलुप्तोपमा होती है। इसे द्विपदसमासगा वाचकलुप्तोपमा भी कहते हैं। निम्नलिखित ऋचाओं में इसका प्रयोग अवलोकनीय है-

तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परियन्ति यह्वीः॥

(ऋ. 2/35/9)

अर्थ- स्वर्ण के (समान) वर्णवाली नदियाँ इस (अपां नपात्) देव की महिमा को वहन करती हुई चारों ओर बहती हैं।

***उपमान**-हिरण्य, **उपमेय**-यह्वीः, **साधारण धर्म**-वर्णाः परियन्ति, वाचक पद का लोप है। हिरण्यवर्णाः में समास है। यास्क के अनुसार यहां वर्णोपमा है।*

यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य।

(ऋ. 2/35/11)

अर्थ- स्वर्ण के (समान) वर्ण वाले जिस (अपां नपात् देव) को युवतियां प्रज्वलित करती हैं।

***उपमान**-हिरण्य, **उपमेय**-यम्, **साधारण धर्म**-वर्ण, वाचक पद का लोप है। हिरण्यवर्णं में समास और वर्णोपमा है।*

अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥

(ऋ. 4/3/1)

अर्थ- स्वर्ण के (समान) रूपवाले अग्नि को अपनी रक्षा के लिए प्रज्वलित करो।

***उपमान**-हिरण्य, **उपमेय**-अग्निं, **साधारण धर्म**- रूपम्, वाचक पद का लोप है। हिरण्यरूपम् में समास है। यास्क के अनुसार यहां रूपोपमा है।*

हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्॥

(ऋ. 5/2/3)

अर्थ- (मैंने) स्वर्ण के (समान) दन्त अर्थात् ज्वालावाले तेजस्वी अग्नि को देखा है।

***उपमान**-हिरण्य, **उपमेय**-शुचिवर्णम्, **साधारण धर्म**-दन्तम्, वाचक*

पद का लोप है। हिरण्यदन्तम् में समास है।

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान्।
हिरण्यरूपं जनिता जजान॥

(ऋ. 10/20/9)

अर्थ- स्वर्ण के (समान) रूपवाले रथ को इस (अग्नि) के लिए प्रजापति ने उत्पन्न किया है।

***उपमान**-हिरण्य, **उपमेय**-यामः, **साधारण धर्म**-रूपम्, वाचक पद का लोप है। हिरण्यरूपम् में समास और रूपोपमा है।*

(ग) कर्तृकारक से विहित क्यङ् के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा-

''कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'' इस पणिनि सूत्र के अनुसार उपमानभूत क़र्तृपद से आचार अर्थ में विहित क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग होने पर यह लुप्तोपमा होती है।

निम्नलिखित कुछ ऋचाओं में कर्तृकारक से विहित क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा का प्रयोग अवलोकनीय है-

वृषायन्ते महे अत्याय पूर्वीर्वृष्णे चित्राय रश्मयः सुयामाः॥

(ऋ. 3/7/9)

अर्थ- देवों के आह्वानकर्ता (अग्नि) की अतिशय विस्तृत सर्वत्र व्याप्त ज्वालायें वृषभ के (समान) बलवान् होती हैं।

***उपमान**-वृषभ, **उपमेय**-पूर्वी सुयामाः रश्मयः, **साधारण धर्म**- वृषायन्ते। यहां **'वृषा इव आचरन्ति'** इस अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हुआ है। वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

अग्ने शुक्रेण शोचिषोरु प्रथयसे बृहत्।
अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वोमदे गर्भदधासि जामिषु विवक्षसे॥

(ऋ. 10/21/8)

अर्थ- हे अग्ने! तुम शब्द करते हुए वृषभ के (समान) आचरण करते हो।

***उपमान**-वृषभ, **उपमेय**-अग्ने, **साधारण धर्म**-वृषायसे, वाचक पद का लोप है। **'वृष इव आचरसि'** इस अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हुआ है। भूतोपमा है।*

तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥

(ऋ. 10/91/10)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम अध्वर्यु के (समान) आचरण करते हो।

***उपमान**-अध्वर्युः, **उपमेय**-त्वम्, **साधारण धर्म**-अध्वरीयसि। वाचक*

*पद का लोप है। ''**अध्वर्युः इव आचरसि**'' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हुआ है।*

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशदुत वा हविष्कृति।
तस्य होता भवसि यासि दूत्यमुप ब्रूषे यजस्यध्वरीयसि॥

(ऋ. 10/91/11)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम अध्वर्यु के (समान) आचरण करते हो।

***उपमान**-अध्वर्युः , **उपमेय**-अग्ने, **साधारण धर्म**-अध्वरीयसि। वाचक पद का लोप है। ''**अध्वर्युः इव आचरसि**'' इस अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हुआ है।*

अग्ने घृतस्नुस्त्रिर्ऋतानि दीद्यद्वर्तिर्यज्ञं परियन्त्सुक्रतूयसे॥

(ऋ. 10/122/6)

अर्थ- हे अग्ने! तुम अध्वर्यु के (समान) यज्ञ को सम्यक्तया निष्पन्न करने के लिए प्रवर्तित होते हो।

***उपमान**-सुक्रतुः, **उपमेय**-अग्ने, **साधारण धर्म**-सुक्रतूयसे, वाचक पद का लोप है। ''**शोभनः क्रतुः यस्य असौ सुक्रतुः यजमानः स इव आचरसि**'' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हुआ है।*

(घ) वतुप् प्रत्यय के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा-

घृतवन्तमुपमासि मधुमन्तं तनूनपात्।
यज्ञं विप्रस्य मावतः शशमानस्य दाशुषः॥

(ऋ. 1/142/2)

अर्थ- हे तनूनपात् अग्ने! मेरे समान ज्ञानी मनुष्य के मधुरता से युक्त तेजस्वी यज्ञ में उपस्थित होओ।

***उपमान**-मावतः, **उपमेय**-विप्रस्य, **साधारण धर्म**-शशमानस्य दाशुषः, वाचक पद का लोप है।*

मावतः मत्सदृशस्य यजमानस्य, यहां ''**युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्ये**'' इस सूत्र के अनुसार सादृश्य अर्थ में वतुप् प्रत्यय हुआ है और ''आसर्वनाम्नः'' इस सूत्र से आत्व होकर **मावतः** बना है।

(4) धर्मवाचकलुप्तोपमा-

साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द दोनों के लोप होने पर **धर्मवाचकलुप्तोपमा** होती है। यह दो प्रकार की होती है। (1) क्विप्गा धर्मवाचकलुप्तोपमा (2) समासगा धर्मवाचकलुप्तोपमा। इन दोनों भेदों के अतिरिक्त वाक्यगा धर्मवाचकलुप्तोपमा के उदाहरण भी वेद में उपलब्ध हैं, जिसका उल्लेख **काव्य प्रकाश** में नहीं किया गया है। कुछ उदाहरण

निम्नलिखित हैं :-

(क) क्विप्गा धर्मवाचकलुप्तोपमा-

जहां **''सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः''** इस वार्तिक के अनुसार उपमान, वाचक पद तथा कर्तृभूत प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है (जो तुल्याचार रूढ़ साधारण धर्म का वाचक होता है) तथा 'वेरपृक्तस्य'' इस पाणिनि सूत्र से नित्य लोप हुआ करता है जिसके कारण इव पद के लोप के साथ-साथ साधारण धर्म भी लुप्त होता है वहां क्विप्गा धर्मवाचकलुप्तोपमा होती है। निम्नलिखित ऋचा में इसका प्रयोग विचारणीय है-

आशुं दूतं विवस्वतो विश्वा यश्चर्षणीरभि।
आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशेविशे॥

(ऋ. 4/7/4)

अर्थ- भृगु के समान आचरण करने वाले दूतरूप अग्नि को मनुष्य अपने घरों में प्रदीप्त करते हैं।

उपमान-*भृगुः*, ***उपमेय***-*दूतम् आशुं केतुम्, साधारण धर्म एवं वाचक पद का लोप है। ''**भृगुवत् आचरन्तम्**'' भृगवाणं-यहाँ ''सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वक्तव्यः'' से क्विप्, शानच् और आदि उदात्त होने से आत्व होकर* ***भृगवाणं*** *बना है।*

(ख) वाक्यगा धर्मवाचकलुप्तोपमा-

साधारण धर्म और वाचक पद का लोप होने पर तथा उपमान और उपमेय का असमस्तपद द्वारा प्रतिपादन होने पर वाक्यगा धर्मवाचकलुप्तोपमा होती है। निम्नलिखित कुछ ऋचाओं में इसका प्रयोग द्रष्टव्य है-

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः॥

(ऋ. 1/75/4)

अर्थ- हे अग्ने! तुम स्तुत्य यजमानों के लिए मित्र (के समान) हो।

उपमान-*सखा*, ***उपमेय***-*अग्ने त्वम्, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

यतो घृतश्रीरतिथिरजायत वह्निर्वेधा अजायत॥

(ऋ. 1/128/4)

अर्थ- घृतभक्षक अग्नि अतिथि (के समान पूज्य) होकर उत्पन्न हुआ है।

उपमान-*अतिथिः*, ***उपमेय***-*घृतश्रीः, साधारण धर्म और वाचक पद का*

लोप है।

हव्यवाळग्निरजरश्चनोहितो दूळभो विशामतिथिर्विभावसुः।।

(ऋ. 3/2/2)

अर्थ- हविर्वाहक अग्नि प्रजाओं के लिए अतिथि (के समान पूज्य) है।
उपमान-*अतिथिः,* **उपमेय**-*हव्यवाट् अग्निः, साधारण धर्म एवं वाचक पद का लोप है।*

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः।।

(ऋ. 4/1/20)

अर्थ- अग्नि सम्पूर्ण मनुष्यों के लिए अतिथि (के समान पूज्य) है।

उपमान-*अतिथिः,* **उपमेय**-*अग्निः, साधारण धर्म एवं वाचक पद का लोप है।*

मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः कविप्रशस्तो अतिथिः शिवो नः।।

(ऋ. 5/1/8)

अर्थ- ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित कल्याणकारी (अग्नि) अतिथि (के समान पूज्य) है।

उपमान-*अतिथिः,* **उपमेय**-*कविप्रशस्तः शिवः, साधारण धर्म एवं वाचक पद का लोप है।*

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि।।

(ऋ. 5/4/5)

अर्थ- हे अग्ने! तुम घर में विद्वान् अतिथि (के समान पूज्य) हो।

उपमान- *विद्वान् अतिथिः,* **उपमेय**-*अग्ने, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे।।

(ऋ. 5/8/2)

अर्थ- हे अग्ने! मनुष्य अतिथि (के समान पूज्य) तुम्हें वेदी में स्थापित करते हैं।

उपमान-*अतिथिं,* **उपमेय**-*अग्ने, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

ये ते शुक्रासः शुचयः शुचिष्मः क्षां वपन्ति विषितासो अश्वाः।।

(ऋ. 6/6/4)

अर्थ- हे दीप्तिमान् (अग्ने!) तुम्हारा शुभ्र तेज विमुक्त अश्व (के समान सर्वत्र गमन करता) है।

***उपमान**-विषितास: अश्वा:, **उपमेय**-शुचिष्म: ते शुक्रास: शुचय:, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवा:॥

(ऋ. 6/7/1)

यजमानों के लिए अतिथि (के समान पूज्य) अग्नि को ऋत्विक्गण प्रकट करते हैं।

***उपमान**-अतिथि, **उपमेय**-अग्निम्, साधारण धर्म एवं वाचक पद का लोप है।*

वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवा:॥

(ऋ. 6/7/2)

अर्थ- रथ (के समान यज्ञ द्वारा मनुष्यों के नियन्ता) वैश्वानर अग्नि को ऋत्विक्गण अरणिमन्थन कर उत्पन्न करते हैं।

***उपमान**-अध्वराणां रथ्यं, **उपमेय**-वैश्वानरं, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

इममू षु वो अतिथिमुषर्बुधं विश्वासां विशां पतिमृञ्जसे गिरा॥

(ऋ. 6/15/1)

अर्थ- तुम सब अतिथि (के समान पूज्य) इस (अग्नि) को स्तुति से प्रसन्न करो।

***उपमान**-अतिथिम्, **उपमेय**-इमम्, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

अग्निमग्निं व: समिधा दुवस्यत प्रियं प्रियं वो अतिथिं गृणीषणि॥

(ऋ. 6/15/6)

अर्थ- तुम सब अतिथि (के समान पूज्य) अग्नि की समिधा से परिचर्या करो।

***उपमान**-अतिथिं, **उपमेय**-अग्निम्, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

त्वमिमा वार्या पुरु दिवोदासाय सुन्वते। भरद्वाजाय दाशुषे॥

(ऋ. 6/16/5)

अर्थ- (हे अग्ने!) (जैसे) तुमने यह वरण करने योग्य धन सोमाभिषव करनेवाले राजा दिवोदास को (दिया था उसी प्रकार) हविर्दाता मुझ भरद्वाज ऋषि को भी (प्रदान करो)।

उपमान-*दिवोदासाय*, ***उपमेय***-*सुन्वते दाशुषे भरद्वाजाय, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

अधा मही न आयस्यना धृष्टो नृपीतये।
पूर्भवा शतभुजिः॥

(ऋ. 7/15/14)

अर्थ- हे अप्रतिधर्षणीय अग्ने! लोहे की बनी अत्यन्त विस्तृत पुरी (के समान) तुम शत्रुओं से हमारी रक्षा करो।

उपमान-*शतभुजिः पूः*, ***उपमेय***-*अनाधृष्टः, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

अतिथिं मानुषाणां सूनुं वनस्पतीनाम्।
विप्रा अग्निमवसे प्रत्नमीळते॥

(ऋ. 8/23/25)

अर्थ-अतिथि (के समान पूज्य) अग्नि की स्तुति करते हैं।

उपमान- *अतिथिं*, ***उपमेय***-*अग्निं, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन॥

(ऋ. 8/44/1)

अर्थ- अतिथि (के समान पूज्य) अग्नि की समिधा से परिचर्या करो।

उपमान-*अतिथिम्*, ***उपमेय***-*अग्निम्, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

स नो वस्व उप मास्यूर्जो नपान्माहिनस्य।
सखे वसो जरितृभ्यः॥

(ऋ. 8/71/9)

अर्थ- हे मित्र (के समान हितकारी) वासक अग्ने! हमें महान् धन प्रदान करो।

उपमान-*सखे*, ***उपमेय***-*वसो, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

इयं ते नव्यसी मतिरग्ने अधाय्यस्मदा।
मन्द्र सुजात सुक्रतोऽमूर दस्मातिथे।।

(ऋ. 8/74/7)

अर्थ- अतिथि (के समान पूज्य) अग्ने! यह नवीन स्तुति तुम्हें अर्पित करते हैं।

***उपमान**-अतिथे, **उपमेय**-अग्ने, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।
सर्व तदस्तु ते घृतम्।।

(ऋ. 8/102/21)

अर्थ- (हे अग्ने!) जलने के बाद अवशिष्ट काष्ठ तुम्हारे लिए घृत (के समान प्रिय) हो।

उपमान-घृतम्, **उपमेय**-*ते तत् सर्वं साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

मा नो हृणीतामतिथिर्वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः।

(ऋ. 8/103/12)

अर्थ- अतिथि (के समान पूज्य) अग्नि हमें किसी भी प्रकार अवरुद्ध न करे।

***उपमान**-अतिथिः, **उपमेय**-अग्निः, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

प्रत्यर्धि देवस्यदेवस्य मह्ना श्रिया त्वग्निमतिथिं जनानाम्।।

(ऋ. 10/1/5)

अर्थ- यजमानों के लिए (अतिथि के समान पूज्य) अग्नि की स्तुति करते हैं।

***उपमान**-अतिथिम्, **उपमेय**-अग्निम्, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।*

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः।।

(ऋ. 10/1/6)

अर्थ- स्वर्ण (के समान भास्वर तेज वाला) अग्नि देवों का यजन करे।

उपमान-पेशनानि, ***उपमेय**-अग्निः, साधारण धर्म और वाचक पद का*

लोप है।

(ग) समासगा धर्म - वाचकलुप्तोपमा-

उपमान और **उपमेय** के समस्त होने पर तथा साधारण धर्म और वाचक पद का लोप होने पर **समासगा धर्म-वाचक लुप्तोपमा** होती है। निम्न ऋचा में इसका प्रयोग द्रष्टव्य है-

वेपिष्ठो अंगिरसां यद्ध विप्रो मधु च्छन्दो भनति रेभ इष्टौ।।

(ऋ. 6/11/3)

अर्थ- मेधावी स्तोता यज्ञ में मधु (के समान मदकारी) स्तोत्र को उच्चारित करते हैं।

उपमान-मधु, **उपमेय**-छन्दः, साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है। **मधुच्छन्दः** में समास है।

(5) उपमेयलुप्तोपमा :-

उपमा के चारों अंगों में से उपमेय के लोप होने पर उपमेयलुप्तोपमा होती है। **काव्य प्रकाश** में इस भेद का अलग से उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु वेद में इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। अकेले ऋग्वेद में ही अग्नि सूक्तों की निम्नलिखित 33 ऋचाओं में उपमेयलुप्तोपमा का प्रयोग हुआ है-

ऊर्ध्व ऊ षु णु ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।।

(ऋ. 1/36/13)

अर्थ- (हे यूप!)तेजस्वी सूर्य के समान हमारी रक्षा के लिए उन्नत होकर स्थित रहो।

उपमान-*देवः सविता,* ***साधारण धर्म***- *ऊर्ध्वः सुतिष्ठ,* ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***-*यूप का लोप है। अधिकोपमा है।*

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्।।

(ऋ. 1/65/1)

अर्थ- गुहा में छिपे पशु की चोरी करने वाले चोर के समान छिपे (अग्नि) को याजकगण पता लगा लेते हैं।

उपमान-*पश्वा तायुं,* ***साधारण धर्म***-*गुहा चतन्तं,* ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। हीनोपमा है।*

ऋतस्य देवा अनु व्रता गुर्भुवत् परिष्टिर्द्यौर्न भूम।।

(ऋ. 1/65/2)

अर्थ- जैसे आकाश पृथ्वी पर व्याप्त है उसी प्रकार (अग्नि) सर्वत्र

व्याप्त है।

उपमान-द्यौः, साधारण धर्म-भूम, सादृश्यवाचक-न है। उपमेय-अग्नि का लोप है।

सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनोन्नवन्त गावः स्वर्दृशीके॥

(ऋ. 1/66/10)

अर्थ- किनारों को तोड़ती हुई प्रवाहित होने वाली नदी के समान (अग्नि की ज्वाला) प्रवाहित होती है।

उपमान-क्षोदः सिन्धुः, साधारण धर्म-प्र नीचीः ऐनोत्, सादृश्यवाचक-न है। उपमेय-अग्नि-ज्वाला का लोप है।

अजो न क्षां, दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां, मन्त्रेभिः सत्यैः॥

(ऋ. 1/67/3)

अर्थ- अग्नि अजन्मा सूर्य के समान पृथ्वी को धारण करता है।

उपमान-अजः, साधारण धर्म-क्षां दाधार, सादृश्यवाचक-न है। उपमेय-अग्नि का लोप है। अधिकोपमा है।

जने न शेव आहूर्यः सन्मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे॥

(ऋ. 1/69/2)

अर्थ- (अग्नि) मनुष्यों में हितैषी पुरुष के समान यज्ञ के मध्य में आहूत होकर यज्ञ-गृह में शोभायमान होता है।

उपमान-जने शेव, साधारण धर्म-आहूर्यः रण्वः, सादृश्यवाचक-न है। उपमेय -अग्नि का लोप है।

रथं न चित्रं वपुषाय दर्शतं मनुर्हितं सदमित् राय ईमहे॥

(ऋ. 3/2/15)

अर्थ- रथ के समान सुन्दर (अग्नि) से धन माँगते हैं।

उपमान-रथं, साधारण धर्म-चित्रं, सादृश्यवाचक-न है। उपमेय-अग्नि का लोप है।

अनूनेन बृहता वक्षथेनोप स्तभायदुपमिन्न रोधः॥

(ऋ. 4/5/1)

अर्थ- अग्नि सम्पूर्ण विश्व को उसी प्रकार थामे हुए है जिस प्रकार स्तम्भ भवन को आधार देता है।

उपमान-उपमित् रोधः, साधारण धर्म- उपस्तभायत्, सादृश्यवाचक-न है। उपमेय- अग्नि का लोप है।

का मर्यादा वयुना कद्ध वाममच्छा गमेम रघवो न वाजम्।

(ऋ. 4/5/13)

अर्थ- (हम सब) ऐश्वर्य की ओर उसी प्रकार जायें जैसे वेगवान् अश्व युद्ध की ओर जाते हैं।

उपमान-*रघवः वाजं*, ***साधारण धर्म***-*वामम् गमेम*, ***सादृश्यवाचक***- *न है।* ***उपमेय***- *'हम सब' का लोप है। भूतोपमा है।*

वातस्य मेळिं सचते निजूर्वन्नाशुं न वाजयते हिन्वे अर्वा।

(ऋ. 4/7/11)

अर्थ- अश्वारोही जिस प्रकार अश्व को पुष्ट करता है उसी प्रकार (अग्नि अपनी ज्वाला) को पुष्ट करता है।

उपमान-*अर्वा आशुं*, ***साधारण धर्म***-*वाजयते हिन्वे*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***-*'अग्नि ज्वाला' का लोप है। भूतोपमा है।*

क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं समुद् यूथं न पुरु शोभमानम्।।

(ऋ. 5/2/4)

अर्थ- विचरते हुए पशुओं के झुण्ड के समान स्वयं बहुत शोभित (अग्नि) को देखा है।

उपमान- *यूथं*, ***साधारण धर्म***-*चरन्तं पुरु शोभमानम्*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। भूतोपमा है।*

ञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि।।

(ऋ. 5/3/2)

अर्थ- सूर्य के समान श्रेष्ठ (अग्नि) को गौ के घृत से सींचते हैं।

उपमान-*मित्रं*, ***साधारण धर्म***-*सुधितं गोभिः अञ्जन्ति*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। अधिकोपमा है।*

यजस्व होतरिषितो यजीयानग्ने बाधो मरुतां न प्रयुक्ति।।

(ऋ. 6/11/1)

अर्थ- हे अग्ने! मरुतों के बल के समान (बलवान् शत्रुओं का) विनाश करो।

उपमान-*मरुतां*, ***साधारण धर्म***-*बाधः*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***-*शत्रु का लोप है।*

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्।।

(ऋ. 7/3/2)

अर्थ- घास खाते हुए, शब्द करते हुए अथवा घूमते हुए अश्व के समान (महान् निरोधक दाव रूप अग्नि) जब वृक्षों में अवस्थित होता है।

उपमान-*अश्वः*, ***साधारण धर्म***-*यवसे अविष्य प्रोथत् यदा व्यस्थात्*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***- *अग्नि का लोप है। भूतोपमा है।*

उषो न जारः पृथु पाजो अश्रेद्दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः॥

(ऋ. 7/10/1)

अर्थ- (अग्नि) उषा-प्रेमी सूर्य के समान विस्तीर्ण तेज को धारण करता है।

उपमान-*उषः जारः*, ***साधारण धर्म***-*पृथु पाजः अश्रेत्*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***- *अग्नि का लोप है। अधिकोपमा है।*

दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो धिया वाजं सिषासतः॥

(ऋ. 8/103/11)

अर्थ- जिस प्रकार प्रवहणाभिमुख को समुद्र की तरंग तैरने में असमर्थ कर देती है उसी प्रकार (जिस अग्नि की ज्वाला) संग्राम को नष्ट करने वाले शत्रु को असमर्थ कर देती है।

उपमान- *प्रवणे ऊर्मयः*, ***साधारण धर्म***-*धिया वाजं सिषासतः यस्य दुष्टराः*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***- *'ज्वाला' का लोप है।*

प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति॥

(ऋ. 10/30/1)

अर्थ- (गमनशील सोम) द्योतमान उदक की ओर मन के समान शीघ्रता से जाता है।

उपमान-*मनसः*, ***साधारण धर्म***- *प्रयुक्ति*, ***सादृश्यवाचक***-*न है।* ***उपमेय***- *सोम का लोप है।*

नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम्॥

(ऋ. 10/46/5)

अर्थ- हरित लोमयुक्त अश्व के समान (स्वर्णिम ज्वालायुक्त अग्नि की) हवि द्वारा स्तुति करके कर्म-फल को प्राप्त करो।

उपमान-*अर्वाणं*, ***साधारण धर्म***-*हिरिश्मश्रुं* , ***सादृश्यवाचक***- न है। ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है।* भूतोपमा है।

इव वाचक पद द्वारा-

वनेषु जायुर्मर्तेषु मित्रो वृणीते श्रुष्टिं राजेवाजुर्यम्॥

(ऋ. 1/67/1)

अर्थ- जैसे राजा सर्वगुणसम्पन्न और वीर पुरुष का वरण करता है उसी प्रकार अग्नि सहायता करनेवालों को स्वीकार करता है।

उपमान-*राजा अजुर्यं,* ***साधारण धर्म***-*श्रुष्टिं वृणीते,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।* ***उपमेय***- *अग्नि का लोप है। द्रव्योपमा है।*

उद्यंयमीति सवितेव बाहू उभे सिचौ यतते भीम ऋञ्जन्।।

(ऋ. 1/95/7)

अर्थ- (अग्नि) सूर्य के समान अपनी बाहुरूपी किरणों को ऊपर उठाता है।

उपमान- *सविता,* ***साधारण धर्म***-*बाहू उद्यंयमीति,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।* ***उपमेय***- *अग्नि का लोप है। अधिकोपमा और द्रव्योपमा है।*

रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणिन्मरुतां स्तोममृध्याम्।।

(ऋ. 5/60/1)

अर्थ- ऐश्वर्य-सम्पन्न रथ के समान (मैं) धन-सम्पन्न होऊँ।

उपमान-*वाजयद्भिः रथैः,* ***साधारण धर्म***- *प्रभरे,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।* ***उपमेय***- *मैं का लोप है। द्रव्योपमा है।*

इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि।।

(ऋ. 7/6/1)

अर्थ- बलवान् इन्द्र के समान (वैश्वानर अग्नि के) कर्मों का विशेष रूप से वर्णन एवं स्तुति करता हूं।

उपमान-*इन्द्रस्य,* ***साधारण धर्म***-*कृतानि प्रविवक्मि,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।* ***उपमेय***- *वैश्वानर का लोप है। द्रव्योपमा है।*

इमां प्रत्नाय सुष्टूतिं नवीयसीं वोचेयमस्मा उशते श्रुणोतु नः।
भूया अन्तरा हृद्यस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।

(ऋ. 10/91/13)

अर्थ- जैसे शोभन-वस्त्र मण्डिता स्त्री पति के हृदय को अनुरंजित करती है उसी प्रकार मैं इस अग्नि के हृदय को सुन्दर स्तोत्रों द्वारा अनुरंजित करने वाला होऊँ।

उपमान-*पत्ये सुवासाः उशती जाया,* ***साधारण धर्म***-*अस्मै नवीयसीं सुष्टुतिं वोचेयम्,* ***सादृश्यवाचक***-*इव है।* ***उपमेय***- *मैं का लोप है। द्रव्योपमा है।*

सद्यो जात ओषधीभिर्ववक्षे यदी वर्धन्ति प्रस्वो घृतेन।

आप इव प्रवता शुम्भमाना उरुष्यदग्निः पित्रोरुपस्थे।।

(ऋ. 3/5/8)

अर्थ- जन्म लेते ही अग्नि जब ओषधियां द्वारा धारण किया जाता है तब प्रवाहित जल के समान (ओषधियां) वृद्धि को प्राप्त होती हैं।

***उपमान**-प्रवता आपः, **साधारण धर्म**-वर्धन्ति प्रस्वः, **सादृश्यवाचक**-इव है। **उपमेय**- ओषधियों का लोप है। द्रव्योपमा है।*

शूर इव धृष्णुश्च्यवनः सुमित्रः प्र नु वोचं वाध्र्यश्वस्य नाम।

(ऋ. 10/69/5)

अर्थ - (हे अग्ने! तुम) वीर पुरुष के समान घर्षणशील शत्रु को नष्ट कर दो।

***उपमान**-शूर, **साधारण धर्म**-धृष्णुः च्यवनः, **सादृश्यवाचक**-इव है। **उपमेय**- अग्नि का लोप है। द्रव्योपमा है।*

<u>वत् द्वारा-</u>

तमु त्वा वाजसातममङ्गिरस्वद्धवामहे। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः।।

(ऋ. 1/78/3)

अर्थ- अंगिरा के समान (हम) बहुत सारा धन देनेवाले तुम्हारा आह्वान करते हैं।

***उपमान**-अङ्गिरः, **साधारण धर्म**-वाजसातमम् त्वा हवामहे, **सादृश्यवाचक**-वत् है। **उपमेय**- हम का लोप है। सिद्धोपमा है।*

प्र विश्वसामन्नत्रिवदर्चा पावकशोचिषे।।

(ऋ. 5/22/1)

अर्थ- (हे यजमान!) तुम पावक (अग्नि) का अत्रि के समान पूजन करो।

***उपमान**-अत्रि, **साधारण धर्म**-पावक शोचिषे अर्च, **सादृश्यवाचक**-वत् है। **उपमेय**- यजमान का लोप है। सिद्धोपमा है।*

आभिर्विधेमाग्नये ज्येष्ठाभिर्व्यश्ववत्।
मंहिष्ठाभिर्मतिभिः शुक्रशोचिषे।।

(ऋ. 8/23/23)

अर्थ- (मैं) अपने पिता व्यश्व के समान इन श्रेष्ठ स्तुतियों से अग्नि की परिचर्या करता हूं।

***उपमान**-व्यश्व, **साधारण धर्म**-अग्नये आभिः मतिभिः विधेम,*

सादृश्यवाचक-*वत् है। **उपमेय**- मैं का लोप है। सिद्धोपमा है।*

अभ्यर्च नभाकवदिन्द्राग्नी यजसा गिरा॥

(ऋ. 8/40/4)

अर्थ- हे नाभाक, तुम इन्द्राग्नी की नभाक के समान स्तुति से परिचर्या करो।

उपमान- *नभाक,* ***साधारण धर्म***-*इन्द्राग्नी यजसा गिरा अभ्यर्च,* ***सादृश्यवाचक***- *वत् है।* ***उपमेय***- *नाभाक का लोप है। सिद्धोपमा है।*

प्र ब्रह्माणि नभाकवदिन्द्राग्निभ्यामिरज्यत॥

(ऋ. 8/40/5)

अर्थ- (मैं) इन्द्राग्नी के लिये नाभाक के समान स्तोत्रों को प्रेरित करता हूँ।

उपमान- *नभाक,* ***साधारण धर्म***-*इन्द्राग्निभ्याम् ब्रह्मापि प्रइरज्यत,* ***सादृश्यवाचक***- *वत् है।* ***उपमेय***- *मैं का लोप है। सिद्धोपमा है।*

यथा-

एवा वामह्व ऊतये यथाहुवन्त मेधिराः।
इन्द्राग्नी सोमपीतये॥

(ऋ. 8/38/9)

अर्थ- हे इन्द्राग्नि प्राचीन ज्ञानियों के समान (मैं) अपनी रक्षा के लिए तुम्हारा आह्वान करता हूँ।

उपमान-*मेधिराः,* ***साधारण धर्म***-*इन्द्राग्नी वां आहुवन्तः ऊतये अह्वे,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।* ***उपमेय***- *मैं का लोप है। कर्मोपमा है।*

मा नो अस्मिन्महाधने परा वर्ग्भारभृद्यथा।

(ऋ. 8/75/12)

अर्थ- जैसे भारवाहक भार को लक्ष्य तक पहुंचा देता है उसी प्रकार (हे अग्ने!) इस युद्ध में हमारा परित्याग मत करो अपितु लक्ष्य तक पहुंचा दो।

उपमान-*भारभृत्,* ***साधारण धर्म***-*मा परा वर्क्,* ***सादृश्यवाचक***-*यथा है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। कर्मोपमा है।*

आ-

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।

(ऋ. 10/11/6)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम नक्षत्रादि से दीप्त रात्रि को नष्ट करने वाले सूर्य के समान द्यावा पृथ्वी पर अपनी ज्योति को फैलाओ।

उपमान-*जार भगम्*, ***साधारण धर्म***- *पितरा उदीरय*, ***सादृश्यवाचक***- *आ है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। अधिकोपमा है।*

उपमेय-धर्म-लुप्तोपमा-

उपमेय और साधारण धर्म के लोप होने पर **उपमेय-धर्म-लुप्तोपमा** होती है। निम्न ऋचा में इसका प्रयोग अवलोकनीय है -

अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः॥

(ऋ. 1/70/4)

अर्थ- अमर और उत्तम कर्म करने वाला (अग्नि) सबको उसी प्रकार (आश्रय देता) है जैसे राजा अपनी प्रजा को आश्रय देता है।

उपमान - विशां, **सादृश्यवाचक**- न है। **उपमेय** - अग्नि और **साधारण धर्म** - आश्रय का लोप है।

(7) उपमेय-वाचक लुप्तोपमा-

उपमेय और वाचक पद के लोप होने पर उपमेय वाचक-लुप्तोपमा होती है। कुछ ऋचाओं में इसका प्रयोग हुआ है। जैसे-

पुरु प्रैषस्ततुरिर्यज्ञसाधनोऽच्छिद्रोतिः शिशुरादत्त संरभः।

(ऋ. 1/145/3)

अर्थ- शिशु के (समान अग्नि) हवि को स्वीकार करता है।

उपमान-*शिशुः*, ***साधारण धर्म***- *आदत्त, उपमेय अग्नि और वाचक पद का लोप है।*

समानं वत्समभि संचरन्ती विष्वग्धेनू वि चरतः सुमेके॥

(ऋ. 1/146/3)

अर्थ- जैसे गौ बछड़े की ओर जाती है (उसी प्रकार यजमान-दम्पति) अग्नि की ओर जाते हैं।

उपमान-*धेनु वत्सम्*, ***साधारण धर्म***-*सुमेके विष्वक् चरतः*, ***उपमेय***-*यजमान दम्पति और वाचक पद का लोप है। भूतोपमा है।*

ऊर्णम्रदा वि प्रथस्वाभ्यर्का अनूषत॥

(ऋ. 5/5/4)

अर्थ- ऊन के (समान) कोमल (आसन) बिछाओ।

उपमान-*ऊर्णम्रदा*, ***साधारण धर्म***-*प्रथस्व*, ***उपमेय***- *आसन और* **वाचक**

पद *का लोप है।*

चरन्वत्सो रुशन्निह निदातारं न विन्दते॥

(ऋ. 8/72/5)

अर्थ- (अग्नि) वत्स (के समान) चपलता से दौड़ने वाला है।

उपमान-*वत्सः*, ***साधारण धर्म***- *चरन्*, ***उपमेय***-*अग्नि और* ***वाचक पद*** *का लोप है। भूतोपमा है।*

ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।

(ऋ. 10/5/3)

अर्थ- सत्य स्वरूप द्यावा पृथ्वी शिशु के (समान अग्नि का) संवर्धन करती हुई धारण करती है।

उपमान-*शिशुं*, ***साधारण धर्म***- *वर्धयन्ती जज्ञतुः*, ***उपमेय***-*अग्नि और* ***वाचक पद*** *का लोप है।*

(8) त्रिलुप्ता — उपमेय-धर्म- वाचकलुप्तोपमा

उपमेय, साधारण धर्म और वाचक पद तीनों के लोप होने पर त्रिलुप्ता-उपमेय धर्म वाचकलुप्तोपमा होती है। निम्नलिखित ऋचाओं में इसका प्रयोग द्रष्टव्य है -

अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः॥

(ऋ. 1/72/2)

अर्थ- सर्वत्र वर्तमान (अग्नि) वत्स के (समान) है।

उपमान-*वत्सं है।* ***उपमेय, साधारण धर्म*** *और* ***वाचक*** *पदों का लोप है। भूतोपमा है।*

आ जातं जातवेदसि प्रियं शिशीतातिथिम्। स्योन आगृहपतिं॥

(ऋ. 6/16/42)

अर्थ- अतिथि (के समान पूज्य अग्नि की यज्ञवेदी में स्थापना करो)।

उपमान-*अतिथिम् है।* ***उपमेय, साधारण धर्म*** *और* ***वाचक पद*** *तीनों का लोप है। लुप्तोपमा के 15 भेदों का अनेक ऋचाओं में सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त उपमा के पूर्णोपमा और लुप्तोपमा गत भेद-प्रभेदों के अतिरिक्त उपमा के एक ओर प्रकार "****मालोपमा****" के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं -*

मालोपमा-

भिन्न-भिन्न साधारण धर्म उपात्त होने पर एक और प्रकार की उपमा

होती है जिसे एक ही उपमेय के लिए अनेक उपमानों के (सजातीय और विजातीय पुष्पों के समान) गुम्फन के कारण मालोपमा कहा जाता है।

वैदिक मालोपमा की विशेषता यह है कि अधिकांश ऋचाओं में उपमेय का शब्दश: कथन नहीं किया गया है और उपमानों की संख्या अधिक से अधिक चार तथा कम से कम दो है। अकेले ऋग्वेद की ही अग्निसूक्तों में 136 ऐसी ऋचाएं हैं जिनमें मालेपमा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

उपमेय सहित चार उपमान वाली मालोपमा-

कतिपय ऋचाओं में चार उपमान वाली मालोपमा का प्रयोग इस प्रकार हुआ है-

मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादथ बर्हिषि यक्षि च प्रियम्॥

(1/31/17)

अर्थ-हे अग्ने मनु, अंगिरा, ययाति और पूर्व पुरुषों के समान यज्ञ-स्थल में आओ।

***उपमान**-मनुष्, अंगिर:, ययाति, पूर्व, **उपमेय**-अग्ने, **साधारण धर्म**-अच्छ आ याहि, **सादृश्यवाचक**-वत् है। एक उपमेय के चार उपमान, एक साधारण धर्म है। सिद्धोपमा है।*

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधो हवम्॥

(ऋ. 1/45/3)

अर्थ-हे जातवेद अग्ने! जैसे तुमने प्रियमेध, अत्रि, विरूप और अंगिरस् की प्रार्थना सुनी थी उसी प्रकार मुझ प्रस्कण्व की भी प्रार्थना श्रवण करो।

***उपमान**-प्रियमेध, अत्रि, विरूप, अङ्गिर:, **उपमेय**-जातवेद:, **साधारण धर्म**-हवम् श्रुधी, **सादृश्यवाचक**-वत् है। एक उपमेय के चार उपमान, एक साधारण धर्म है। सिद्धोपमा है।*

3 न, 1 इव-

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो होतेव सद्म विधतो वि तारीत्॥

(ऋ. 1/73/1)

अर्थ-यह (अग्नि) पिता से प्राप्त सम्पत्ति की तरह अन्न का दाता, ज्ञानी के उपदेश के समान सन्मार्ग-प्रवर्तक, सद्गृहस्थ के घर सत्कृत अतिथि

के समान सुखदायी और होता के समान यजमान के घर की वृद्धि करता है।

उपमान-*पितृवित्तः रयिः, चिकितुषः शासुः, स्योनशीः अतिथिः, होता,* **उपमेय**-*यः,* **साधारण धर्म**-*वयोधाः, सुप्रणीतिः, प्रीणानः सद्म विधतः वितारीत्,* **सादृश्यवाचक**-*3 न, एक इव हैं। एक उपमेय के 4 उपमान, 4 साधारण धर्म हैं। द्रव्योपमा है।*

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥

(ऋ. 1/73/3)

अर्थ-जो (अग्नि) सूर्य के समान विश्व का धारणकर्ता, अनुकूल मित्र से युक्त राजा के समान पृथ्वी पर निवास करता है, मनुष्य इनके सामने इस प्रकार बैठते हैं, जैसे पिता के घर में पुत्र बैठता है तथा जो पति से सेवित पतिव्रता स्त्री की तरह विशुद्ध है।

उपमान-*देवः, हितमित्रः-राजा, वीरा, पतिजुष्टा नारी,* **उपमेय**-*यः,* **साधारण धर्म**-*विश्वधाया, पृथिवीं उपक्षेति, पुरःसदः, शर्मसदः, अनवद्या,* **सादृश्यवाचक**-*वाचक 3 न, एक इव है। एक उपमेय के 4 उपमान, 4 साधारण धर्म हैं। अधिकोपमा और द्रव्योपमा है।*

2 न, 2 इव-

आ यो वना तातृषाणो न भाति वार्ण पथा रथ्येव स्वानीत्।
कृष्णाध्वा तपूरण्वश्चिकेत द्यौरिव स्मयमानो नमोभिः॥

(ऋ. 2/4/6)

अर्थ-जो (अग्नि) प्यासे मनुष्य के समान वनों को जलाकर प्रकाशित होता है, ढाल की ओर वेग से बहने वाले जल के समान अपने कृष्णमार्ग से गमन करता है, रथवाहक अश्व के समान शब्द करता है और नक्षत्रों से प्रकाशित आकाश के समान शोभायमान होता है।

उपमान-*तातृषाणः, वाः, रथ्या, नमोभिः स्मयमानः द्यौः,* **उपमेय**-*यः,* **साधारण धर्म**- *वना आ भाति, यथा कृष्णाध्वा तपू, स्वानीत्, चिकेत,* **सादृश्यवाचक**-*2 न, 2 इव हैं। एक उपमेय के 4 उपमान, 4 साधारण धर्म हैं। भूतोपमा और द्रव्योपमा है।*

2 इव, 1 यथा, 1 न-

न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते॥

(ऋ. 1/143/5)

अर्थ-जो अग्नि मरुतों की गर्जना के समान, आक्रामक अस्त्र के समान तथा आकाश के वज्र के समान किसी से भी हराया नहीं जा सकता है तथा (जो) शूरवीरों के समान अपनी तीव्र ज्वालाओं से शत्रुओं का भक्षण करता है।

उपमान-*मरुताम् स्वनः, सृष्टा सेना, दिव्या अशनिः, योधः,* ***उपमेय***-*यः अग्निः,* ***साधारण धर्म***-*न वराय, तिगितैः जम्भैः शत्रून् अति,* ***सादृश्यवाचक***- *2 इव, एक यथा एक न हैं। एक उपमेय के 4 उपमान, 2 साधारण धर्म, (प्रथम 3 उपमान का एक साधारण धर्म और अन्तिम का एक है। द्रव्योपमा और कर्मोपमा है।*

उपमेयलुप्ता चार उपमानवाली मालोपमा-

4 न-

पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु॥

(ऋ. 1/65/3)

अर्थ-(अग्नि) धन की अभिवृद्धि के समान रमणीय, भूमि के समान विस्तीर्ण, पर्वत के समान भोजनदाता, जल के समान हितकारी है।

उपमान-*पुष्टिः, क्षितिः, गिरिः, क्षोदः,* ***साधारण धर्म***-*रण्वा, पृथ्वी, भुज्म, शंभु,* ***सादृश्यवाचक***- *4 न हैं।* ***उपमेय***-*अग्नि का शब्दशः कथन नहीं हुआ है किन्तु सूक्त का देवता होने के कारण आक्षेप से अर्थबोध होता है। एक उपमेय के 4 उपमान 4 साधारण धर्म हैं।*

रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः॥

(ऋ. 1/66/1)

अर्थ-(अग्नि) धन के समान रमणीय, सूर्य के समान सम्यक् द्रष्टा, जीवन के समान प्राणवान्, पुत्र के समान हितकर्ता है।

उपमान-*रयिः, सूरः, आयुः, सूनुः,* ***साधारण धर्म***-*चित्रा, संदृक्, प्राणो, नित्यो,* ***सादृश्यवाचक***- *4 न है।* ***उपमेय***- *अग्नि का लोप है। एक उपमेय के 4 उपमान, 4 साधारण धर्म हैं। अधिकोपमा है।*

उपमेय सहित तीन उपमानवाली मालोपमा-

चारों वेदों के अनेक मन्त्रों में उपमेय सहित तीन उपमान वाली 'मालोपमा' का प्रयोग हुआ है। अकेले ऋग्वेद के ही अग्नि सूक्तों की 22 ऋचाओं में इसका प्रयोग अवलोकनीय है। डॉ0 हेमलता सिंह ने अपने शोध

ग्रन्थ में इनको इस प्रकार प्रदर्शित किया है-

सुसंदृक्ते स्वनीक प्रतीकं वि यद्रुक्मो न रोचस उपाके।
दिवो न ते तन्यतुरेति शुष्मश्चित्रो न सूरः प्रति चक्षि भानुम्।
(ऋ. 7/3/6)

अर्थ-शोभन तेजवाला अग्नि अलंकार के समान समीप में सुशोभित होता है, इसकी ज्वाला अन्तरिक्ष से कड़क के समान निकलती है, दर्शनीय यह सूर्य के समान अपनी दीप्ति को प्रदर्शित करता है।

उपमान-*रुक्मः, दिवः-तन्यतुः, सूरः,* ***उपमेय***-*स्वनीक चित्रः ते शुष्मः,* ***साधारण धर्म***- *उपाके विरोचसे, एति भानुं प्रतिचक्षि,* ***सादृश्यवाचक***- *तीन न हैं। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। अधिकोपमा है।*

तं वो विं न द्रुषदं देवमन्धस इन्दुं प्रोथन्तं प्रवपन्तमर्णवम्।
आसा वह्निं न शोचिषा विरप्शिनं महिव्रतं न सरजन्तमध्वनः।।
(ऋ. 10/115/3)

अर्थ-(हे स्तोतृगण) तुम सब वृक्ष पर बैठे पक्षी के समान द्योतमान, वृषभ के समान हवि को देवताओं तक वहन करने वाले, महान् कर्मशील सूर्य के समान मार्ग को एक साथ रंजित करने वाले इस (अग्नि) की स्तुति करो।

उपमान-*द्रुषदं विं, वह्निं, महिव्रतं,* ***उपमेय***-*तं,* ***साधारण धर्म***-*देवम्, आसा, अध्वनः सरजन्तम्,* ***सादृश्यवाचक***- *3 न हैं। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। भूतोपमा और अधिकोपमा है।*

2 न, 1 इव-

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्नसत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत्।।
(ऋ. 1/73/2)

अर्थ-यह (अग्नि) प्रकाशमान सूर्य के समान यथार्थदर्शी- अनेकों से प्रशंसित चित्र के समान सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाला और आत्मा के समान सुखकर है।

उपमान-*देवः सविता, अमतिः, आत्मा,* ***उपमेय***-*यः,* ***साधारण धर्म***-*सत्यमन्मा, सत्य, शेवः,* ***सादृश्यवाचक***-*दो न एक इव है। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। अधिकोपमा और द्रव्योपमा है।*

स हि पुरु चिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो भवति द्रुहन्तरः परशुर्न

द्रुहन्तर।

वीळु चिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत् स्थिरम्।
निष्षहमाणो यमते नार्यते धन्वासहा नायते।।

(ऋ. 1/127/3)

अर्थ- वह (अग्नि) लकड़ी काटने वाले फरसे के समान द्रोह करने वाले शत्रु को काटने वाला, वृक्ष के समान दृढ़ पदार्थ को भी खण्डित करने वाला और धनुर्धारी की तरह आगे बढ़ने वाला है।

उपमान- *द्रुहन्तरः परशुः, वना-धन्वासहा,* ***उपमेय***-*सः,* ***साधारण धर्म***-*द्रुहन्तरः, वीळु चित् स्थिरम् श्रुवद्, अयते,* ***सादृश्यवाचक*** *2 न, एक इव हैं। एक उपमेय के 3 साधारण धर्म हैं। द्रव्योपमा है।*

भूषन् न योऽधि बभ्रूषु नम्नते वृषेव पत्नीरभ्येति रोरुवत्।
ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः।।

(ऋ. 1/140/6)

अर्थ- जो (अग्नि) पीतवर्ण औषधियों में भूषित करते हुए के समान प्रवेश करता है, शब्द करते हुए गाय की ओर भागने वाले वृषभ के समान शब्द करता हुआ वनस्पतियों की ओर भागता है, भयंकर पशु के समान सींगरूप ज्वाला को घूमाता है।

उपमान-*भूषन्, पत्नीः-वृधा, भीमः,* ***उपमेय***-*यः,* ***साधारण धर्म***-*बभ्रूषु अधि नम्नते, रोरुवत् अभ्येति,शृंगाविधाव,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न, एक इव हैं। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। भूतोपमा और द्रव्योपमा है।*

क्रत्वा हि द्रोणे अज्यसेऽग्ने वाजी न कृत्व्यः।
परिज्मेव स्वधा गयोऽत्यो न ह्वार्यः शिशुः।।

(ऋ. 6/2/8)

अर्थ- हे अग्ने! तुम वेगवान् अश्व के समान हव्य को ले जाने वाले, वायु के समान सर्वत्रगन्ता और उत्पत्ति के समय शिशु रहने पर भी अश्व के समान कुटिल रूप में इधर-उधर जाते हो।

उपमान- *वाजी, परिज्म, अत्यः,* ***उपमेय***-*अग्ने,* ***साधारण धर्म***-*कृत्व्यः गयः ह्वार्यः,* ***सादृश्यवाचक***- *2 न, एक इव है। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। भूतोपमा और द्रव्योपमा है।*

स इदस्तेव प्रति धादसिष्यच्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम्।
चित्रध्रजतिररतिर्यो अक्तोर्वेर्न द्रुषद्वा रघुपत्मजंहाः।।

(ऋ. 6/3/5)

अर्थ- वह (अग्नि) बाणवर्षक के समान अपनी ज्वाला को प्रेषित करता है, लोहार जिस प्रकार अपने कुठार की धार को तीक्ष्ण करता है उसी प्रकार ज्वाला को तीक्ष्ण करता है तथा शीघ्र उड़ान भरने में समर्थ पेड़ पर बैठे पक्षी के समान अद्भुत गति सम्पन्न होकर रात्रि को लांघ जाता है।

उपमान-अस्ता, अयस:-धाराम्, वे:, उपमेय-स:, साधारण धर्म-प्रतिधात्, तेज: शिशीत, द्रुषद्वा, सादृश्यवाचक-2 न, एक इव है। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण

धर्म हैं। द्रव्योपमा है।

2 यथा, 1 वत्-

यथायजो होत्रमग्ने पृथिव्या यथा दिवो जातवेदश्चिकित्वान्।
एवानेन हविषा यक्षि देवान् मनुष्वद्यज्ञं प्र तिरेममद्य।

(ऋ. 3/17/2)

अर्थ- हे अग्ने! तुमने जिस प्रकार पृथ्वी को हव्य प्रदान किया था, जैसे आकाश को हव्य प्रदान किया था उसी प्रकार इस हव्य से देवताओं का यजन करो और मनु के यज्ञ के समान इसे सम्पन्न करो।

उपमान-पृथिव्या, दिव:, मनुष्वत्, **उपमेय**-जातवेद: अग्ने, **साधारण धर्म**- होत्रं अयज:, एवानेन हविषा देवान् यक्षि, प्रति इमम्, **सादृश्यवाचक**-2 यथा, एक वत् है। एक उपमेय के 3 उपमान, 2 साधारण धर्म (प्रथम 2 का एक और अंतिम का एक) है। कर्मोपमा और सिद्धोपमा है।

2 न, 1 वाचकलुप्ता-

दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्य:।
होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने।।

(ऋ. 1/58/6)

अर्थ- हे अग्ने! भृगुओं ने धन के समान सुन्दर, अतिथि के समान पूज्य और मित्र के समान कल्याणकारी तुम्हें धारण किया है।

उपमान-रयिं, अतिथिं, मित्रं, उपमेय-अग्ने त्वा, साधारण धर्म-चारुं शेवं, सादृश्यवाचक-2 न और एक वाचक लुप्त है। एक उपमेय के 3 उपमान, 2 साधारण धर्म हैं। द्वितीय उपमान के साधारण धर्म और वाचक पद का लोप है।

धायोभिर्वा यो युज्येभिरकैर्विद्युन्न दविद्योत्स्वेभि: शुष्मै:।

शर्धो वा यो मरुतां ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत्।।

(ऋ. 6/3/8)

अर्थ- जो (अग्नि) विद्युत् के समान अपने शोषक तेज से प्रकाशित होता है जो मरुतों के बल के समान सबको क्षीण बना देता है, ऋभु देव के समान दीप्त होकर तेजी से प्रकाशित होता है।

उपमान-*विद्युत्, मरुतां शर्ध:, ऋभु:,* ***उपमेय***-*य: स्वेभि: शुष्मैः अर्कैः, य:,* ***साधारण धर्म***-*दविद्योत्, ततक्ष, त्वेषो रभसानो अद्यौत्,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न और एक वाचक लुप्त है।* ***उपमान***- *य: का दो बार कथन हुआ है तथा 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं।*

2 इव, 1 वाचकलुप्ता-

प्रवत्ते अग्ने जनिमा पितूयतः साचीव विश्वा भुवना न्यृञ्जसे।
प्र सप्तयः प्र सनिषन्त नो धियः पुरश्चरन्ति पशुपा इव त्मना।।

(ऋ. 10/142/2)

अर्थ- हे अग्ने! तुम मित्र के समान सम्पूर्ण प्राणियों को वश में करते हो, सर्पणशील अश्व के समान हमारी स्तुतियां तुम्हें प्राप्त होती हैं और जैसे पशुपालक पालित पशु के आगे घूमते हैं उसी प्रकार तुम्हारी ज्वालायें स्वयमेव सर्वत्र व्याप्त होती हैं।

उपमान-*साची, सप्तय:, पशुपा,* ***उपमेय***-*अग्ने,* ***साधारण धर्म***-*विश्वा भुवना न्यृञ्जसे प्रसनिषन्त, पुर: चरन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*2 इव, एक वाचक लुप्त है। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। भूतोपमा और द्रव्योपमा है।*

1 न, 1 इव, 1 वाचकलुप्ता-

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठभिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः।।

(ऋ. 4/58/7)

अर्थ- नीची जगह पर बहने वाली नदियों के जल के समान शीघ्रगामी, वायु के समान बलशाली, अश्व के समान मर्यादाओं को तोड़ती हुई घृत की धारायें गिरती हैं।

उपमान-*सिन्धो:, वात:, अरुष:, वाजी,* ***उपमेय***-*घृतस्य धारा,* ***साधारण धर्म***-*प्राध्वने शूघनास:, प्रमिय: काष्ठा-भिन्दन् पतयन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव, एक न, एक वाचक लुप्त है। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म*

हैं। भूतोपमा और द्रव्योपमा है।

प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्
अग्निं रथं न वेद्यम्॥

(ऋ. 8/84/1)

अर्थ- हे यजमानो! तुम सब अतिथि के समान पूज्य, मित्र के समान प्रिय, रथ के समान लाभदायक अग्नि की स्तुति करते हो।

उपमान-*अतिथिं, मित्रं, रथं,* ***उपमेय***-*अग्निम्,* ***साधारण धर्म***-*प्रेष्ठं, प्रियं, वेद्यम्,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव, एक न, एक वाचक लुप्त है। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। द्रव्योपमा है।*

3 वाचकलुप्ता-

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात् परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥

(ऋ. 2/35/10)

अर्थ- वह अपांनपात् देव स्वर्ण समान रूपवाला, स्वर्णसदृश नेत्रवाला, स्वर्णतुल्य वर्ण वाला है।

उपमान-*हिरण्य, हिरण्य, हिरण्य,* ***उपमेय***-*सः अपांनपात्,* ***साधारण धर्म***-*रूपः, संदृक्, वर्णः,* ***सादृश्यवाचक***-*तीनों वाचक पद का लोप है। एक उपमेय के एक ही उपमान को 3 बार प्रतिपादित किया है। साधारण धर्म 3 हैं। रूपोपमा और वर्णोपमा है।*

उपमेयलुप्ता तीन उपमानवाली मालोपमा-

3 वत्-

मनुष्वत् त्वा नि धीमहि मनुष्वत् समिधीमहि।
अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान् देवयते यज॥

(ऋ. 5/21/1)

अर्थ- हे अग्ने! (हम) तुम्हें मननशील मनु की तरह स्थापित करते हैं, मनु के समान प्रज्वलित करते हैं, हे अग्ने! तुम मनु के समान उत्तम गुणों को चाहनेवाले (हमें) उत्तम गुणों से युक्त करो।

उपमान-*मनुष्, मनुष्, मनुष्,* ***साधारण धर्म***-*त्वा निधीमहि, समिधीमहि, देवयते,* ***सादृश्यवाचक***-*3 वत् हैं।* ***उपमेय***- *हम का लोप है। एक उपमेय के एक ही तरह के तीन उपमान हैं। 3 साधारण धर्म हैं। सिद्धोपमा है।*

एवेन्द्राग्निभ्यां पितृवन्नवीयो मन्धातृवदङ्गिरस्वदवाचि॥

(ऋ. 8/40/12)

अर्थ- (मैं ऋषि) इन्द्राग्नी के लिए पिता नभाक के समान, मन्धाता के समान और अंगिरा के समान नवीन स्तुति करता हूँ।

उपमान-*पितृ, मन्धातृ, अङ्गिरः,* ***साधारण धर्म***-*नवीयः अवाचि,* ***सादृश्यवाचक***-*3 वत् हैं।* ***उपमेय***-*मैं का लोप है। एक उपमेय के 3 उपमान एक साधारण धर्म है। सिद्धोपमा है।*

उत त्वा भृगुवच्छुचे मनुष्वदग्न आहुत। अङ्गिरस्वद्धवामहे॥

(ऋ. 8/43/13)

अर्थ- हे अग्ने! (हम) तुम्हारा भृगु, मनु और अङ्गिरा के समान आह्वान करते हैं।

उपमान-भृगु, मनुष्, अंगिरः, **साधारण धर्म**-हवामहे, **सादृश्यवाचक**-3 वत् हैं। **उपमेय**-हम का लोप है। एक उपमेय के 3 उपमान एक साधारण धर्म है। सिद्धोपमा है।

3 न-

तिग्मं चिदेम महि वर्पो अस्य भसदश्वो न यमसान आसा।
विजेहमानः परशुर्न जिह्वां द्रविर्न द्रावयति दारु धक्षत्॥

(ऋ. 6/3/4)

अर्थ- (यह अग्नि) अश्व के समान मुख से घास ग्रहण करता, कुठार के समान अपनी ज्वाला रूप जिह्वा से झाड़ियों को तितर-बितर करता हुआ, जैसे स्वर्णकार सोना पिघलाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण वन को भस्मसात् कर देता है।

उपमान-*अश्वः, परशुः, द्रविः,* ***साधारण धर्म***-*आसा यमसानः, जिह्वां, विजेहमानः, द्रावयति दारु धक्षत्,* ***सादृश्यवाचक***- *3 न हैं।* ***उपमेय***- *अग्नि का लोप है। एक उपमेय के 3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं।*

2 इव 1 न-

साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु॥

(ऋ. 1/70/6)

अर्थ- (यह अग्नि) सत्पुरुष के समान सत्कार करने योग्य, बाण-वर्षक के समान वीर, अश्वारोही के समान भयंकर है।

उपमान-*साधुः अस्ता, याता,* ***साधारण धर्म***-*गृध्नुः, शूरः, भीमः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 इव एक न है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। एक उपमेय के*

3 उपमान, 3 साधारण धर्म हैं। द्रव्योपमा है।

1 इव, 1 न, 1 वाचकलुप्ता-

अधा हि विक्ष्वीड्योऽसि प्रियो नो अतिथिः।
रण्वः पुरीव जूर्यः सूनुर्न त्रययाय्यः॥

(ऋ. 6/2/7)

अर्थ- (हे अग्ने! तुम) अतिथि के समान प्रिय, नगर में रहने वाले वृद्ध हितोपदेष्टा के समान रमणीय और पुत्र के समान रक्षा करने योग्य हो।

***उपमान**-अतिथि, पुरि जूर्यः, सूनुः, **साधारण धर्म**-प्रियः, रण्वः, त्रययाय्यः, **सादृश्यवाचक**-एक वाचकलुप्ता, एक इव, एक न है। **उपमेय**-अग्नि का लोप है। एक उपमेय के 3 उपमान 3 साधारण धर्म हैं। द्रव्योपमा है।*

3 वाचकलुप्ता-

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः॥

(ऋ. 1/26/3)

अर्थ- जैसे श्रेष्ठ पिता अपने पुत्र की, बन्धु अपने बन्धु की और मित्र अपने मित्र की सहायता करता है उसी प्रकार (अग्नि हमारी) सहायता करे।

***उपमान**-पिता सूनवे, आपिः आपये, सखा सख्ये, **साधारण धर्म**-आ यजति स्म, **उपमेय**-अग्नि हमारी और सादृश्यवाचक पद का लोप है। एक उपमेय के 3 उपमान और एक साधारण धर्म है।*

2 उपमेय और 3 उपमान वाली मालोपमा-

1 इव, 1 न, 1 वाचकलुप्ता

निम्न ऋचा में 2 उपमेय का प्रयोग हुआ है। जिसमें से एक उपमेय का लोप है और एक का शब्दशः प्रतिपादन किया गया है-

हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान्।
शुचि भ्राजा उषसो नवेदा यशस्वतीरपस्युवो न सत्याः॥

(ऋ. 1/79/1)

अर्थ- स्वर्ण के समान ज्वालावाला, वायु के समान शीघ्र गतिवाला (अग्नि) मेघ के जल का विस्तार करता है, सरल स्वभाववाली प्रजा के समान उषायें इस बात को नहीं जानती हैं।

***उपमान**-हिरण्य, वात, सत्याः, **साधारण धर्म**-केशः ध्रजीमान्, यशस्वतीः अपस्युवः, नवेदा, **सादृश्यवाचक**-1 वाचकलुप्ता, 1 इव, 1 न है। उपमेय 2 हैं। (1) अग्नि और (2) उषसः। प्रथम **उपमेय**-अग्नि का शब्दशः कथन*

नहीं किया गया है। इसके 2 उपमान और 2 साधारण धर्म हैं। द्वितीय ***उपमेय****-उपस: का प्रतिपादन किया गया है। इसका एक उपमान और एक साधारण धर्म है। द्रव्योपमा है।*

उपमेय सहित दो उपमानवाली मालोपमा-

ऋग्वेद के अग्निसूक्तों की 106 ऋचाओं में 2 उपमानवाली मालोपमा का प्रयोग हुआ है।[1] निम्नलिखित 62 ऋचाओं में 1 उपमेय, 2 उपमान और 2 साधारण धर्म हैं-

2 न-

आ स्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्वविष्यन्नतसेषु तिष्ठति।
अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानुस्तनयन्नचिक्रदत्॥

(ऋ. 1/58/2)

अर्थ- जरा-रहित अग्नि घी से सिंचित होने पर अश्व के समान शोभता है, द्युलोक के शिखर पर रहनेवाले मेघ के समान गर्जता हुआ बार-बार शब्द करता है।

उपमान*-अत्य:, दिव:,* ***उपमेय****-अजर,* ***साधारण धर्म****-रोचते, स्तनयन्, अचिक्रदत्,* ***सादृश्यवाचक****-2 न है। भूतोपमा है।*

उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनय: सनीळा:।
स्वसार: श्यावीमरुषीमजुष्रन् चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गाव:॥

(ऋ. 1/71/1)

अर्थ- जैसे कामना करती हुई स्त्रियां अपने पति को प्रसन्न करती हैं और उषा काल को देखकर गायें प्रसन्न होती हैं उसी प्रकार एक साथ रहने वाली भगिनी रूप अंगुलियां अग्नि को प्रसन्न करती हैं।

उपमान*-उशती: जनय: नित्यं पतिं, उषसं गाव:,* ***उपमेय****-सनीळा: स्वसार: चित्रं,* ***साधारण धर्म****-उप प्रजिन्वन्, अजुष्रन्,* ***सादृश्यवाचक****-2 न हैं। भूतोपमा है।*

उभे भद्रे जोषयेते न मेने गावो न वाश्रा उप तस्थुरेवै:।
स दक्षाणां दक्षपतिर्बभूवाञ्जन्ति यं दक्षिणतो हविर्भि:॥

(ऋ. 1/95/6)

---

1. देखो, डॉ0 हेमलता सिंह, ऋग्वेद के अग्नि सूक्तों की उपमाओं का अध्ययन, पृ0 178

अर्थ- दोनों कल्याणकारिणी द्यावा पृथ्वी रूप स्त्रियां जैसे चामर-हस्ता स्त्रियां राजा की दोनों ओर से सेवा करती हैं उसी प्रकार इस (अग्नि) की सेवा करती हैं और रंभाने वाली गायों के समान उसके समीप आती हैं।

***उपमान**-जोषयेते, वाश्रागावः, **उपमेय**-उभे भद्रे मेने यं, **साधारण धर्म**-उपतस्थुः एवैः अञ्जन्ति, **सादृश्यवाचक**-2 न हैं। भूतोपमा है।*

आ यः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो नार्वा।
सूरो न रुरुक्वञ्छतात्मा।।

(ऋ. 1/149/3)

अर्थ- जो (अग्नि) अश्व के समान वेगवान् और सैंकड़ों किरणों वाले सूर्य के समान तेजस्वी हैं।

***उपमान**-अर्वा, सूरः, **उपमेय**-यः, **साधारण धर्म**-अत्यः, रुरुक्वान्, **सादृश्यवाचक**-2 न है। भूतोपमा और अधिकोपमा है।*

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्।।

(ऋ. 4/5/5)

अर्थ- वन्धु-बान्धवों से रहित स्त्री जिस प्रकार कुमार्ग पर चलती है उसी प्रकार कुमार्ग पर चलने वाले तथा पति से द्वेष करने वाली स्त्रियों के समान दुराचारी पापियों ने यह अगाध नरक उत्पन्न किया है।

***उपमान**- अभ्रातरः योषणः, पतिरिपः जनयः, **उपमेय**-पापासः, **साधारण धर्म**-व्यन्तः, दुरेवाः, **सादृश्यवाचक**-2 न है।*

द्विर्य पञ्च जीजनन्त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु।
उषर्बुधमथर्यो न दन्तं शुक्रं स्वासं परशुं न तिग्मम्।।

(ऋ. 4/6/8)

अर्थ- दस बहिनरूपी अंगुलियां परशु के समान तीक्ष्ण और बाण के अग्रभाग के समान तीव्र इस अग्नि को उत्पन्न करती हैं।

***उपमान**-अथर्यः, परशुं, **उपमेय**-यं अग्निं, **साधारण धर्म**-दन्तं, तिग्मम्, **सादृश्यवाचक**-2 न हैं।*

ये ह त्ये ते सहमाना अयासस्त्वेषासो अग्ने अर्चयश्चरन्ति।
श्येनासो न दुवसनासो अर्थं तुविष्वणसो मारुतं न शर्धः।।

(ऋ. 4/6/10)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारी ज्वालाएं श्येन पक्षी की तरह गन्तव्य पर जाती

हैं और बलशाली मरुत्गणों के समान अत्यन्त ध्वनि करती हैं।

उपमान-*श्येनासः, मारुतं शर्धः*, ***उपमेय***-*अग्ने ते अर्चयः*, ***साधारण धर्म***-*अर्थं चरन्ति, तुविष्वणसः*, ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।*

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदि स्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥

(ऋ. 4/10/1)

अर्थ- हे अग्ने! अश्व के समान कल्याणकारी तथा बुद्धि के समान अन्तस्तल में निवास करने वाले प्रशंसनीय स्तोत्रों द्वारा तुम्हारी वृद्धि करते हैं।

उपमान-*अश्वं, क्रतुं*, ***उपमेय***-*अग्ने*, ***साधारण धर्म***-*भद्रं, हृदिस्पृशम्*, ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। भूतोपमा है।*

घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम्।
तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः॥

(ऋ. 4/10/6)

अर्थ- हे अन्नवान् अग्ने! तुम्हारा स्वरूप घृत के समान पवित्र और आभूषण के समान प्रकाशमान है।

उपमान-*घृतं, रुक्मः*, ***उपमेय***-*स्वधावः ते तनूः*, ***साधारण धर्म***-*पूतं, रोचत*, ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।*

तमर्वन्तं न सानसिमरुषं न दिवः शिशुम्।
मर्मृज्यन्ते दिवे दिवे॥

(ऋ. 4/15/6)

अर्थ- अश्व के समान सबके द्वारा सेवा किये जाने योग्य और द्युलोक के शिशु रूप सूर्य के समान दीप्तिमान उस (अग्नि) की बार-बार परिचर्या करते हैं।

उपमान-*अर्वन्तं, दिवः शिशुम्*, ***उपमेय***-*तम्*, ***साधारण धर्म***-*सानसिम्, अरुषं*, ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। भूतोपमा और अधिकोपमा है।*

उत स्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम्।
पुरू यो दग्धासि वनाग्ने पशुर्न यवसे॥

(ऋ. 5/9/4)

अर्थ- हे अग्ने! भूखा पशु जैसे जौ खाता है उसी प्रकार तुम सम्पूर्ण वनों को जलाने वाले हो। कुटिल गतिवाले सर्प-पुत्र के समान तुम्हें पकड़ना अत्यन्त कठिन है।

उपमान-*ह्वार्याणाम् पुत्रः पशुः, उपमेय-अग्ने, साधारण धर्म-दुर्गृभीयसे, यवसे, सादृश्यवाचक-2 न हैं। भूतोपमा है।*

तव त्ये अग्ने अर्चयो भ्राजन्तो यन्ति धृष्णुया।
परिज्मानो न विद्युतः स्वानो रथो न वाजयुः॥
(ऋ. 5/10/5)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारी ज्वालायें विद्युत् के समान सर्वत्र व्याप्त और शब्द करते हुए रथ के समान सर्वत्र गमन करती हैं।

उपमान-*विद्युतः स्वानो रथः,* ***उपमेय***-*अग्ने ते अर्चयः,* ***साधारण धर्म***-*परिज्मानः, वाजयुः यन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।*

दिवो न यस्य विधतो नवीनोद्वृषा रुक्ष ओषधीषु नूनोत्।
घृणा न यो ध्रजसा पत्मना यन्ना रोदसी वसुना दं सुपत्नी॥
(ऋ. 6/3/7)

अर्थ- जिस (अग्नि) की तेजस्वी किरणें सूर्य के समान ओषधी रूप काष्ठ में महान शब्द करती हैं, जो संचलनशील दीप्ति वाले सूर्य के समान गमनशील तेज से ऊपर उठता है।

उपमान-*दिवः, घृणा,* ***उपमेय***-*यस्य रुक्षः यः,* ***साधारण धर्म***-*ओषधीषु नूनोत्, ध्रजसा पत्मना यन्,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। अधिकोपमा है।*

नितिक्ति यो वारणमन्नमत्ति वायुर्न राष्ट्रत्येत्यक्तून्।
तुर्याम यस्त आदिशामरातीरत्यो न ह्रुतः पततः परिह्रुत्॥
(ऋ. 6/4/5)

अर्थ- यह (अग्नि) वायु के समान सबका शासक है, अश्व के समान सम्मुख आये हिंसक शत्रु को नष्ट करता है।

उपमान-*वायुः, अत्यः,* ***उपमेय***-*यः,* ***साधारण धर्म***-*राष्ट्री, पततः ह्रुतः परिह्रुत्,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न है। भूतोपमा है।*

आ सूर्यो न भानुमद्भिरर्कैरग्ने ततन्थ रोदसी विभासा।
चित्रो नयत्परि तमांस्यतः शोचिषा पत्मन्नौशिजो न दीयन्॥
(ऋ. 6/4/6)

अर्थ- हे अग्ने! तुम द्यावा पृथ्वी को सूर्य के समान अपने से आच्छादित करते हो। नियमित रूप से चलने वाले सूर्य के समान गतिशील दीप्तिमान् अग्नि रात्रि के अंधकार को नष्ट करता है।

उपमान-*सूर्यः, औशिजः,* ***उपमेय***-*अग्ने अर्कैः चित्रः,* ***साधारण***

धर्म-*रोदसी वि आ ततन्थ, दीयन् तमांसि परिनयद्,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। अधिकोपमा है।*

अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषु युधो नाशनिः सृजाना।
शूरस्येव प्रसितिः क्षातिरग्नेर्दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि॥

(ऋ. 6/6/5)

अर्थ- इन्द्र द्वारा छोड़े गये वज्र के समान और शूरवीर के बन्धन के समान अग्नि की ज्वाला सहन करने में लोग असमर्थ होते हैं।

उपमान-*गोषुयुधः अशनिः, शूरस्य प्रसितिः,* ***उपमेय***-*अग्नेः क्षातिः,* ***साधारण धर्म***-*दुर्वर्तुः, भीमः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।*

तेजिष्ठा यस्यारतिर्वनेराट् तोदो अध्वन्न वृधसानो अद्यौत्।
अद्रोघो न द्रविता चेतति त्मन्नमर्त्योऽवर्त्र ओषधीषु॥

(ऋ. 6/12/3)

अर्थ- वर्धमान अग्नि सर्वप्रेरक सूर्य के समान अपने मार्ग अर्थात् अन्तरिक्ष में प्रकाशित होता है। वायु के समान किसी से भी रोका न जाने वाला होकर सम्पूर्ण विश्व में प्रकाशित होता है।

उपमान-*तोदो अध्वन्, अद्रोघः,* ***उपमेय***-*वृधसानः,* ***साधारण धर्म***-*अद्यौत्, अवत् चेतति,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। अधिकोपमा है।*

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन्रुरुच उषसो न भानुना।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रण आ यो घृणे न ततृषाणो अजरः॥

(ऋ. 6/15/5)

अर्थ- जो अग्नि उषा के समान तेज से प्रकाशित होता है और युद्धभूमि में शत्रुहन्ता वीर के समान सूर्य के साथ युद्ध में सहायता के लिए प्रदीप्त होता है।

उपमान-*उषसः, तूर्वन्,* ***उपमेय***-*यः,* ***साधारण धर्म***-*भानुना रुरुचे, एतशस्य नूरण आ घृणे,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।*

स्वाध्यो वि दुरो देवयन्तोऽशिश्रयू रथयुर्देवताता।
पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्॥

(ऋ. 7/2/5)

अर्थ- जैसे गौ बछड़े को चाटती है, जैसे नदियां खेतों को जल से सींचती हैं उसी प्रकार शोभनकर्मा यजमान अग्नि को घी से सींचते हैं।

उपमान-*मातरा पूर्वी शिशुं अग्रुवः,* ***उपमेय***-*स्वाध्यः,* ***साधारण धर्म***-*रिहाणे,*

*समञ्जन्, **सादृश्यवाचक**-2 न हैं। भूतोपमा है।*

प्रशंसमानो अतिथिर्न मित्रियोऽग्नी रथो न वेद्यः॥

(ऋ. 8/19/8)

अर्थ- अग्नि अतिथि के समान हित करने वाला और रथ के समान अभीष्ट फल का साधक होने से ज्ञातव्य है।

***उपमान**-अतिथिः, रथः, **उपमेय**-अग्निः, **साधारण धर्म**-मित्रियः, वेद्यः, **सादृश्यवाचक**-2 न हैं।*

अग्निं विश्वायुवेपसं मर्यं न वाजिनं हितम्।
सप्तिं न वाजयामसि॥

(ऋ. 8/43/25)

***अर्थ**- अग्नि को युवा पुरुष के समान हितकारी, अश्व के समान बलवान् बनायें।*

***उपमान**-मर्यं, सप्तिं, **उपमेय**-अग्निं, **साधारण धर्म**-हितम्, वाजिनम्, **सादृश्यवाचक**-2 न हैं। भूतोपमा है।*

तमर्वन्तन्न सानसिं गृणीहि विप्रशुष्मिणम्। मित्रं न यातयज्जनम्।

(ऋ. 8/102/12)

अर्थ- अश्व के समान सबके द्वारा सेवा किये जाने योग्य, सूर्य के समान बलवान् शत्रुनाशक इस (अग्नि) की स्तुति करो।

***उपमान**-अर्वन्तं, मित्रं, **उपमेय**-तं, **साधारण धर्म**-सानसिं, शुष्मिणम् यातयन्, **सादृश्यवाचक**-2 न हैं। भूतोपमा, अधिकोपमा है।*

वि यस्य ते ज्रयसानस्याजर धक्षोर्न वाताः परिसन्त्यच्युताः।
आ रण्वासो युयुधयो न सत्वनं त्रितं नशन्त प्र शिषन्त इष्टये॥

(ऋ. 10/115/4)

अर्थ- हे जरारहित अग्ने! योद्धाओं के समान बलवान और शत्रु से नष्ट न होने वाला तुम्हारा तेज वायु के समान सर्वत्र व्याप्त है।

***उपमान**-वाताः, युयुधयः, **उपमेय**-यस्य ते अच्युताः अजर, **साधारण धर्म**-परिसन्ति, सत्वनं, **सादृश्यवाचक**-2 न हैं।*

एवाग्निर्मर्तैः सह सूरिभिर्वसुः ष्टवे सहसः सूनरो नृभिः।
मित्रासो न ये सुधिता ऋतायवो द्यावो न द्युम्नैरभि सन्ति मानुषान्॥

(ऋ. 10/115/7)

अर्थ- सूर्य के समान तृप्त यज्ञ की कामना करने वाले विद्वान् द्योतमान

आकाश के समान अग्निप्रदत्त बल से अपने शत्रुओं को परास्त करते हैं।

उपमान-*मित्रासः, द्यावः,* **उपमेय**-*ये सूरयः अग्निम्,* **साधारण धर्म**-*सुधिताः, द्युम्नैः अभि सन्ति,* **सादृश्यवाचक**-*2 न हैं।*

2 इव-

भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ सखेव सख्ये पितरेव साधुः॥

(ऋ. 3/18/1)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे मित्र के प्रति मित्र और माता-पिता अपने पुत्र के प्रति हितैषी होते हैं उसी प्रकार तुम हमारे सम्मुख आने पर हितैषी बनो।

उपमान-*सखा, पितरा,* **उपमेय**-*अग्ने,* **साधारण धर्म**-*नः सुमना भव, साधुः,* **सादृश्यवाचक**-*2 इव हैं। द्रव्योपमा है।*

अमूरो होता न्यसादि विक्ष्वग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः।
ऊद्ध्र्वं भानुं सवितेवाश्रेन्मेतेव धूमं स्तभायदुपद्याम्॥

(ऋ. 4/6/2)

अर्थ- अग्नि सूर्य के समान अपनी किरणों को ऊपर की ओर फैलाता है, स्तम्भ के समान द्युलोक के ऊपर धूम को धारण करता है।

उपमान-*सविता, मेता,* **उपमेय**-*अग्निः,* **साधारण धर्म**- *भानुम् ऊर्ध्व अश्रेत्, धूमं द्याम् उपस्तभायत्,* **सादृश्यवाचक**-*2 इव हैं। द्रव्योपमा है।*

आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः।

(ऋ. 10/91/4)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारी रश्मियां उषा की प्रकाशयुक्त किरणों के समान दिखाई देती हैं (और) सूर्य के समान पापरहित हैं।

उपमान-*उषसाम् एतयः, सूर्यस्य रश्मयः,* **उपमेय**-*ते,* **साधारण धर्म**-*आ चिकित्र, अरेपसः,* **सादृश्यवाचक**-*2 इव हैं। द्रव्योपमा और अधिकोपमा है।*

यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्पृथगेषि प्रगर्धिनीव सेना।
यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम॥

(ऋ. 10/142/4)

अर्थ- (हे अग्ने) जब ऊपर नीचे झाड़ियों को जलाते हुए जाते हो तब दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करने वाली सेना के समान विभिन्न रूप में प्राप्त होते हो। वायु से प्रभावित तुम्हारी ज्वाला जैसे नापित दाढ़ी-मूंछ को साफ कर देता है उसी प्रकार भूमि को जलाकर साफ कर देती है।

उपमान-*प्रगर्धिनी सेना, वप्ता श्मश्रु,* **उपमेय**-*ते शोचिः,* **साधारण**

धर्म-*बप्सद्, पृथगेषि, प्रवपसि,* ***सादृश्यवाचक***-*2 इव हैं द्रव्योपमा है।*

1 न, 1 इव-

रथो न यातः शिक्वभिः कृतो द्यामङ्गेभिररुषेभिरीयते।
आदस्य ते कृष्णासो दक्षि सूरयः शूरस्येव त्वेषथादीषते वयः॥

(ऋ. 1/141/8)

अर्थ- (अग्ने!) तुम्हारी गमनशील ज्वालायें निपुण कारीगरों द्वारा बनाये और रज्जु से बँधे जाते हुए रथ के समान द्युलोक की ओर जाती हैं, वीर के समान इसके तेज से पक्षीगण भाग जाते हैं।

उपमान-*शिक्वभिः कृतः यातः रथः शूरस्य,* ***उपमेय***-*ते अस्य,* ***साधारण धर्म***-*अरुषेभिः अंगेभिः द्याम् ईयते, त्वेषथात् वयः ईषते,* ***सादृश्यवाचक***-*1 न 1 इव है। द्रव्योपमा है।*

अस्मे रयिं न स्वर्थं दमूनसं भगं दक्षं न पपृचासि धर्णसिम्।
रश्मींरिव यो यमति जन्मनी जन्मनी उभे देवानां शंसमृत आच सुक्रतुः॥

(ऋ. 1/141/11)

अर्थ- जो (अग्नि) हमारे लिए धन के समान प्रयोजनीय उत्साही साहय्यकारी प्रदान करता है, जन्मदात्री दोनों द्यावा पृथ्वी को रासों के समान वश में रखता है।

उपमान-*रयिं रश्मीन्,* ***उपमेय***-*यः,* ***साधारण धर्म***-*स्वर्थं भगं दक्षं पपृचासि, उभे जन्मनी यमति,* ***सादृश्यवाचक***-*1 न 1 इव है। द्रव्योपमा है।*

अभित्वा नक्तीरुषसो ववाशिरेऽग्ने वत्सं न स्वसरेषु धेनवः।
दिव इवेदरतिर्मानुषा युगा क्षपो भासि पुरुवार संयतः॥

(ऋ. 2/2/2)

अर्थ- हे अग्ने! गौ जैसे बछड़े की इच्छा करती है उसी प्रकार मनुष्य दिन-रात तुम्हारी इच्छा करते हैं। तुम द्युलोक के समान विस्तृत होते हो।

उपमान-*वत्सं, दिवः,* ***उपमेय***-*त्वा अग्ने,* ***साधारण धर्म***-*ववाशिरे, इव अरतिः,* ***सादृश्यवाचक***-*1 न 1 इव है। द्रव्योपमा और भूतोपमा है।*

रथमिव वेद्यं शुक्रशोचिषमग्निं मित्रं न क्षितिषु प्रशंस्यम्।

(ऋ. 2/2/3)

अर्थ- रथ के समान ऐश्वर्य-प्राप्ति का मार्ग जानने के कारण ज्ञातव्य, मित्र के समान प्रशंसनीय अग्नि को देवगण श्रेष्ठ स्थान में स्थापित करते हैं।

उपमान-*रथम् मित्रं*, ***उपमेय***-*अग्निम्*, ***साधारण धर्म***-*वेद्यं, प्रशंस्यम्*, ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

तमुक्षमाणं रजसि स्व आदमे चन्द्रमिव सुरुचं ह्वार आदधुः॥
पृश्न्याः पतरं चितयन्तमक्षभिः पाथो न पायुं जनसी उभे अनु॥
(ऋ. 2/2/4)

अर्थ- स्वर्ण के समान आनन्ददायक, जल के समान रक्षक इस (अग्नि) को मनुष्य अपने घर में स्थापित करते हैं।

उपमान-*चन्द्रम्, पाथः*, ***उपमेय***-*तं*, ***साधारण धर्म***-*सुरुचं, पायुं*, ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

अस्य रण्वा स्वस्येव पुष्टिः संदृष्टिरस्य हियानस्य दक्षोः।
वि यो भरिभ्रदोषधीषु जिह्वामत्यो न रथ्यो दोधवीति वारान्॥
(ऋ. 2/4/4)

अर्थ- शरीर की पुष्टि के समान इस (अग्नि) की रमणीयता होती है, जैसे रथ में जुता अश्व अपनी पूंछ के बालों को बार-बार कंपाता है उसी प्रकार यह (अग्नि) वनस्पतियों पर अपनी ज्वाला रूप जीभ को घुमाता है।

उपमान-*स्वस्य पुष्टिः, अत्यः*, ***उपमेय***-*अस्य यः जिह्वां*, ***साधारण धर्म***-*रण्वा, वारान्, दोधवीति*, ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

बृहन्त इद्भानवो भाऋजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः।
गुहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः॥
(ऋ. 3/1/14)

अर्थ- विद्युत् के समान अत्यन्त कान्तियुक्त महान् किरणें गुहा के समान अपने घर अन्तरिक्ष में बढ़ते हुए प्रकाशमान अग्नि का आश्रय प्राप्त करती हैं।

उपमान-*विद्युतः, गुहा*, ***उपमेय***-*भानवः अग्निम्*, ***साधारण धर्म***-*शुक्रः, वृद्धं सचन्त*, ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य संदृग्देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः॥
(ऋ. 4/1/6)

अर्थ- जैसे उत्तम गोपालक की गाय का दूध और घी शुद्ध एवं तेजस्वी होता है तथा गोपालक द्वारा प्रदत्त गौ का दान श्रेष्ठ होता है उसी

प्रकार देव (अग्नि) का प्रशंसनीय तेज मनुष्यों में पूजनीय और स्पृहणीय होता है।

उपमान-*अघ्न्याया: घृतं धेनो: मंहना,* ***उपमेय***-*देवस्य संदृक्,* ***साधारण धर्म***-*शुचितन्तम् स्पार्हा चित्रतमा,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न और एक इव है। द्रव्योपमा है।*

सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा मानस पूयमाना:।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणा:॥

(ऋ. 4/58/6)

अर्थ- आनन्द देने वाली नदियों के समान, शिकारी से डरकर भागने वाले हिरणों के समान ये घी की धाराएं तेजी से बहती हैं।

उपमान-*धेना: सरित:, क्षिपणो: ईषमाणा: मृगा:,* ***उपमेय***-*एते घृतस्य ऊर्मय:,* ***साधारण धर्म***-*सम्यक् स्रवन्ति, अर्षन्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न और एक इव है। भूतोपमा और द्रव्योपमा है।*

स्तोमं यमस्मै ममतेव शूषं घृतं न शुचि मतय: पवन्ते॥

(ऋ. 6/10/2)

अर्थ- (स्तोतागण) इस (अग्नि) के लिए घृत के समान पवित्र और ब्रह्मवादिनी दीर्घतमस की माता ममता के समान सुखकारी स्तोत्र अर्पित करते हैं।

उपमान-*ममता, घृतं,* ***उपमेय***-*स्तोमं,* ***साधारण धर्म***-*शूषं, शुचि पवन्ते,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

सास्माकेभिरेतरी न शूषैरग्नि: ष्टवे दम आ जातवेदा:।
द्रवन्नो वन्वन् क्रत्वा नार्वोस्त्र: पितेव जारयायि यज्ञै:॥

(ऋ. 6/12/4)

अर्थ- अश्व के समान सुखकारी, बछड़ों के जनक वृषभ के समान शीघ्रगामी अग्नि की स्तुति करते हैं।

उपमान-*एतरी, उस्र: पिता,* ***उपमेय***-*अग्नि:,* ***साधारण धर्म***-*शूषै:, क्रत्वा अर्वा,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न और एक इव है। भूतोपमा, द्रव्योपमा है।*

त्वं भगो न आहि रत्नमिषे परिज्मेव क्षयसि दस्म वर्चा:।
अग्ने मित्रो न बृहत् ऋतस्यासि क्षत्ता वामस्य देव भूरे:॥

(ऋ. 6/13/2)

अर्थ- हे अग्ने! तुम वायु के समान सर्वत्र निवास करते हो, सूर्य के

समान महान् उदक अथवा यज्ञ के दाता हो।

उपमान-*परिज्मा, मित्रः*, **उपमेय**-*अग्ने*, **साधारण धर्म**-*क्षयसि, बृहत्, ऋतस्य क्षत्ता असि*, **सादृश्यवाचक**-*एक इव और एक न है। अधिकोपमा और द्रव्योपमा है।*

य उग्र इव शर्यहा तिग्म श्रृंगो न वंसगः। अग्ने पुरो रुरोजिथ॥

(ऋ. 6/16/39)

अर्थ- यह (अग्नि) धनुष बाण के समान शत्रुहन्ता, तीक्ष्ण सींगवाले वृषभ के समान तीक्ष्ण ज्वालायुक्त है।

उपमान-*उग्रः, वंसगः*, **उपमेय**-*यः*, **साधारण धर्म**-*शर्यहा, तिग्मश्रृंगः*, **सादृश्यवाचक**-*एक इव और एक न है। भूतोपमा है, द्रव्योपमा है।*

सेनेव सृष्टा प्रसितिष्ट एति यवं न दस्म जुह्वा विवेक्षि॥

(ऋ. 7/3/4)

अर्थ- हे दर्शनीय (अग्ने!) अस्त्र के समान आक्रमणकारी तुम्हारी ज्वाला जौ के समान काष्ठ आदि को खा जाती है।

उपमान-*सेना, यवं*, **उपमेय**-*वस्म ते प्रसितिः*, **साधारण धर्म**-*सृष्टा, एति जुह्वा विवेक्षि*, **सादृश्यवाचक**-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना।
धनोरधि प्रवता यासि हर्यञ्जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः॥

(ऋ. 10/4/3)

अर्थ- (हे अग्ने!) पृथ्वी शिशु के समान तुम्हें धारण करती है, जैसे विमुक्त पशु गोष्ठ की ओर जाता है उसी प्रकार हवि ग्रहण कर तुम देवों की ओर जाना चाहते हो।

उपमान-*शिशुं पशुः*, **उपमेय**-*त्वा*, **साधारण धर्म**-*बिभर्ति, अवसृष्टः जिगीषसे*, **सादृश्यवाचक**-*एक न और एक इव है। भूतोपमा, द्रव्योपमा है।*

तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः।

(ऋ. 10/91/5)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारी रश्मि रूप विभूतियां वर्षक मेघ से सम्बद्ध विद्युत् के समान विचित्र, उषा के प्रज्ञापक प्रकाश के समान उद्भासित होती हैं।

उपमान-*वर्षस्य विद्युतः, उषसां केतवः*, **उपमेय**-*तव श्रियः*, **साधारण धर्म**-*चित्राः, चिकित्र*, **सादृश्यवाचक**-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

शिशानो वृषभो यथाग्निः श्रृंगे दविध्वत्।

तिग्मा अस्य हनवो न प्रतिधृषे सुजम्भः सहसो यहुः॥

(ऋ. 8/60/13)

अर्थ- अग्नि सींगों को तीक्ष्ण करते हुए वृषभ के समान अपनी ज्वाला को कंपाता है। हनु के समान इसकी तीक्ष्ण ज्वाला का प्रतिकार नहीं किया जा सकता है।

उपमान-*शृंगे शिशानः वृषभः हनवः,* ***उपमेय***-*अग्निः अस्य तिग्मा,* ***साधारण धर्म***- *शृंगेदविध्वत्, प्रतिधृषे,* ***सादृश्यवाचक***-*एक यथा और एक न है। भूतोपमा, कर्मोपमा है।*

1 यथा, 1 इव-

तव द्युमन्तो अर्चयो ग्रावेवोच्यते बृहत्।
उतो ते तन्यतुर्यथा स्वानो अर्तत्मना दिवः॥

(ऋ. 5/25/8)

अर्थ- (हे अग्ने!) तुम्हारी ज्वालायें पीसने वाले प्रस्तर के समान महान्, मेघ गर्जन के समान गर्जनशील हैं।

उपमान-*ग्रावा, तन्यतुः,* ***उपमेय***-*तव ते अर्चयः,* ***साधारण धर्म***-*बृहत् उच्यते, स्वानः,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक यथा है। द्रव्योपमा, कर्मोपमा है।*

1 क्यच्, 1 इव-

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिंधुं दुरितात्यग्निः॥

(ऋ. 1/99/1)

अर्थ- वह अग्नि शत्रु के समान आचरण करने वाले को जला डालता है, नौका द्वारा समुद्र पार करने के समान सभी संकटों से पार करता है।

उपमान-*अरातीयतः, नावा सिंधुं,* ***उपमेय***-*अग्निः नः,* ***साधारण धर्म***-*निदहाति, दुरिता पर्षदति,* ***सादृश्यवाचक***-*एक क्यच् और एक इव है। द्रव्योपमा है।*

अरातीयतः- अरातिं शत्रुम् इव अस्मान् आचरतः शत्रोः इति-"उपमानादाचारे" (पा.सू.3/1/10) से कर्म में विहित क्यच् प्रत्यय हुआ है।

1 न, 1 वाचकलुप्ता-

तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः।
अभिव्रजन्नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः॥

(ऋ. 1/58/5)

अर्थ- ज्वाला रूप दंष्ट्रावाला (मुखवाला अग्नि) गो-समुदाय में साँड़ के समान वन में घूमता है, पक्षी के समान वेग से जाने वाले इससे भी स्थावर-जंगम डरते हैं।

उपमान-*यूथे वंसगः, पतत्रिणः,* ***उपमेय***-*तपुर्जम्भः,* ***साधारण धर्म***-*वन अववाति, अभिव्रजन्,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न और एक वाचकलुप्ता है। भूतोपमा है।*

स इधान उषसो राम्या अनु स्वर्णदीदेदरुषेण भानुना।
होत्राभिरग्निर्मनुषः स्वध्वरो राजा विशामतिथिश्चारु रायवे॥

(ऋ. 2/2/8)

अर्थ- वह (अग्नि) सूर्य के समान प्रकाशित होता है, अतिथि के समान चारु है।

उपमान-*स्वः, अतिथिः,* ***उपमेय***-*सः,* ***साधारण धर्म***-*दीदेत्, चारुः,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न, एक वाचकलुप्ता है। अधिकोपमा है।*

स हि ष्मा धन्वाक्षितं दाता न दात्या पशुः।
हिरिश्मश्रुः शुचिदन्नृभुरनिभृष्टतविषिः॥

(ऋ. 5/7/7)

अर्थ- स्वर्ण के समान मूंछ रूप ज्वाला वाला वह (अग्नि) घास खाने वाले पशु के समान निर्जल प्रदेश में रखे गये काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है।

उपमान-*हिरिश्मश्रुः, दात्यापशुः,* ***उपमेय***-*सः,* ***साधारण धर्म***-*धन्वाक्षितं दाति,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न, एक वाचकलुप्ता है। भूतोपमा है।*

इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः॥

(ऋ. 6/4/7)

अर्थ- (हे अग्ने!) ऋत्विक्गण इन्द्र के समान बलवान् देवतात्मा, वायु के समान बल से युक्त तुम्हें हवि से प्रसन्न करते हैं।

उपमान-*इन्द्रं, वायुं,* ***उपमेय***-*त्वा,* ***साधारण धर्म***- *देवता, शवसा,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न, एक वाचकलुप्ता है।*

द्युतानं वो अतिथिं स्वर्णरमग्निं होतारं मनुषं स्वध्वरम्।
विप्रं न द्युक्षवचसं सुवृक्तिभिर्हव्यवाहमरतिं देवमृञ्जसे॥

(ऋ. 6/15/4)

अर्थ- (हे ऋत्विक्गण!) तुम अतिथि के समान दीप्यमान, मेधावी के समान तेज के आश्रयस्थल अग्नि की परिचर्या करते हो।

उपमान-*अतिथिं, विप्रं,* ***उपमेय***-*अग्निं,* ***साधारण धर्म***-*द्युतानं, द्युक्षवचसं,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न, एक वाचकलुप्ता है।*

प्रमायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वियत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ द्युतानो दैव्यो अतिथिः शुशोच।।

(ऋ. 7/8/4)

अर्थ- यह अग्नि सूर्य के समान प्रकाशित होता है, देवताओं के अतिथि के समान दीप्यमान है।

उपमान-*सूर्यः, अतिथिः,* ***उपमेय***-*अग्निः,* ***साधारण धर्म***-*रोचते, द्युतानः शुशोच,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न, एक वाचकलुप्ता है। अधिकोपमा है।*

अश्वमिद्गां रथप्रां त्वेषमिन्द्रं न सत्पतिम्।
यस्य श्रवांसि तूर्वथ पन्यंपन्यं च कृष्टयः।।

(ऋ. 8/74/10)

अर्थ- गमनशील अश्व के समान रथ से युक्त, इन्द्र के समान तेजस्वी इस (अग्नि) की मनुष्य परिचर्या करते हैं।

उपमान-अश्वमित्, इन्द्रं, **उपमेय**-यस्य श्रवांसि, **साधारण धर्म**-रथप्रां, त्वेषं, **सादृश्यवाचक**-एक वाचकलुप्ता, एक न है। भूतोपमा है।

वसुं न चित्रमहसं गृणीषे वामं शेवमतिथिमद्विषेण्यम्।
न रासते शुरुधो विश्वधायसोऽग्निर्होता गृहपतिः सुवीर्यम्।।

(ऋ. 10/122/1)

अर्थ- वासक सूर्य के समान अद्भुत तेज वाले, अतिथि के समान कल्याणकारी द्वेषरहित अग्नि की स्तुति करता हूँ।

उपमान-*वसुं, अतिथिं,* ***उपमेय***-*सुवीर्यम् (अग्निः),* ***साधारण धर्म***-*चित्रमहसं, शेवम् अद्विषेण्यम्,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न, एक वाचकलुप्ता है। अधिकोपमा है।*

अयमुष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते।
रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना।।

(ऋ. 10/176/3)

अर्थ- यह (अग्नि) रथ के समान यज्ञस्थल में ले जाया जाता है, सूर्य के समान प्रकाशित होता है।

उपमान-रथः, घृणीवान्, **उपमेय**-अयमु, **साधारण धर्म**-प्रनीयते, चेतति, **सादृश्यवाचक**-एक न और एक वाचकलुप्ता है। अधिकोपमा है।

1 वाचकलुप्ता, 1 इव :

हुवे वः सुद्योत्मानं सुवृक्तिं विशामग्निमतिथिं सुप्रयसम्।
मित्र इव यो दिधिषाय्यो भूद्देव आदेवे जने जातवेदाः॥

(ऋ. 2/4/1)

अर्थ- अतिथि के समान दीप्यमान, सूर्य के समान मनुष्यों से लेकर देवों तक के धारक अग्नि का आह्वान करता हूँ।

उपमान-*अतिथिम्, मित्रः,* ***उपमेय***-*अग्निं यः,* ***साधारण धर्म***-*सुद्योत्मानं, आदेवे जने दिधिषाय्यः भूत्,* ***सादृश्यवाचक***-*एक वाचकलुप्ता और एक इव है। अधिकोपमा, द्रव्योपमा है।*

स दूतो विश्वेदभि वष्टि सद्मा होता हिरण्यरथो रंसुजिह्वः।
रोहिदश्वो वपुष्यो विभावा सदा रण्वः पितुमतीव संसत्॥

(ऋ. 4/1/8)

अर्थ- स्वर्ण के समान रथवाला वह अग्नि अन्नयुक्त घर के समान सदा सुखकर है।

उपमान-*हिरण्य, पितुमती संसत्,* ***उपमेय***-*सः,* ***साधारण धर्म***- *रथः, सदा रण्वः,* ***सादृश्यवाचक***-*एक वाचकलुप्ता और एक इव है। द्रव्योपमा है।*

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥

(ऋ. 5/1/1)

अर्थ- जैसे उषाकाल में गायों को जगाया जाता है उसी प्रकार मनुष्यों की समिधा द्वारा अग्नि प्रज्वलित होता है। इसकी ज्वालायें वृक्ष की शाखाओं के समान आकाश की ओर सीधी जाती हैं।

उपमान-*धेनुं, वयां,* ***उपमेय***-*अग्निः भानवः,* ***साधारण धर्म***- *अबोधि, नाकम् अच्छ सिस्रते,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक वाचकलुप्ता है। भूतोपमा, द्रव्योपमा है।*

ता वृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा।
अर्हन्ता चित्पुर दधेंऽशेव देवावर्वते॥

(ऋ. 5/86/5)

अर्थ- वे दोनों (इन्द्राग्नी) मनुष्य के समान वर्धमान हैं, अश्व-प्राप्ति

के लिए सूर्य के समान सबसे आगे स्थापित किया जाता है।

उपमान-*मर्ताय, अंशा,* ***उपमेय***-*देवौ,* ***साधारण धर्म***- *वृधन्तौ, पुरः दधे,* ***सादृश्यवाचक***-*एक वाचकलुप्ता और एक इव है। अधिकोपमा, द्रव्योपमा है।*

उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम्। अग्ने हिरण्यसन्दृशः॥

(ऋ. 6/16/38)

अर्थ- स्वर्ण के समान तेजवाले हे अग्ने! जैसे धूप-संतप्त मनुष्य छाया को प्राप्त करता है उसी प्रकार हम तुम्हारी शरण को प्राप्त करें।

उपमान-*हिरण्य, छायाम्,* ***उपमेय***-*अग्ने,* ***साधारण धर्म***-*संदृशः, ते शर्म अगन्म,* ***सादृश्यवाचक***-*एक वाचकलुप्ता और एक इव है। द्रव्योपमा है।*

2 वाचकलुप्ता-

हुवे वातस्वनं कविं पर्जन्यक्रन्द्यं सहः। अग्निं समुद्रवाससम्॥

(ऋ. 8/102/5)

अर्थ- वायु के समान ध्वनि वाले, बादल के समान गर्जनशील अग्नि का आह्वान करता हूँ।

उपमान-*वात, पर्जन्य,* ***उपमेय***-*अग्निम्,* ***साधारण धर्म***- *स्वनं, क्रन्द्यं,* ***सादृश्यवाचक***-*दो वाचकलुप्ता हैं।*

2 न-

निम्नलिखित कुछ ऋचाओं में 1 उपमेय, 2 उपमान और 1 साधारण धर्म का प्रयोग हुआ है-

क्रत्वा यदस्य तविषीषु पृञ्चतेऽग्नेरवेण मरुतां न भोज्येषिराय न भोज्या॥

(ऋ. 1/128/5)

अर्थ- इस अग्नि की ज्वालाओं में मरुतों के समान, याचक को भोजन देने के समान हवि अर्पित करते हैं।

उपमान-*मरुतां, इषिराय भोज्या,* ***उपमेय***-*अस्य तविषीषु,* ***साधारण धर्म***-*भोज्या पृञ्चते,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।*

आ य हस्ते खादिनं शिशुं जातं न बिभ्रति। विशामग्निं स्वध्वरम्॥

(ऋ. 7/16/40)

अर्थ- जिस अग्नि को हाथ में कंकण के समान, उत्पन्न पुत्र को पिता के समान अध्वर्यु धारण करता है।

उपमान-*खादिनं, जातं शिशुं,* ***उपमेय***-*यम् अग्निं,* ***साधारण धर्म***-*बिभ्रति,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।*

2 इव-

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः॥

(ऋ. 10/91/15)

अर्थ- हे अग्ने! तुम्हारे मुख में जैसे घृत को स्रुक् में डालते हैं, सोम को चमस में डालते हैं उसी प्रकार हवि डालते हैं।

उपमान-*स्रुचिघृतं, चम्वि सोमः,* ***उपमेय***-*अग्ने ते आस्ये,* ***साधारण धर्म***-*हविः अहावि,* ***सादृश्यवाचक***-*2 इव हैं।*

1 न, 1 इव-

सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या॥

(ऋ. 4/1/3)

हे मित्र (अग्ने!) वेगवान् अश्व जिस प्रकार रथ-चक्र को प्रेरित करता है, वेगवान् अश्व जिस प्रकार वीर द्वारा प्रेरित होते हैं उसी प्रकार अपने मित्र वरुण को हमारी ओर प्रेरित करो।

उपमान-आशुं चक्रं, रथ्या रंह्या, **उपमेय**-दस्म सखे सखायं, **साधारण धर्म**-अभि आववृत्स्व, **सादृश्यवाचक**-एक न और एक इव है। भूतोपमा, द्रव्योपमा है।

1 यथा, 1 इव-

आ सवं सवितुर्यथा भगस्येव भुजिं हुवे। अग्निं समुद्रवाससम्॥

(ऋ. 8/102/6)

अर्थ- सूर्योदय के समान और भगदेव के भोग के समान बड़वाग्नि का आह्वान करता हूँ।

उपमान-*सवितु, सवं, भगस्य भुजिं,* ***उपमेय***-*अग्निं,* ***साधारण धर्म***-*आ हुवे,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक यथा है। कर्मोपमा, द्रव्योपमा है।*

1 न, 2 वाचकलुप्ता-

अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्यादेवेष्वा वयः॥

(ऋ. 1/127/8)

अर्थ- मनुष्यों के लिए अतिथि के समान जिस (अग्नि) के समीप में सभी देवता हवि भक्षण के लिए उसी प्रकार आते हैं जैसे पुत्र पिता के

पास अन्न के लिए जाता है।

उपमान-*अतिथिं, पितुः वयः,* **उपमेय**-*यस्य आसया,* **साधारण धर्म**-*वयः आ,* **सादृश्यवाचक**-*एक वाचकलुप्ता और एक न है। यहां एक साधारण धर्म का लोप है।।*

तमिद्दोषा तमुषसि यविष्ठमग्निमत्यं न मर्जयन्त नरः।
निशिशाना अतिथिमस्य योनौ दीदाय शोचिराहुतस्य वृष्णः।।

(ऋ. 7/3/5)

अर्थ- मनुष्य अश्व के समान परिष्कृत, युवतम, कामना पूर्ण करने वाले अग्नि की अतिथि के समान परिचर्या करते हैं।

उपमान-*अत्यं, अतिथिं,* **उपमेय**-*अग्निम्,* **साधारण धर्म**-*आहुतस्य वृष्णः मर्जयन्त,* **सादृश्यवाचक**-*एक न, एक वाचकलुप्ता है। एक साधारण धर्म का लोप है। भूतोपमा है।*

2 उपमेय, 2 उपमान वाली मालोपमा-

निम्नलिखित ऋचाओं में 2 उपमेय, 2 उपमान, 2 साधारण धर्म का प्रयोग हुआ है-

2 न-

स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनि-
रार्तनास्विष्टनिः। आदद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम्।।

(ऋ. 1/127/6)

अर्थ- वह (अग्नि) बलशाली वायु के समान बहुत जोर से गर्जना करता है। इसके मार्ग पर कल्याण-प्राप्ति के लिए सारे देव उसी प्रकार चलते हैं। जैसे मनुष्य कल्याण-प्राप्ति के लिए उत्तम मार्ग पर चलते हैं।

उपमान-*मारुतं शर्धः, नरः पन्थाम्,* **उपमेय**-*सः, विश्वे,* **साधारण धर्म**-*तुविष्वणिः, शुभे जुषन्त,* **सादृश्यवाचक**-*2 न हैं।*

त्वमग्ने सहसा सहन्तमः शुष्मिन्तमो जायसे देवतातये रयिर्न देवतातये
शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उतक्रतुः।
अध स्मा ते परि चरन्त्यजर श्रुष्टीवानो नाजर।।

(ऋ. 1/127/9)

अर्थ- हे अग्ने! जैसे देवों के यज्ञ के लिए धन उत्पन्न होता है उसी

प्रकार तेरा जन्म यज्ञों की रक्षा करने के लिए हुआ है। दूत के समान सभी (मनुष्य) तुम्हारी सेवा करते हैं।

__उपमान__-देवतातये रयिः, श्रुष्टीवानः, __उपमेय__-अग्ने त्वम्, मनुष्य-उपमेय का लोप है। __साधारण धर्म__-देवतातये जायसे, परिचरन्ति, __सादृश्यवाचक__-2 न हैं।

प्र वो महे सहसा सहस्वत उषर्बुधे पशुषे नाग्नये स्तोमो बभूत्वग्नये।
प्रति यदी हविष्मान्विश्वासु क्षासु जोगुवे।
अग्रे रेभो न जरत ऋषूणां जूर्णिर्होत ऋषूणाम्।।
(ऋ. 1/127/10)

अर्थ- पशुदाता को याचक की स्तुति के समान तुम्हारी स्तुतियां अग्नि को प्रसन्न करती हैं। हे कुशल होता तुम धनवानों के गायक स्तोता के समान अग्नि की प्रशंसा करते हो।

__उपमान__-पशुषे, ऋषेणाम् रेभः, __उपमेय__-वः स्तोमः, होतः, __साधारण धर्म__-प्रबभूतु, जरत, __सादृश्यवाचक__-2 न हैं।

वैश्वानराय धिषणाभृतावृधे घृतं नं पूतमग्नये जनामसि।
द्विता होतारं मनुषश्च वाघतो धिया रथं न कुलिशः समृण्वति।
(ऋ. 3/2/1)

अर्थ- वैश्वानर अग्नि के लिए घी के समान पवित्र स्तुति प्रकट करते हैं। मनुष्य अग्नि को अपनी बुद्धि से उसी प्रकार संवारते हैं जैसे बढ़ई रथ को।

__उपमान__-घृतं, कुलिशः रथं, __उपमेय__-धिषणां, मनुषः होतारं, __साधारण धर्म__- पूतं, सम्ऋण्वति, __सादृश्यवाचक__-2 न हैं।

2 इव-

वेदिषदे प्रियधामाय सुद्युते धासिमिव प्र भरा योनिमग्नये।
वस्त्रेणेव वासया मन्मना शुचिं ज्योतीरथं शुक्रवर्ण तमोहनम्।।
(ऋ. 1/140/1)

अर्थ- (हे अध्वर्यु!) अग्नि के लिए अन्न के समान ही स्थान को विशेष रूप से तैयार करो और स्तोत्रों से वस्त्र के समान ढ़क दो।

__उपमान__-धासिम् वस्त्रेण, __उपमेय__-अग्नये योनिम् मन्मना, __साधारण धर्म__-प्रभर, वासय, __सादृश्यवाचक__-2 इव हैं। द्रव्योपमा है।

1 न, 1 इव-

बृहती इव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो न दक्षः।
स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वीर्वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः॥

(ऋ. 1/59/4)

अर्थ- पुत्र के समान वैश्वानर अग्नि के लिए द्यावा पृथ्वी विस्तृत हो गई, मनुष्य के समान दक्ष होता अग्नि के लिए स्तुतियां गाते हैं।

उपमान-*सूनवे, मनुष्यः,* ***उपमेय***-*वैश्वानराय, दक्षः होता,* ***साधारण धर्म***-*बृहती पूर्वीः यह्वीः गिरः,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और न है। प्रथम के साधारण धर्म का लोप है। द्रव्योपमा है।*

पव्येव राजन्नघशंसमजर नीचा नि वृश्च वनिनं न तेजसा॥

(ऋ. 6/8/5)

अर्थ- हे जरारहित अग्ने! वज्र के समान अपने तेज से वृक्ष के समान अनर्थकारी शत्रुओं को नष्ट कर दो।

उपमान-पव्य, वनिनं, **उपमेय**-तेजसा, अघशंसम्, **साधारण धर्म**-नीचा निवृश्च, **सादृश्यवाचक**-एक इव और एक न है। प्रथम साधारण धर्म का लोप है। द्रव्योपमा है।

यस्य ते अग्ने अन्ये अग्नय उपक्षितो वया इव।
विपो न द्युम्ना नि युवे जनानां तव क्षत्राणि वर्धयन्॥

(ऋ. 8/19/33)

अर्थ- हे अग्ने! अन्य अग्नि तुम्हारी शाखा के समान समीप में स्थित रहते हैं। तुम्हारे बल को स्तुति द्वारा बढ़ाते हुए स्मृति के समान यश प्राप्त करें।

उपमान-*वया, विपः,* ***उपमेय***-*अन्ये अग्नय, द्युम्ना,* ***साधारण धर्म***-*उपक्षितः, नियुवे,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है। द्रव्योपमा है।*

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गूरशनाभिर्दशभिरभ्यधी ताम्।
इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरंगैः॥

(ऋ. 10/4/6)

अर्थ- हे अग्ने! चोरी में भरने के लिए कृत संकल्प, सर्वस्व हरणकर्त्ता चोर के समान यह स्तुति प्रस्तुत करता हूं। हे अग्ने! अपने सर्वप्रकाशक तेज से रथ के समान यज्ञ से सम्बद्ध होओ।

उपमान-*तनूत्यजा तस्करा, रथं,* ***उपमेय***-*इयं मनीषा, अग्ने,* ***साधारण धर्म***-*अभ्यधीताम् शुचयद्भिरंगैः युक्ष्व,* ***सादृश्यवाचक***-एक इव और एक न

है। हीनोपमा, द्रव्योपमा है।

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः।
तस्माद्भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः॥

(ऋ. 10/51/6)

अर्थ- हे अग्ने! रथी जिस प्रकार मार्ग को तय करता है उसी प्रकार पूर्व के विद्वान् जन् उस प्राप्तव्य सन्मार्ग पर एक के पीछे एक चलते रहते हैं। किन्तु मैं तो भय से दूर आ चुका हूँ। मैं किसके पीछे जाऊं? इसलिए धनुष्धारी की डोरी से भयभीत मृग के समान बहुत ही घबराया हुआ हूँ।

उपमान-*रथी अध्वानम् क्षेप्नोः ज्यायाः गौरः,* ***उपमेय***-*पूर्वे भ्रातरः, तस्माद्भिया, साधारण धर्म-अन्वावरीवुः, अविजे,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है। भूतोपमा, द्रव्योपमा है।*

1 न, 1 वत्-

विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धुं न नावा दुरिताति पर्षि।
अग्ने अत्रिवन्नमसा गृणानोऽस्माकं बोध्यविता तनूनाम्॥

(ऋ. 5/4/9)

अर्थ- हे अग्ने! नौका द्वारा सिंधु के समान हमें कठिनाइयों से पार करो। अत्रि के समान स्तोत्रों से हम तुम्हारी स्तुति करते हैं।

उपमान-*नावा सिन्धुं, अत्रि,* ***उपमेय***-*नः दुरिता,* ***साधारण धर्म***-*अतिपर्षि, तमसा गृणानः,* ***सादृश्यवाचक***-*1 न, 1 वत् है। द्वितीय* ***उपमेय***-*हम का लोप है 1 सिद्धोपमा है।*

1 यथा, 1 इव-

दृळ्हा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे तेजिष्ठाभिररणिभिर्दाष्ट्यवसेऽग्नये दाष्ट्यवसे।
प्र यः पुरूणि गाहते तक्षद् वनेव शोचिषा।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा॥

(ऋ. 1/127/4)

अर्थ- जिस प्रकार ज्ञानियों को धन दिया जाता है उसी प्रकार अग्नि में आहुति दी जाती है। यह (अग्नि) जंगल में प्रविष्ट होकर जैसे वृक्षों को नष्ट करता है उसी प्रकार अपने तेज से स्थिर शत्रु को भी नष्ट करता है।

उपमान-*विदेदुः, तक्षद् वना,* ***उपमेय***-*अग्नये, स्थिराणि, साधारण धर्म-अनुदाष्टि, नि रिणाति,* ***सादृश्यवाचक***-*1 यथा, 1 इव हैं। कर्मोपमा,*

द्रव्योपमा है।

अध स्म यस्यार्चयः सम्यक् संयन्ति धूमिनः।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मातरी यथा।।

(ऋ. 5/9/5)

अर्थ- जब लुहार के समान त्रित ऋषि इस (अग्नि) को प्रज्वलित करता है तब धौंकनी के समान इसकी ज्वालायें तीक्ष्ण होती हैं।

***उपमान**-ध्माता, ध्मातरी, **उपमेय**-त्रितः, यस्य अर्चयः, **साधारण धर्म**-धमति, शिशीते, **सादृश्यवाचक**-एक इव और एक यथा है। द्रव्योपमा, कर्मोपमा है।*

1 न, 1 वाचकलुप्ता-

स जायमानः परमे व्योमन्वायुर्न पाथः परि पासि सद्यः।
त्वं भुवना जनयन्नभि क्रन्नपत्याय जातवेदो दशस्यन्।।

(ऋ. 7/5/7)

अर्थ- हे जातवेद अग्ने! तुम वायु के समान शीघ्र सोमपान करते हो, सन्तान के समान (पालनीय यजमान) की कामनाओं को पूर्ण करते हुए विद्युत्रूप में गर्जना करते हो।

***उपमान**-वायुः, अपत्याय, **उपमेय**-जातवेदः, **साधारण धर्म**-पाथः परिपासि, दशस्यन् अभिक्रन्, **सादृश्यवाचक**-1 न, 1 वाचकलुप्ता है। **उपमेय**-यजमान का लोप है।*

1 वत्, 1 वाचकलुप्ता-

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजं येन पश्यसि यातुधानम्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष।।

(ऋ. 10/87/12)

अर्थ- (हे अग्ने!) शफ के समान नख वाले राक्षस को अपने तेज से अथर्वा के समान जला दो।

***उपमान**-शफा, अथर्व, **उपमेय**-यातुधानम् अग्ने, **साधारण धर्म**-रुजं, न्योष, **सादृश्यवाचक**- एक वाचकलुप्ता, एक वत् है 1 सिद्धोपमा है।*

उपमेयलुप्ता, दो उपमान वाली मालोपमा-

2 न-

निम्नलिखित कतिपय ऋचाओं में दो उपमान और दो साधारण धर्म अवलोकनीय हैं-

अत्यो नाज्मन्त्सर्गप्रतक्तः सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते॥

(ऋ. 1/65/6)

जैसे वीर द्वारा प्रेरित अश्व युद्ध-स्थल में जाता है, नदी जैसे किनारों को तोड़ती हुई आगे बढ़ती है, उसी प्रकार यह अग्नि है। इसको कौन रोक सकता है।

उपमान-*अत्यः, सिन्धुः,* ***साधारण धर्म***-*अज्मन् सर्गप्रतक्तः, क्षोदः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। भूतोपमा है।*

सोमो न वेधा ऋतप्रजातः पशुर्न शिश्वा विभुर्दूरेमाः॥

(ऋ. 1/65/10)

अर्थ- (अग्नि) सोम के समान वृद्धिकारक, पशु के समान चंचल है।

उपमान-*सोमः, पशुः,* ***साधारण धर्म***-*वेधा, शिश्वा,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। भूतोपमा है।*

तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा॥

(ऋ. 1/66/2)

अर्थ- (अग्नि) शिकारी पशु के समान पोषण करने वाला, गौ के समान हितकारी है।

उपमान-*तक्वा, धेनुः,* ***साधारण धर्म***-*भूर्णि, पयः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। भूतोपमा है।*

दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम्॥

(ऋ. 1/66/3)

अर्थ- (अग्नि) गृह के समान रमणीय, अन्न के समान परिपक्व है।

उपमान-*ओकः, यवः,* ***साधारण धर्म***-*रण्वः पक्वः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न है। उपमेय का लोप है।*

ऋषिर्न स्तुम्वा विक्षु प्रशस्तो वाजी न प्रीतो वयो दधाति॥

(ऋ. 1/66/4)

अर्थ- (अग्नि) ऋषि के समान स्तुति करने वाला, प्रसन्न मन वाले अश्व के समान सबके हित के लिए अपना जीवन अर्पित करता है।

उपमान-*ऋषिः प्रीतः वाजी,* ***साधारण धर्म***-*स्तुम्वा, वयः दधाति,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। भूतोपमा है।*

चित्रो यदभ्राट् न विक्षु रथो न रुक्मी त्वेषः समत्सु।

(ऋ. 1/66/6)

अर्थ- शुभ्र वर्ण वाले अश्व के समान विचित्र दीप्तियुक्त (अग्नि) युद्ध में स्वर्णभूषित रथ के समान प्रदीप्त होता है।

उपमान-*श्वेतः, रथः,* ***साधारण धर्म***-*चित्रः, विक्षु रुक्मी,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। भूतोपमा है।*

क्षेमो न साधुः क्रतुर्न भद्रो भुवत् स्वाधीर्होता हव्यवाट्॥

अर्थ- हविर्वाहक (अग्नि) रक्षक के समान हितकारी, बुद्धि के समान कल्याणकारी है।

उपमान-*क्षेमः, क्रतुः,* ***साधारण धर्म***-*साधुः, भद्रः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है।*

शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः॥

(ऋ. 1/69/1)

अर्थ- (अग्नि) उषाप्रेमी सूर्य के समान शुभ्र वर्ण, प्रकाशमान सूर्य के समान अपने तेज से द्यावा पृथ्वी को पूर्ण करता है।

उपमान-*उषः जारः, दिवः ज्योतिः,* ***साधारण धर्म***-*शुक्रः, समीची पप्रा,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। अधिकोपमा है।*

पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्॥

(ऋ. 1/69/5)

अर्थ- (अग्नि) उत्पन्न पुत्र के समान सुखदायक, प्रसन्न अश्व के समान प्रजाओं को दुःख से पार लगाता है।

उपमान-*जातः पुत्रः, प्रीतः वाजी,* ***साधारण धर्म***-*रण्वः विशः वितारीत्,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। भूतोपमा है।*

आदीं भगो न हव्यः समस्मदा वोळ्हुर्न रश्मीन् त्समयंस्त सारथिः।

(ऋ. 1/144/3)

अर्थ- जैसे पूजनीय भगदेव अपनी हवि को ग्रहण करता है, सारथी अश्व की लगाम को ग्रहण करता है उसी प्रकार (अग्नि) हमारी घृतधारा को स्वीकार करता है।

उपमान-*भगः, सारथिः वोळ्हुः,* ***साधारण धर्म*** *-हव्यः रश्मीन्,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है।*

यदी मन्थन्ति बाहुभिर्वि रोचतेऽश्वो न वाज्यरुषो वनेष्वा।
चित्रो न यामन्नश्विनोरनिवृत्तः परि वृणक्त्यश्मनस्तृणा दहन्॥

(ऋ. 3/29/6)

अर्थ- (अग्नि) वन में शीघ्रगामी अश्व के समान प्रकाशित होता है, अश्विनी-कुमारों के शीघ्रगामी रथ के समान शोभा को धारण करता है।

उपमान-*वाजी अश्वः, अश्विनोः यामन्,* ***साधारण धर्म***-*अरुषः आ विरोचतं, चित्रः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। उपमेय का लोप है। भूतोपमा है।*

प्रियं दुग्धं न काम्यमजामि जाम्योः सचा।
धर्मो न वाजजठरोऽदब्धः शश्वतो दभः॥

(ऋ. 5/19/4)

अर्थ- (अग्नि) दूध के समान काम्य, यज्ञ के समान हवि अन्न को अपने अन्दर रखने वाला है।

उपमान-*दुग्धं, धर्मः,* ***साधारण धर्म***-*काम्यम् वाजजठरः,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं।* ***उपमेय*** *का लोप है।*

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः॥

(ऋ. 10/79/3)

अर्थ- (अग्नि) स्तन्यपान के लिए जानु के सहारे आगे बढ़नेवाले शिशु के समान, पके अन्न के समान सूखे (वृक्ष को) पृथ्वी की गोद में प्राप्त करता है।

उपमान-*कुमारः, ससं,* ***साधारण धर्म***-*मातुः उर्वीः वीरुधः, प्रसर्पत् पक्वं शुचन्तं अविदत्,* ***सादृश्यवाचक***-*2 न हैं। यहां अग्नि और वृक्ष ही उपमेय हैं और दोनों का लोप है।*

1 इव, 1 न-

जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्रामिभ्यान्न राजा वनान्यत्ति॥

(ऋ. 1/65/7)

अर्थ- बहन के लिए भाई जैसे हितकारी होता है उसी प्रकार नदियों का मित्र (अग्नि) धनिकों के धन ग्रहीता राजा के समान वनों को खा जाता है।

उपमान-*भ्राता स्वस्राम्, इभ्यान् राजा,* ***साधारण धर्म***-*सिन्धूनां जामिः, अत्ति,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। द्रव्योपमा है।*

दुरोकशोचिः क्रतुर्न नित्यो जायेव योनावरं विश्वस्मै॥

(ऋ. 1/66/5)

अर्थ- नित्य शुभ कर्म करने वाली बुद्धि के समान कर्मशील, घर में सुखदायी स्त्री के समान (अग्नि) सबका कल्याण करता है।

उपमान-*क्रतुः, योनौ जाया,* ***साधारण धर्म***-*नित्यः विश्वस्मै अरं,* ***सादृश्यवाचक***- *एक न और एक इव है।* ***उपमेय*** *अग्नि का लोप है। द्रव्योपमा है।*

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेषप्रतीका॥

(ऋ. 1/66/7)

अर्थ- (अग्नि) अस्त्र के समान आक्रमणकारी, बाण के समान भयंकर दीप्ति वाला है।

उपमान-*सेना, अस्तुः,* ***साधारण धर्म***-*सृष्टा, विद्युत्,* ***सादृश्यवाचक***-*एक इव और एक न है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। द्रव्योपमा है।*

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वी मनुप्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥

(ऋ. 4/4/1)

अर्थ- (हे अग्ने) जैसे व्याधा जाल फैलाता है उसी प्रकार अपने बल को विस्तृत करो, हाथी पर चढ़कर जाने वाले बलवान राजा के समान गमन करो।

उपमान-*प्रसितिं, अमवान्, राजा इभेन,* ***साधारण धर्म***-*पृथ्वीं, याहि,* ***सादृश्यवाचक***-*एक न और एक इव है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है, द्रव्योपमा है।*

मानो देवानां विशः प्रस्नातीरिवोस्राः। कृशं न हासुरघ्न्याः॥

(ऋ. 8/75/8)

अर्थ- पयस्विनी गौ के समान प्रजा का कल्याण करनेवाला (अग्नि) छोटे बछड़े को कभी भी नहीं छोड़ने वाली गौ के समान हमारा त्याग न करे।

उपमान-*उस्राः, अघ्न्याः कृशं,* ***साधारण धर्म***-*विशः प्रस्नातीः, मा नः हासुः,* ***सादृश्यवाचक***-*1 न, 1 इव है।* ***उपमेय***-*अग्नि का लोप है। भूतोपमा और द्रव्योपमा है।*

1 इव, 1 वत्-

शुचिः ष्म यस्मा अत्रिवत्प्र स्वधितीव रीयते॥

(ऋ. 5/7/8)

अर्थ- (ऋषिगण) जिस अग्नि में अत्रि के समान हवि देते हैं, जो

तलवार के समान लकड़ियों को फाड़ देता है। (भस्म कर देता है।)

उपमान-*अत्रि, स्वधिति,* ***साधारण धर्म***-*प्र, रीयते,* ***सादृश्यवाचक***-*एक वत् और एक इव है। यहां ऋषि और अग्नि दो उपमान हैं, दोनों का लोप है। द्रव्योपमा, सिद्धोपमा है।*

अपि वृश्च पुराणवद्व्रततेरिव गुष्पितमोजो दासस्य दम्भय॥

(ऋ. 8/40/6)

अर्थ- (हे इन्द्राग्नी) पूर्वज पुरुष के समान दास के तेज का दमन करो, जैसे लता की निकली, शाखायें काट डाली जाती हैं उसी प्रकार शत्रुओं का विनाश करो।

उपमान-*पुराण, व्रतते:,* ***साधारण धर्म***-*दासस्य ओज दम्भय, गुष्पितम् वृश्च,* ***सादृश्यवाचक***-*एक वत् और एक इव है।* ***उपमेय***-*इन्द्राग्नी का लोप है। सिद्धोपमा और द्रव्योपमा है।*

2 वाचक लुप्ता-

अमूर: कविरदितिर्विवस्वान्त्सुसंसन्मित्रो अतिथि: शिवो न:।

(ऋ. 7/9/3)

अर्थ- (अग्नि) सूर्य के समान दीप्तिमान, अतिथि के समान हितकारी है।

उपमान-*मित्र:, अतिथि:,* ***साधारण धर्म***-*विवस्वान्, शिव:,* ***सादृश्यवाचक*** *और* ***उपमेय***-*दोनों का लोप है। अधिकोपमा है।*

2 वत्-

और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदा हुवे। अग्निं समुद्रवाससम्॥

(ऋ. 8/102/4)

अर्थ- (मैं ऋषि) और्वभृगु और अप्नवान के समान बड़वाग्नि का आह्वान करता हूं।

उपमान-*और्वभृगु, अप्नवान,* ***साधारण धर्म***-*आ हुवे,* ***सादृश्यवाचक***-*2 वत् हैं।* ***उपमेय***-*मैं ऋषि का लोप है। सिद्धोपमा है।*

इस प्रकार उपर्युक्त ऋचाओं में उपमा के जिन भेदों-प्रभेदों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वे प्राचीनतम रूप होने पर भी सौन्दर्य और उत्कृष्टता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं।

परिशिष्ट 2

वैदिक उपमाओं में प्रतिफलित संस्कृति

किसी भी राष्ट्र, समाज, संस्कृति, सभ्यता, धर्म और दर्शन का विशद् चित्र हमें उसके साहित्य में प्रयुक्त उपमाओं में ही मिलता है। वेदों में आये उपमानों के आधार पर तदानीन्तन समाज की छवि का दर्शन निश्चित ही मन को प्रसन्नता देनेवाला है।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि वेदों में प्रस्तुत उपमा अलंकार वाले मन्त्रों की सहायता से एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति को प्रत्यक्ष करने की कामना करते हैं। इन उपमा-मन्त्रों में वैदिक संस्कृति मूर्तिमान्-सी हो गई है।

संस्कृति जीवन के आंतरिक स्वरूप को प्रकाशित करती है। मनन, चिन्तन, दार्शनिक दृष्टि, मनोवैज्ञानिक खोज, दार्शनिक अन्वेषण, कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेचन, जीवन की उन्नति के तत्त्वों की खोज, समष्टि और व्यष्टि का स्वरूप, जीवन का उद्देश्य और लक्ष्य, लोक-व्यवस्था के साधन, प्रकृति और पुरुष में भेदाभेदविवेचन यह सब 'संस्कृति' शब्द से गृहीत होता है।[1]

प्रकृति की गोद में रहते हुए वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के विभिन्न रूपों में अनेक देवताओं की उद्भावना की है। संसार की असारता, मनुष्य का अल्पबलत्व, निराशा के क्षणों में पीड़ित हृदय वाले मनुष्य के कष्ट अथवा प्रार्थनाएँ सुनने के लिए और उसको सरल मार्ग सुझाने के लिए किसी ऊँची से ऊँची शक्ति की अनिवार्यता मानव-जीवन को अत्यधिकता के साथ प्रभावित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की भावना का आविष्कार करती है। अतः वैदिक संस्कृति आस्तिकता पर टिकी हुई है। वहाँ तो परमेश्वर की शक्ति सर्वव्यापक रूप से स्वीकार की गयी है। जैसे चर्म पूरे शरीर को व्याप्त कर स्थित है वैसे ही इन्द्र परमात्मा ने भी अखिल विश्व को व्याप्त कर रखा है।[2] इन सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों का एक बड़ा अधिष्ठाता है जो इन सबका निरीक्षण प्रत्येक के समीप रहने के समान करता है।[3]

अग्नि सम्पूर्ण विश्व को उसी प्रकार थामे हुए है जिस प्रकार स्तम्भ भवन को आधार देता है।[4] इस प्रकार के सैकड़ों उपमा-स्थल हैं जिनमें विश्व के आधार रूप में परमात्मा का वर्णन है। इनमें आये तत्तत् अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देववाचक नाम एक परमात्मा के ही वाचक हैं। ऐसी वेद की अन्त:साक्षी भी है।[5]

वैदिक उपमाओं से परिलक्षित होता है कि वेद के ऋषियों ने नि:सन्देह मानवजीवन को अतिशय प्रभावित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की भावना कर ली थी। उनके प्रति उनका भाव ही वैदिक धर्म की सृष्टि करता है। यज्ञ ही धर्म का अन्यतम विशिष्ट तत्त्व है। क्योंकि दर्शन के विरुद्ध, धर्म में कर्मकाण्ड मुख्य स्थान रखता है, यह सार्वभौमिक सत्य है। धर्म-परायण मनुष्य अपने व्यापारों से अपने इष्ट देवता को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। वैदिक आर्यों ने निष्प्रयोजन भक्ति को अधिक सम्मान नहीं दिया। उसने देवताओं को समृद्ध उपहार समर्पित कर प्रतिफल स्वरूप सुदीर्घ जीवन, सुख-समृद्धि, वीर पुत्र-प्राप्ति, रिपुओं पर विजय, रोगों से मुक्ति, प्रचुर भोज्य सामग्री और पेय पदार्थों की उनसे याचना की। इस प्रकार छल रहित आदान-प्रदान उसकी प्रवृत्ति का निमित्त बना। अतएव इसी हेतु से यज्ञ उसके दैनिक जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अत: वेद का ऋषि यज्ञक्षेत्र से स्वाभाविकता के साथ अनेक उपमान ग्रहण करता है। जहाँ यज्ञ स्वयं भी उपमान बना है वहीं उससे सम्बन्धित होता, दक्षिणा, प्रय, घृत आदि ये सब भी उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

वेदों में प्रतिपादित उपमाओं से परिलक्षित होता है कि वैदिक संस्कृति में उष: काल में जागनेवाला, अपने कर्म से प्रजाओं को जगाने वाला मनुष्य हंस के समान जल में बैठकर प्राण धारण करता है अर्थात् गति करता है।[6] अतएव महर्षि मनु ने लिखा है कि ब्रह्ममुहूर्त्त में जगना चाहिए और धर्मादि का जहाँ चिन्तन करे वहीं परमात्म-चिन्तन भी करना चाहिए[7] क्योंकि परमात्मा समस्त प्रजाओं में रक्षक के रूप में स्थित है।[8] एक मन्त्र में आता है कि जैसे गर्भवती माताओं द्वारा गर्भस्थ शिशु गुप्त रूप से धारित किया होता है, वैसे सर्वज्ञ परमात्माग्नि देहरूपी-अधरारणि तथा प्रणवरूपी उत्तरारणि में निहित रहता है।[9] परमात्मा समस्त संसार अर्थात् आकाश, भूमि, अन्तरिक्ष में छाया के समान उनके भीतर व्याप्त है।[10] एक मन्त्र में जगत् के निमित्त कारण परमात्मा का वर्णन उपमा के माध्यम से इस प्रकार किया गया

है–बढ़ई जैसे छील-छालकर पदार्थों को बनाता है वैसे ही यह प्रभु भी जगत् का बनानेवाला हमें भी बनाता है।[11] आदि सृष्टि में ब्रह्मणस्पति ने उसी प्रकार देवताओं को उत्पन्न किया, जिस प्रकार लुहार प्रज्वलित करने के लिए धौंकनी से आग में फूँक मारता है।[12] एक मन्त्र में परमात्मा को मित्र की तरह बताया गया है। वहाँ उपमा के माध्यम से कहा है कि जैसे मित्र हमको धर्म में नियत करता है वैसे ही परमात्मा भी भीतर-बाहर सबके समस्त कामों को जानकर फल देता है।[13] जैसे मल्लाह नौका से नदी के पार पहुंचता है वैसे ही वह प्रभु भी हमें दुर्गम दु:खप्रद कष्टों और दुर्गतियों से पार करता है।[14] कई उपमाओं में परमात्मा को पिता और माता कहा गया है। एक उपमा में बताया गया है कि परमात्मा हृदयान्तरिक्ष में वास करनेवाले के रूप में हैं। इस मन्त्र में परमात्मा का निवास हमारे शरीर में कहाँ है? इस पर प्रकाश डाला गया है।

वैदिक संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है–पुनर्जन्म। एक उपमा में जन्म और मृत्यु के बारे में कहा गया है–जिस प्रकार दो चोर जंगल में जाकर अपने दोनों हाथों से किसी को रस्सी से बाँधते हैं वैसे ही जन्म ओर मृत्यु ने हमें दश इन्द्रियों के विषयों से जकड़ा है।'[17]

इस संस्कृति में परमानन्द की प्राप्ति के लिए आनन्दस्वरूप इन्द्र परमात्मा की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य माना गया है, क्योंकि उपमा के माध्यम से इन्द्र परमात्मा सभी सुखों का आकर निरूपित किया गया है।[18] वह आदि प्रभु उपासक के लिए मरुप्रदेश में प्याऊ के समान है। अर्थात्, कठिनाइयों में वही रक्षक और सहारा है।[19] इस परमानन्द स्वरूप परमात्मा में मग्न परमेश्वर का उपासक ब्रह्म तेज युक्त ब्राह्मण का हनन नहीं कर सकता। राष्ट्र का नायक अथवा अन्य कोई भी मनुष्य यदि ब्राह्मण की हत्या करता है अथवा अन्य किसी भी उपाय से उसको पीड़ा देता है तब वह मनुष्य कभी भी जीवन धारण करने में समर्थ नहीं होता।[20] इतना ही नहीं, जिस राष्ट्र में ब्राह्मण हिंसित होता है वह राष्ट्र बलहीन और तेज रहित हो जाता है।[21] शीघ्र ही वह राष्ट्र सर्वनाश को प्राप्त होकर नष्टभ्रष्ट हो जाता है।[22] इस प्रकार वेद में ब्रह्म और क्षत्रबल का समन्वय स्थापित किया गया है।

वैदिक संस्कृति के उपासक लौकिक व्यवहारों के प्रति उदासीन और अनभिज्ञ नहीं हैं। उनकी प्रबल कामना है कि इस भूतल से पिशाच-राक्षस आदि शत्रुओं[23] और पाप-विघ्नों[24] का आत्यन्तिक उच्छेद हो, जिसमें सभी

प्राणी निर्भय होकर सुख से रहते हुए प्रेम से अपने जीवन को शान्तिपूर्वक व्यतीत करें। वेदों में वर्चस्वी जीवन का बहुत ही महत्त्व है। वर्चस्, तेज और बल की प्रार्थना पग-पग पर की गयी है।[25] वैदिक उपासक जीवन के प्रति निराशावादी नहीं है। वे रोगरहित होकर दीर्घायु की कामना करते हैं।[26] वे तो गृहस्थ को भी पवित्र बन्धन मानकर ही स्वीकार करते हैं। गार्हस्थ्य में पति-पत्नी, चकवा-चकवी के समान रहते हैं।[27] नारियों की स्थिति वेद में अत्यन्त उज्ज्वल रूप में वर्णित है। मध्यकाल के समान उनको हेय नहीं माना गया है। यहाँ पर पत्नी को सम्राज्ञी का पद प्रदान किया गया है।[28] पत्नी-परित्याग (तलाक) भी यहाँ अभीष्ट नहीं है।[29] स्त्रियों की पर्दा (घूंघट) प्रथा भी वेद में नहीं है।[30] वधू जहाँ-तहाँ घूँघट के बिना ही जाती है।[31] गृहस्थ जीवन सुखसमृद्धियुक्त सुविशाल हर्म्यों में व्यतीत होता है।[32] निकट संबंधों में परस्पर विवाह नहीं होता।[33] पुरुष और नारी समाज-रूप और राष्ट्र-रूप रथ के दो चक्र हैं। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, ऐसे ही अकेले पुरुष या अकेली नारी से समाज और राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता।[34] ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्त्रियों को धेनु के समान कहा गया है। जैसे गौ उत्तम दूध देती है वैसे ही स्त्री सुन्दर प्रकार कामनाओं को पूर्ण करती है।[35] वेद के अनुसार जब लड़का और लड़की ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त कर युवक और युवति हो जाते हैं, तभी उनका विवाह होना उचित है। एक मन्त्र में उषा द्वारा देदीप्यमान सूर्य को प्राप्त किए जाने की उपमा युवा पति को प्राप्त करने वाली युवति से दी गयी है।[36] कतिपय अन्य मन्त्रों में भी उपमा का आश्रय लेकर युवा और युवति के विवाह की सूचना दी गयी है।[37] वैदिक उपमाओं में नारी की स्थिति अत्यन्त उच्च, गौरवमयी और पूजास्पद परिलक्षित होती है। वेद में उसे पति के समकक्ष रखा गया है। जैसे पत्नी के लिए पति आदर और स्नेह के योग्य है, वैसे ही पत्नी भी पति के लिए सम्मान और स्नेह की पात्र है। वेद की दृष्टि में पत्नी ही वस्तुतः घर है।[38] कुछ आलोचकों का कथन है कि वेदों में नारी को हीन दृष्टि से देखा गया है। इसकी पुष्टि में वे एक तर्क यह प्रस्तुत करते हैं कि वेदों में सर्वत्र पुत्र ही मांगे गये हैं; पुत्रियों की कामना कहीं दिखाई नहीं देती। परन्तु वस्तुतः यह स्थापना सही नहीं है। एक स्थान पर खड़ाऊ पहनकर खुटर-खुटर करती हुई दो नन्हीं कन्याओं से उपमा देता हुआ वेद कहता है–

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके।

बभ्रू यामेषु शोभेते।। ऋग्. 4/32/23

अर्थात्, ये टप-टप चलती हुई घोड़ियाँ अपनी चालों में ऐसी शोभित हो रही हैं, जैसे लकड़ी की खड़ाऊँ पहनकर घर के आँगन में खुटर-खुटर चलती हुई दो कन्याएँ शोभित होती हैं।

यथा यशः कन्यायाम् (अथर्व. 10/3/20) जैसा यश कन्या में होता है वैसा यश मुझे प्राप्त हो। इस प्रकार के वैदिक वर्णन कन्याओं की स्पृहणीयता को ही सूचित करते हैं।[39]

कुछ आलोचकों का कहना है कि वैदिक काल में बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित थी। उनका यह मन्तव्य ठीक नहीं है। वेद की दृष्टि में एकाधिक पत्नियों का होना कैसा विकट है यह निम्नलिखित उपमा से सूचित होता है-

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानो अन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।

(ऋग्. 10/101/11)

अर्थात्, रथ में दोनों धुरों के बीच में जुता हुआ, कष्ट से हिनहिनाता हुआ घोड़ा ऐसे चल रहा है, जैसे घर में दो पत्नियों वाला पुरुष दोनों ओर से खींचा जाता हुआ, कष्ट में बकझक करता हुआ दिन व्यतीत करता है। एक अन्य उपमा में कूप-पतित त्रित ऋषि कह रहा है कि ये कुएं में चारों ओर लगी ईंटें मुझे ऐसे संतप्त कर रही हैं, जेसे सौतें पति को संतप्त करती हैं-

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। (ऋग्. 1/105/8, 10/33/22) एक और मन्त्र है-

जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रःसुसर्वाः

(ऋग्.7/26/3)

अर्थात् इन्द्र ने समस्त शत्रु-पुरियों को ऐसे ही मिटा डाला, जैसे कई पत्नियों का समान पति उन पत्नियों को बर्बाद कर देता है। वेद इन उपमाओं द्वारा यह सूचित करता है कि एकाधिक पत्नियों से विवाह करने में न पति को सुख मिल पाता है न ही पत्नियों को।

व्यङ्गेभिर्दिद्युतानः सधस्थ एकामिव रोदसी आ विवेश, (ऋग्.3/7/4) में मन्त्रद्रष्टा ऋषि बड़े ही स्पष्ट शब्दों में उपमा अलङ्कार के माध्यम से संकेत करता है कि जैसे पति एक स्थान में एक अपनी स्त्री का संग करता है वैसे ही आकाश भूमि को देदीप्यमान अग्नि व्याप्त करता है।' इस प्रकार वैदिक उपमाओं से यह स्पष्ट है कि वेद बहुपत्नीत्व के समर्थक नहीं हैं।

वैदिक उपमाओं से पता चलता है कि वेदकालीन समाज में विधवा के प्रति बहुत सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण प्रदर्शित किया गया है। वेद विधवाओं के सुख-सुविधापूर्ण तथा सम्मानित जीवन-यापन के लिए सतर्क है तथा वे चाहें तो उन्हें पुनर्विवाह की भी अनुमति देता है। सती-प्रथा का समर्थन किसी भी वेद में नहीं हैं। ऋग्वेद की उपमाओं में विधवा का देवर के साथ विवाह होना वर्णित है।[40]

वेद के अनुसार नारी का यज्ञ में अधिकार होना वस्तुतः विवाद का विषय नहीं है, अपितु विद्वत्सम्प्रदाय का यह प्रायः सर्वसम्मत विचार है। ऋग्वेद 1.146.3 में ऐसी दो धेनुओं का वर्णन है, जो दोनों एक ही बछड़े की ओर दौड़ती हैं–**समानं वत्सम् अभि संचरन्ती विष्वग् धेनू विचरतः सुमेके।** इसकी व्याख्या में सायण लिखते हैं कि यजमान और उसकी पत्नी ही दो धेनुएँ हैं और बछड़ा यज्ञाग्नि है–समानम् एकमेव वत्सं वत्सस्थानीयं पुत्रवद् हर्षहेतुम् अग्निम् अभिमुखं संचरन्ती संचरन्त्यौ द्वे धेनू अग्निहितकरणेन प्रीणयन्त्यौ पत्नीयजमान-लक्षणौ धेनू विष्वग् विचरतः संचरतः (सायण)।

ऋग्वेद 3/26/3 में एक उपमा आयी है, जिसमें अग्नि के लिए वर्णन है कि क्रन्दन करते हुए घोड़े के समान अग्नि स्तोताओं तथा उनकी पत्नियों से प्रदीप्त किया जाता है।[41] ऋग्वेद के निम्न मन्त्र–

'त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव' (10-21-3) में मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है–हे अग्ने! यज्ञकर्त्ता ऋत्विक्‌गण सम्पूर्ण आहुतियुक्त होम पात्रों से जल सींचती हुई नारी के समान तुम्हारी उपासना करते हैं।

इस प्रकार उपमा-विषयक अनेकों उद्धरणों से स्पष्ट है कि मध्यकाल में भले ही नारी को यज्ञाधिकार से वंचित करने का प्रयास किया गया हो किन्तु वेदों में यज्ञ करना उसके कर्त्तव्यों में सम्मिलित है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैदिक उपमाओं में नारी का जीवन अत्यन्त पवित्र, श्लाघ्य, सुन्दर और गौरवपूर्ण ढंग से वर्णित है, उसमें कहीं कालिमा की रेखा तक नहीं है। इसीलिए वेद ने उसे 'ब्रह्मा' की सर्वोच्च पदवी प्रदान की है।[42]

नारी के उपमानत्व से संबंधित उपमाओं से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में बाँझ स्त्री सन्तान प्राप्त होने पर पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त करती थी।[43] वह अपने पति को किसी भी अवस्था (सुख-दुःखावस्था) में नहीं छोड़ती थी अर्थात् कैसी भी आपत्ति आ जाये वह विवाह-विच्छेद नहीं करती थी।[44]

एक उपमा में अग्निदेव को पति व पत्नी दोनों के मन में समानता उत्पन्न करनेवाला कहा गया है–

त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि।।

ऋ. 5/3/2

इससे यह अभिलक्षित होता है कि समाज में परिवार की शान्ति बनाए रखने के लिए आवश्यक तत्त्वस्वरूप, बीजरूप, सामञ्जस्य की भावना वैदिक समय में पति-पत्नी में थी। पति व पत्नी में एक-दूसरे के लिए हीन-भावना नहीं थी, अपितु दोनों परस्पर समानता की भावना से युक्त थे।

वैदिक काल में नारियाँ अलङ्कृत होकर रहती थीं, विवाह के अवसर पर कन्यायें आभूषण आदि अलंकारों को धारण करती थीं, ऐसा उपमाओं में स्पष्ट वर्णन है। वे महोत्सवों में सुसज्जित होकर जाती थीं।[45] न केवल स्त्रियाँ ही अपितु पुरुष भी वैदिक उपमाओं में स्वर्ण आभूषणों से अलङ्कृत दीखते हैं।[46] ऋग्वेद की एक उपमा में अग्नि देवता को आभूषण के समान प्रकाशमान बताया गया है।[47] वैदिक काल में नारियाँ अपने इ़ष्ट मित्रों को उपहार भी भेंट करती थीं।[48] ऐसा विविध उपमानों से ज्ञात होता है।

वैदिक आर्यों का पारिवारिक जीवन अत्यन्त उन्नत और विविधता से परिपूर्ण रहा है। पिता, माता, पुत्र, दुहिता, पति, पत्नी, भ्राता, यमज, जामाता, मित्र, अतिथि आदि से संबंधित प्रयुक्त उपमाओं से इसका सही अनुमान लगाया जा सकता है।

वैदिक कुटुम्ब पितृमूलक हुये हैं, इसलिए पिता अति सम्माननीय माना गया है और वेदों में वह अत्यधिक उपमान के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस वर्ग की उपमाएँ अधिकतर भावप्रवण हैं, यह हमने अपने इस कोष के 'वैदिक उपमान' प्रकरण में स्पष्ट किया भी है। इन उपमाओं से प्रकट होता है कि वेदों में चित्रित समाज में पिता का कैसा ऊँचा स्थान होता था। उसी प्रकार ये उपमाएं ज्येष्ठ और कनिष्ठ पुरुषों का पारस्परिक प्रगाढ़ संबंध भी चित्रित करती हैं। शिशु का अपने स्नेह-पूरित पिता के पास निशंक होकर जाना वहाँ बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त किया गया है।

वैदिक उपमानों में वृद्धों के लिए रण्वः, पुरीव, जूर्यः, सूनुर्न, त्रययाय्यः आदि पदों का प्रयोग हुआ है। समाज में वृद्धों का बड़ा सम्मान था। समय-समय पर वृद्धों को वस्त्र आदि से सम्मानित किया जाता था। एक

उपमा में व्यत्यय के बल से इसके संकेत मिलते हैं।[49] इसे ही अथर्ववेद और परवर्ती साहित्य में 'स्वधा' कहा है। 'स्वधा' में वे सब चीजें आती हैं जिनसे वृद्धों के जीवन यापन का कार्य चल सके। वृद्धजन पितर कहलाते थे। 'स्वध ाकार' का सम्बन्ध पितरों के साथ इसीलिए है। संहितेतर साहित्य में इसके प्रमाण मिलते हैं।[50] अथर्ववेद में तो स्पष्ट आता है–'पितृभ्यः..... स्वधा' (18/4/73)। इसके अतिरिक्त अन्य भी प्रमाण इस वेद में मिलते हैं।[51]

वैदिक संस्कृति मनुष्य को दीन-हीन स्थिति में देखना नहीं चाहती। वह तो उसे धनैश्वर्यों का स्वामी बनाना चाहती है। ऐसे धन का स्वामी जो दीन-दुखियों के काम आ सके। इसीलिए धनवान् व्यक्ति का दाता, दानी आदि के रूप में बड़ा सम्मान था। वैदिक उपमानों से यह बात स्पष्ट होती है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर दक्षिणा को दान से श्रेष्ठ बताया गया है। प्रथम मण्डल में दान को दक्षिणा से उपमित किया गया है, कहा गया है कि तुम्हारा दान यजमान की दक्षिणा के समान कल्याणकारी और वर्षा के सदृश स्थायी प्रभाव वाला है।[52] इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिणा उपमान होने के कारण उपमेय रूप दान से श्रेयस्करी है।

दक्षिणा देनेवाला व्यक्ति वैदिक समाज में सर्वाग्रणी होता था। उसे किसी भी समारोह पर सादर आमन्त्रित किया जाता था।[53] इससे अभिलक्षित होता है कि दक्षिणा देने वाले का समाज में कैसा ऊँचा स्थान होता था? अनेक उपमाओं के अनुशीलन से तत्कालीन वस्त्र-परिधान, परिधान-विधि, अलङ्करण, भूषा सज्जा और केशसज्जा आदि का ज्ञान होता है। वैदिक युग में विभिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। उस युग में आभूषण पहनने की प्रथा भी थी। वे स्वर्ण, रत्न, मणि और मोती से बने हुए होते थे। लोग प्रतिष्ठा के लिए मुकुट और पगड़ी भी पहनते थे।

वैदिक युग में केश-विन्यास उपेक्षित नहीं था। वेद में 'क्षुर' शब्द का उल्लेख मिलता है।[54] जिससे 'उस्तरा' अर्थ अभिप्रेत है। इससे संकेत मिलता है कि पुरुषवर्ग में दाढ़ी-मूँछ मुंडवाने की प्रथा थी। लोग समय-समय पर दाढ़ी मूँछ साफ करवाते थे। ऐसा ऋग्वेद की एक उपमा में स्पष्ट संकेत मिलता है–वप्तेव श्मश्रु वपसि प्रभूम (10/142/4) ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'अलंकृत' के लिए 'परिष्कृत' पद आया है। मन्त्र इस प्रकार है–

परिष्कृतास इन्दवो योषेव पित्र्यावती।

वायु सोमाअसृक्षत॥ (9/46/2)

पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है–'पितावाली कन्या जैसे वीर्यवती होकर बलवान् वर के पास अलंकृत होकर जाती है वैसे ही निष्णात ब्रह्मचारीगण अलंकृत, नववस्त्र क्षौर आदि से पवित्र होकर ज्ञानी गुरु को प्राप्त करते हैं।'

उक्त मन्त्र के अनुसार यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि वैदिक लोग जहाँ नये-नये वस्त्रों को पहनकर अलंकृत होते थे वहीं क्षौर कर्म भी करते थे। नारियाँ तो प्राय: अलंकृत होकर रहती थीं।

वैदिक समाज प्रकृति की गोद में बैठकर अनन्त की खोज में मग्न था। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में तो स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वह व्यापक प्रभु नदियों के संगम और पर्वतों की तलहटी में ध्यानावस्थित होकर मिलता है। इस प्रकार वैदिक लोगों के जीवन के साथ-साथ नदियों और पर्वतों का निकट संबंध रहा है। अकेले ऋग्वेद में ही 25 नदियों का उल्लेख है। वेदों में नदियों को जहां घृत के तुल्य पुष्टिकारक और मधुरजल देने वाली बताया गया है (ऋ 10/64/9) वहीं इनसे प्रार्थना की गयी है कि वे हमें इसी प्रकार सुखी बनावें, जैसे वर्षा औषधियों को (ऋ 6/52/6)। ऋग्वेद (10/121/4) में जहाँ हिमाच्छादित पर्वत का वर्णन है वहीं अक्षसूक्त के प्रथम मन्त्र की उपमा में **मूजवन्त** नामक एक पर्वत शिखर का भी उल्लेख किया गया है, जहाँ सोम की प्रचुरता दिखाई गई है।[56] एक उपमा में आता है–जैसे नदियाँ खेतों को जल से सींचती हैं, जैसे गौ बछड़े को चाटती है उसी प्रकार शोभनकर्मा यजमान अग्नि को घी से सींचते हैं।[57] इस उपमा से ज्ञात होता है कि वैदिक समाज अपने खेतों की सिंचाई नदियों से करता था। अनेक उपमाओं में समुद्र और पर्वतों का भी वर्णन आता है। सूर्य की किरणें, आकाश, वृष्टि-बादल, विद्युत्, वात आदि भी प्रकृति से लिये गये उपमानों में प्रमुख हैं। इन उपमानों से नि:संदेह उन वेदकालीन ऋषियों का सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण भी प्रतिभासित होता है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति को जगत् की आत्मा माना है। प्राकृतिक पदार्थों के साथ उनका स्वाभाविक तादात्म्य स्थापित हुआ था। अत: स्वभाव से ही अनेक प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों से लिये गये उपमान किसी अतीव सुन्दर और नूतन समानता की सृष्टि करते हैं।

मनुष्य की व्यावहारिक उत्कृष्टता ही आचार है। मानव जीवन में

आचार का बड़ा महत्व है। समाज का प्रत्येक वर्ग आचरण के कारण ही अपनी जीविका चलाता है। आचार कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित, बुद्धि और तर्क से सम्बन्ध रखता है।

आचरण (आचार) दो प्रकार का होता है-सदाचार और दुराचार। सदाचार में सत्य, अहिंसा, दान और सामञ्जस्य तथा दुराचार में चोरी, व्यभिचार और जुआ जैसी कुप्रवृत्तियाँ आती हैं। वैदिक उपमाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदों में सत्य, अहिंसा, दानवृत्ति, अस्तेय, वाणी में मधुरता आदि गुणों को अपनाने पर बल दिया गया है एवं इनसे विपरीत दुर्गुणों के भयंकर परिणाम गिनाये गये हैं।

वैदिक समाज सामञ्जस्य की भावना से ओतप्रोत था। वैदिक उपमाओं में सामूहिक रूप से अपने पारिवारिक सदस्यों के लिये कल्याण की कामना में प्राप्त स्तुतियां भी बहुलता से मिलती हैं। संतान, गर्भ, घर और पारिवारिक कल्याण के लिए अनेक स्तुतियां प्राप्त होती हैं। एक ऋचा में कहा गया है-

'हे वास्तोष्पति! आप हमारा पालन करें, जैसे पिता पुत्र का पालन करता है।'[58]

वेदों में आचार की प्रशंसा और अनाचार की निन्दा की गई है। अक्षसूक्त (ऋग्.10/34) मानव की स्वार्थ परायणवृत्ति पर नैतिक उपदेश व्यक्त करता है, इसमें द्यूतकार के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का उपमा के माध्यम से सजीव चित्रण मिलता है। वेदों में जहाँ चोरी के प्रति घृणा व्यक्त की गई है वहीं व्यभिचार को अनाचार बताते हुए व्यभिचारी व्यक्ति की निन्दा की गई है। वैदिक उपमाओं में दुराचारी, पापाचारी और असत्यभाषियों की घोर निन्दा की गई है और उन्हें ही नरक की उत्पत्ति का कारण घोषित किया गया है। कहा है-'भ्रातृहीन स्त्री जिस प्रकार कुमार्ग पर चलती है अथवा पति से द्वेष करने वाली स्त्रियाँ जिस प्रकार दुराचारिणी हो जाती हैं, उसी प्रकार दुराचारी नैतिक नियमों का उल्लंघन करने वाले, असत्य बोलनेवाले पापियों ने इस अगाध नरक स्थान को उत्पन्न किया है।'[60]

वैदिक समाज में मनोरंजन के कतिपय साधन थे, जो तात्कालिक व्यक्तियों की अभिरुचि को प्रदर्शित करते हैं। इनमें घुड़सवारी और घुड़दौड़, आखेट, प्रहेलिकाएं आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक समाज मेलों के आयोजन में भी रुचि रखता था। इन आयोजन में कलात्मक प्रतियोगिताओं को भी स्थान मिलता था। ऋग्वेद में उत्सव के लिए **'समन'** शब्द मिलता है।

समन में धनुर्धारी अपनी धनुर्विद्या के प्रदर्शन और कविगण प्रसिद्धि के लिए जाते थे। संगीत की तीनों विधाओं का उल्लेख मिलता है। विविध वाद्ययन्त्रों का परिचय भी मिलता है। ऋग्वेद में तो नर्तक के पैर से उड़ती हुई धूल का वर्णन किया गया है।[61] मनोरंजन के साधनों में वैदिक समाज में द्यूत प्रमुख साधन था। द्यूतकार जुआ खेलकर और पासों की क्रीड़ा देखकर निरन्तर उत्साहित होता था और सोमपान के समान हर्ष को प्राप्त करता था।[62]

इसके साथ ही साथ अश्व की पीठ पर सवार होकर दौड़ना, रथ-दौड़ की प्रतिस्पर्धाएँ, शिकार करना आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ वैदिक समाज में प्रचलित थीं। इसलिए वैदिक ऋषियों ने इन क्षेत्रों से भी उपमान लिए हैं। ऐसा हम इस कोष के पूर्वार्द्ध के अन्तर्गत तृतीय अध्याय (वैदिक उपमान) में स्पष्ट कर चुके हैं।

एक मन्त्र में कक्षीवान् अश्विनी कुमारों की स्तुति करता हुआ कहता है कि–हे अश्विनी कुमारो! तुम्हारा रथ 'कार्ष्म' के समान है। कार्ष्म शब्द 'काष्ठ' का वाचक है। ''जिस प्रकार दौड़ की प्रतियोगिता की सीमा को ध्यान में रखते हुए कोई शीघ्रगामी (तेज दौड़नेवाला) निर्दिष्ट लक्ष्यभूत काष्ठ तक सभी धावकों से पूर्व पहुँच जाता है, इसी प्रकार सभी देवताओं से पूर्व शीघ्र सीमा को प्राप्त करने वाले अनुष्ठान पूरक तुम्हारे अश्व पर जयन्ती के समान विजयिनी सूर्य की पुत्री सवार हो गई।'

जुआरी के सदैव अधार्मिक होने से और समाज में उसकी प्रतिष्ठा की हानि होने से मनस्वियों ने द्यूत (जुआ खेलना) की निन्दा की थी। उषा उसी प्रकार प्राणिमात्र की आयु को जीर्ण करती है जिस प्रकार जुआरी अपने ध न को कम करता है–

श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आ मिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः

(ऋग्. 1/92/10)

वैदिक समाज में जहाँ अश्वों का पालन होता था वहीं अन्य पशु भी पाले जाते थे। प्रकृति की गोद में रहने वाले वैदिक जनों के मनों में पशु-पक्षी और कीट आदि जीवों का अस्तित्व निश्चय ही उपेक्षा का विषय नहीं था। इसीलिए छोटे-से-छोटे जीवों का भी वैदिक ऋषियों के कल्पना-जगत् में मुक्त सञ्चरण हुआ। इस कारण से वेदों में अनेक प्रकार के पशु-पक्षी और कीट आदि उपमान रूप में दिखाई पड़ते हैं। कृषि प्रधान वैदिक समाज में गाय का अतीव महत्वपूर्ण स्थान था। बैल, अश्व, वत्स, भैंसा, छाग, श्वा,

हरिण, सिंह, रीछ, ऊँट, मृग, शकुन, पर्णवी, बाज, हंस, चकवा-चकवी, गीध, कपोत-कपोती, साँप, मूषक आदि पशु-पक्षी एवं कीट जगत् से वैदिक समाज भलीभाँति परिचित था।[63] इनसे संबंधित उपमाओं से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों का प्राणिविज्ञान (Zoology) से संबंधित ज्ञान कितना उच्चकोटि का था। इन प्राणियों से संबंधित उपमाओं से पता चलता है कि वैदिक समाज ने वात्सल्यता, शक्तिमत्ता रक्षकत्व, भयंकरता, हिंसकता, स्वच्छन्दगामिता, अनुशासनप्रियता, एक-दूसरे के प्रति दृढ़ अनुराग आदि गुण इनसे भी सीखे हैं। वेदों में पशुपालकों के लिए पशुपा, गोपाः आदि पद प्रयुक्त हुए हैं।[64] गोशाला का ज्ञान तत्कालीन समाज को था। एक उपमा में आता है-**शीत से पीड़ित गौएँ जैसे उष्ण गोशाला को जाती हैं उसी प्रकार लोग परमेश्वर की शरण लेते हैं।**[65]

खाद्य पदार्थों से सम्बद्ध उपमानों से ज्ञात होता है कि उस समय सोम, घी, दूध, मधु, जौं आदि शाकाहारी पदार्थों का ही सेवन होता था।[66] एक उपमा में शिलाखण्ड या मुसल से अन्न कूटने की चर्चा आती है।[67] अन्यत्र उपमा में सुख का कारण अन्न से पूरित भवन माना गया है।[68]

वैदिक समाज ठीक प्रकार से विकसित समाज हुआ है वह अनेक वर्गों में सुव्यवस्थित रूप से बँटा हुआ था। किन्तु वहाँ कठोर जाति-प्रथा नहीं थी। समाज का विभाजन गुण और कर्म के विभाग से ही हुआ था। किसान, क्षेत्रपाल, यात्री, कवि, स्वामी और सेवक, दूत, भृत्य, लुहार, बढ़ई, नापित, भारवाहक, नाविक, स्वर्णकार, शिल्पी, योद्धा, चौर, मद्यप, गोपाल आदि सभी प्रकार के मनुष्य वहाँ हुए हैं। इनसे संबंधित उपमाएं वैदिक समाज का स्पष्ट दर्शन कराती हैं। घर की वस्तुओं की उपमानता, अनेक प्रकार के यन्त्रों-पात्रों और अस्त्र-शस्त्रों की उपमानता, मनोविनोद और क्रीड़ा-केलियों की उपमानता से वैदिक आर्यों की सभ्यता और सांस्कृतिक इतिहास यथावत् उपस्थित होता है। ऐसा इस कोष के पूर्वभाग में वैदिक उपमान वाले अध्याय में भी अवलोकनीय है।

वैदिक युग में घर सुन्दर होते थे। ऐसा वैदिक कवियों द्वारा घर को बनाये गये उपमानों से ज्ञात होता है। कौटुम्बिक व्यवस्था के समुचित विकास हो जाने के कारण वैदिक पुरुष अपने घरों में अनेक प्रकार की वस्तुएं रखते थे। वे धन को अपने आधीन करने में तत्पर रहते थे। वहाँ धन तो प्रायशः गोधन, गजधन और वाजि (अश्व) धन के रूप में होता था। बेशकीमती

(बहुमूल्य) वस्त्र, आभूषण, सोना और चाँदी भी उनके लिए वाञ्छित वस्तुएं रही हैं। वैदिक आर्यजन अनेक प्रकार के यन्त्रों, पात्रों और अन्य उपकरणों के प्रयोग की उत्कृष्टता को प्राप्त कर चुके थे। वैदिक ऋषियों ने अपने दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले अनेक प्रकार के उपकरणों तथा वस्तुओं का उपमान के रूप में प्रयोग किया है। इसके उदाहरण प्रस्तुत कोष के पूर्वभाग में देखे जा सकते हैं। वैदिक समाज में अतिथि का बड़ा सम्मान था। मित्र कभी धोखा नहीं देता था। भावात्मक उपमानों में आत्मा, मन, बुद्धि, आयु, वाणी, स्तुति, पाप, भय, भोग, पुष्टि, यज्ञ आदि का प्रयोग हुआ है। इसके विदित होता है कि वैदिक समाज आध्यात्मिक था। लोग प्रातः सूर्योदय वेला में यज्ञ करते थे।[69] वे भोगों को त्यागपूर्वक ही भोगते थे। क्योंकि लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि जैसे मेघ सूर्य की किरणों को ढक लेता है उसी प्रकार रूप को बुढ़ापा नष्ट कर देता है।[70]

वैदिक समाज में कृषि होती थी। कृषि से संबंधी उपकरणों का ज्ञान वैदिक आर्यों को अच्छी प्रकार था। ऐसे संकेत अथर्ववेद की एक उपमा में भी मिलते हैं–

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु॥ (10/6/33)

वैदिक काल में वैद्यक एक व्यवसाय था। चिकित्सक की परिभाषा उपमा के माध्यम से करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि जहाँ औषधियाँ राजा की समिति-सभा के समान एकत्रित होती हैं और जो मेधावी उनके गुण-धर्म का ज्ञाता है वही चिकित्सक कहलाता है क्योंकि वह रोगों का शमन करने वाले विभिन्न यत्नों को प्रयुक्त करता है–

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीव चातनः॥ (10/97/6)

एक मन्त्र में तो परिवार के एक सदस्य के व्यवसाय रूप में वैद्यक का उल्लेख किया गया है।[71] ऋग्वेद में आधिदैविक दृष्टिकोण से विभिन्न देवताओं की प्रार्थना रोग-निवारण के लिए की गई है, किन्तु मात्र यही प्राचीन चिकित्सा उस समय नहीं थी। देवव्यपाश्रय के अतिरिक्त, औषधियों के द्वारा युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा भी होती थी। यह युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा वैद्यकाधीन थी। वैदिक काल में लोक का जीवन वनस्पतिमय था। वैद्य इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि कृमियों तथा दोषों के अतिरिक्त विष भी

रोगों के उत्पादक कारण हैं। काय चिकित्सा और शल्य चिकित्सा दोनों में सिद्धहस्त व्यक्ति को 'अश्विनौ' की उपधि दी जाती थी।[72] ऐसे संकेत भी मिलते हैं कि उस समय सौर, जल, वायु, स्पर्श और मानस चिकित्सा भी प्रचलित थी।

वैदिक समाज तायु, तस्कर, स्तेन आदि चोरों के तीन भेदों से परिचित था। वैदिक उपमाओं से ज्ञात होता है कि चोरों की जो टोली रात्रि में चोरी करने निकलती थी और सूर्योदय के पूर्व ही भाग जाती थी वह तायु कहलाती थी।[73]

वैदिक उपमाओं के अनुसार 'तस्कर' रात्रि के गहन अन्धकार का लाभ उठाकर अपने पाप-कर्मों को किया करते थे।[74]

'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू

रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्' (ऋ. 10/4/6) मन्त्र में आयी उपमा में तस्कर का वर्णन आया है। वे भयावह जंगलों में छिपे रहते थे और अपना जीवन संकटों में डाले रखते थे।[75]

स्तेन-समुदाय भी रात्रि में ही चोरी करने हेतु घूमता था। इनको देखकर कुत्ते वैसे ही भौंकते थे जैसे तस्करों को देखकर भौंकते थे।

उपर्युक्त के अतिरिक्त चोरों को तक्वाः, रिफः, तायुः, वनर्गु, हुरश्चित्, मुषवान्, अघशंस और वृक भी कहा जाता था।[76]

वैदिक लोग कायर नहीं अपितु युद्धभूमि में अश्व के समान गतिवाले थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इसके बारे में आता है–

अग्निं हिन्वन्तु नो धियः

सप्तिमाशुमिवाजिषु (10/156/1)

ऐसी उपमाओं से वेदकालीन आर्यों की वीरता पर प्रकाश पड़ता है। वेदों में वर्णित मनुष्य महान् योद्धा हैं। युद्ध-क्षेत्र से लिये गए बहुत से उपमानों से यह बात सिद्ध होती है। ऐसे उपमानों में संग्राम का घोड़ा, शूर, अशनि, बाण, रथ, कवची, धनुर्धारी, संग्राम की ध्वजा, कवच, दुन्दुभि, आयुध, दुर्ग आदि प्रसिद्ध हैं। इन्द्र के स्तुतिपरक सूक्तों में आयी उपमाओं में इन्द्र की अलौकिक बलशालिता और युद्धप्रियता का वर्णन बारम्बार किया गया है। जिससे पता चलता है कि वैदिक युग अत्यधिक क्रियाशीलता का युग था और उस समय के लोग जिज्ञासा के और विजय के साहसिक कार्यों में संलग्न थे। दैत्यों के दलन में और सोमरस के पान में इन्द्र का बल निश्चय

ही अतुलनीय हैं। उसकी महिमा समुद्र के समान विस्तृत बतायी गयी है। एक उपमा से ऐसा संकेत मिलता है कि उस समय के लोग ऊँचे कद के लम्बे होते थे।[77]

सभी प्राणियों से प्रेम करना तत्कालीन समाज का मुख्य कर्त्तव्य था, उनके जीवन का मूल-मन्त्र था। शत्रु के क्रोध को अपहृत कर वे उसे प्रेम का सन्देश देते हैं।[78] वे लोग सम्पूर्ण समाज में एकता की स्थापना चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं।[79] वहाँ कोई भी किसी से ईर्ष्या नहीं करता है।[80]

वेदों में धन-समृद्धि अर्थात् लक्ष्मी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[81] एक मन्त्र में आता है कि हम सब ऐश्वर्य की ओर उसी प्रकार जायें जैसे वेगवान् अश्व युद्ध की ओर जाते हैं।[82] वैदिक संस्कृति दरिद्रों की संस्कृति नहीं है। तथापि वहाँ धर्म से, ईमानदारी से, न्याय से अर्जित लक्ष्मी का स्वागत किया जाता है न कि अधर्म से, अन्याय से, बेइमानी से अर्जित सम्पत्ति का।[83] राष्ट्र में सर्व-धर्मावलम्बी मनुष्य एक घर की तरह रहते हैं, उनमें परस्पर कलह नहीं हैं।[84] परन्तु राष्ट्र के जो शत्रु हैं उनका उन्मूलन निश्चित ही किया जाता है।[85] आत्मविश्वास, निर्भयता और आशावाद वैदिक संस्कृति के मुख्य अंग हैं।[86]

वैदिक समाज अनेक छोटे-छोटे अधिकृत दलों (गणों) में बँटा हुआ था, अधिकार में आये हुए गणों का नेता 'विश्पति' होता था। वेदों में अधिकतर देवताओं को विश्पति, सत्पति या कुलपति की उपमा दी गई है। ऋषि इन्द्र से दूर से आने की उसी प्रकार प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार नेता सभा में जाता है, अथवा जिस प्रकार राजा आवास में जाता है—

विदथानीव सत्पतिरस्तं राजेव सत्पतिः (ऋ. 1/130/1)

वैदिक उपमाओं में जहाँ-जहाँ राजा को उपमान बनाया गया है वहाँ-वहाँ उससे दयालुता, दर्शनीयता, गौरवता, प्रजा-संरक्षण और शत्रु-संहार की कामना अभीप्सित है।

इस प्रकार उक्त वर्णन से यह स्फुट होता है कि वेद उपमा अलंकार के माध्यम से सब प्रकार से परिपूर्ण समाज की कल्पना करके दिव्य संस्कृति का प्रकाश करते हैं। यहाँ वह संस्कृति निर्दिष्ट है जिसमें विद्वेष, आतंक, परिताप और कटुता का लेशमात्र भी दर्शन नहीं होता। समस्त संसार को अपना कुटुम्ब मानना चाहिए—इस प्रकार उसका यही सन्देश है। वर्तमान समय

में जब चारों ओर परमाणु युद्ध के बादल शिर पर मँडरा रहे हैं, समस्त विश्व विनाशोन्मुख है, मनुष्य-मनुष्य की रक्त की धारा को नगर, ग्राम, अरण्य में सर्वत्र प्रवाहित कर रहा है, बलवान् निर्बल को निगलना चाहता है, जहाँ जीवन ही दूभर हो गया है, सभी मनुष्य स्वार्थ में डूबकर अन्धों की तरह आचारण करते हैं, तब इस अजर अमर वैदिक संस्कृति के उपयोग का महत्त्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए यजुर्वेद में इसको विश्व की प्रथम संस्कृति बताकर इसकी प्रशंसा की गयी है–

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा (7/14)

पाद-टिप्पणियाँ

1. संस्कृत निबन्ध शतकम्, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृ. 173, द्वितीय संस्करण, संवत् 2036 वि.
2. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत्।
   इन्द्रश्चर्मेव दोदसी।। अथर्व. 20/107/2
3. बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।। अथर्व.4/16/1
4. अनूनेन बृहता वक्षथेनोप स्तभायदुपमिन्न रोधः ।। ऋग्. 4/5/1
   परिद्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
   वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः।। (अथर्व. 2/1/4)
5. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। (ऋग्. 1/164/46)
   तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
   तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।। (यजु. 32/1)
6. श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुषर्भुत्। (ऋ. 1/65/5)
7. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत् धर्मार्थौ नानुचिन्तयेत्।
   कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्वार्थमेव च।। (मनुस्मृति 4/92)
8. विश्वासु विक्ष्ववितेव। (ऋ. 8/71/15)
9. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु। (ऋ. 3/29/2)

इस मन्त्र पर पं. विश्वनाथ जी का भाष्य अवलोकनीय है।

10. छायेव विश्वं भुवन सिसक्ष्या पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्। (ऋ. 1/73/8)

11. अयं यथा न आभुवत्त्वष्टा रूपेव तक्ष्या। (ऋ. 8/102/8)

12. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।। (ऋ. 10/72/2)

13. अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे।
दूतो जन्येव मित्र्यः।। (ऋग्. 2/6/7)

14. स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः। (ऋ. 1/99/1)
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये। (ऋ. 1/97/8)

15. देखो, ऋग्वेद 1/1/9; 1/26/3, 3/18/1, 5/15/4, 6/10/2, 7/6/6 तथा 10/69/10

16. आ सवं सवितुर्यथा भगस्येव भुजिं हुवे। अग्निं समुद्रवाससम्।। (ऋ. 8/102/6)

17. तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। (ऋ. 10/4/6)
देख इस मंत्र पर आचार्य वैद्यनाथ कृत अर्थ।

18. वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।। अथर्व 20/17/4
मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम्।
इन्द्रं वत्सं न मातरः।। (अथर्व. 20/23/5)
यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते।
उर्वीरापो न काकुदः। (अथर्व. 20/71/3)

19. धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन्।। (ऋ. 10/4/1)

20. न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन। (अथर्व. 5/19/10)

21. निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।। (अथर्व. 5/18/4)

22. तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना।। (अथर्व. 5/19/8)

23. तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।

श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम्।। (अथर्व. 4/36/6)

ते अधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्। (अथर्व. 3/6/7)

अविं वृक इव मथ्नीत सवो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत।। (अथर्व. 5/8/5)

गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः।। (अथर्व. 19/50/3)

24. आण्डात् पतत्रीवा मुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि।। (अथर्व. 14/2/44)

25. यथा मक्षा इदं मधु न्यज्जन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजस्य ध्रियताम्।। (अथर्व. 9/1/17)

26. अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम्।। (अथर्व. 5/30/9)
यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तवः ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयेषाम्।। (अथर्व. 12/2/25)

27. इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।। (अथर्व. 14/2/26)

28. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।। (अथर्व. 14/1/43)

29. अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः।। (अथर्व. 14/1/17)

30. सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। (अथर्व. 14/2/28)

31. वधूमिव त्वा शाले यथाकामं नयामसि।। (अथर्व. 9/3/24)

32. रात्रीव शाला जगतो निवेशनी। मिता पृथिव्यां तिष्ठसि
हस्तिनीव पद्वती। (अथर्व. 9/3/17)

33. अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजातै लिबुजेव वृक्षम्।। (अथर्व. 18/1/15)

34. आ बन्धुरेव तस्थतुर्दुरोणे, ऋग्. 3/14/3 मन्त्र का भाष्य करते हुए पं. जयदेव विद्यालंकार ने लिखा है–हे अग्ने! परस्पर की कामना करते हुए स्त्री और पुरुष दोनों तेरे सन्मुख आवें और वे दोनों गृह में रथ के युग में

जुड़े ईषा नामक दो बांसों के समान परस्पर बंधकर रहें।

35. धेनुः सुदुघा इव (ऋग्. 7/2/6)

36. कन्येव तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती।। (ऋग्. 1/123/10)

37. अग्र एति युवतिरह्रयाणा, ऋग्. 7/80/2
एवेद् यूने युवतयो नमन्त, ऋग्. 10/30/6

38. जाया इद् अस्तम्। ऋग्. 3/53/4, तुलनीय : न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। म.भा. 12/145/6

39. वैदिक नारी, डॉ. रामनाथ वेदालंकार, पृ. 26, समर्पण शोध संस्थान, नई दिल्ली।

40. को वां शयुत्रा **विधवेव देवरं** मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ। (10/40/2)

41. ''अश्वो न क्रन्दनञ्जनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगे युगे।''
सायण ने पत्नीवाची **'जनयः'** का अर्थ घोड़ियाँ किया है। जैसे घोड़ियाँ स्तन्यपान आदि द्वारा घोड़े को पुष्ट करती हैं; वैसे अग्नि को स्तोता प्रदीप्त करते हैं। पर यदि **'जनयः'** का अर्थ घोड़ियाँ लेना भी हो तो श्लेष से घोड़ियाँ तथा पत्नियाँ दोनों अर्थ लेने चाहिएं। ऐसा डॉ. रामनाथ वेदालंकार ने 'वैदिक नारी' में पृ. 39 पर टिप्पणी 4 में लिखा है।

42. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ, ऋग्. 8/33/19

43. देखो, ऋग्. 10/168/2

44. देखो, ऋग्. 10/124/3

45. देखो, ऋग्. 1/85/1, 1/124/8, 9/46/2
कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभिचाकशीमि। ऋग्. 4/58/9

46. देखो, प्रस्तुत कोष में 'वैदिक उपमान' नामक अध्याय।

47. घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम्।
तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः।। देखो ऋग्. 4/10/6

48. देखो, ऋग्. 5/52/14

49. जूर्न वस्त्रैः, ऋग्. 2/14/3

50. स्वधाकारो हि पितृणाम् तै. 1/6/9/5, 3/3/6/4

    स्वधाकारं पितरः (उपजीवन्ति) श. 14/8/9/1

    स्वधा वै पितृणामन्नम् श.13/8/1/4

51. प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि। अथर्व. 18/3/42

    स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना। अथर्व. 18/4/39

    स्वधा पितृभ्यः। अथर्व. 18/4/78-80

52. भद्रा वो रातिः पृणतो न दक्षिणा

    पृथुज्रयी असुर्येव जञ्जती, ऋग्. 1/168/7

53. दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।

    तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय।। ऋ. 10/107/5

54. देखो, ऋग्. 2/166/10, 8/4/16

55. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।

    धिया विप्रो अजायत।। यजुर्वेद 26/15, सामवेद मं.सं. 143, ऋग्. 8/6/28

    ऋग्वेद में **'संगमे'** के स्थान पर **'संगथे'** पद का प्रयोग हुआ है।

56. सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः, ऋ. 10/34/1 का अर्थ करते हुए पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने लिखा है–'मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न सोमलता के भक्षण योग्य रस के समान आस्वादन योग्य।'

57. पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्। ऋ. 7/2/5

58. पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व। ऋग्. 7/54/2

59. देखो, ऋग्. 4/5/5

60. पापासः सन्तो अनृताअसत्या इदं पदमजनता गभीरम्। ऋग्. 4/5/5

61. देखो, ऋग्. 10/72/6

62. देखो, ऋग्. 10/34/1

63. देखो, प्रस्तुत कोष में 'वैदिक उपमान' नामक अध्याय।

64. देखो, ऋग्. 4/6/4, 10/142/2
65. गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ, ऋग्. 10/4/2
66. देखो, डॉ. हेमलता सिंह, ऋग्वेद के अग्निसूक्तों की उपमाओं का अध्ययन, पृ. 75-76
67. ग्रावा सोता इव, ऋग्. 4/3/3
68. पितुमान् इव क्षयः, ऋग्.1/144/7
69. अबोध्यग्निः ... धेनुमिवायतीमुषासम्, ऋग्. 5/1/1
70. नभो न रूपं जरिमा मिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि, ऋग्. 1/71/10
71. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना, ऋग्. 9/112/3
72. देखो, अत्रिदेव कृत 'आयुर्वेद का बृहत् इतिहास' पृ. 17
73. अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यकुभिः। सूराय विश्वचक्षसे। ऋग्. 1/50/2
74. एते उ त्ये प्रत्यदृश्रन् प्रदोषं तस्करा इव, ऋग्.1/191/5
75. देखो, ऋग्वेद में लौकिक सामग्री, डॉ. रमन पाल, इण्डोविजन प्रा. लि. गाजियाबाद, पृ. 80
76. देखो, ऋग्वेद 1/66/1, 2/23/16, 1/50/2, 10/4/6, 1/42/3, 4/42/3, 1/42/4, 1/42/2 आदि।
77. देखो, ऋग्. 10/106/9
78. अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः/अथर्व. 6/42/1
79. यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै।। अथर्व. 6/42/1
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। अथर्व. 3/30/1
80. ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव।। अथर्व. 6/18/3
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय।। अथर्व. 7/47/1
81. अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु। अथर्व. 3/16/6
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्। अथर्व. 3/24/3
यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु।। अथर्व. 10/6/33
82. देखो, ऋग्. 4/5/13

83. एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।। अथर्व. 7/120/4

84. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।। अथर्व. 12/1/45

85. अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत।। अथर्व. 5/8/4

86. वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति। अथर्व. 2/12/3
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्ऱण मा बिभेः।। अथर्व. 2/15/3

निर्देशिका (*Index*)
(सूचना - अंक पृष्ठबोधक हैं)

त, थ

द

सम्मतियाँ

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य प्राध्यापक रीडर डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री के शोध ग्रन्थ **'वैदिक उपमा-कोष'** का अवलोकन करके अत्यधिक प्रसन्नता हुई। विद्वान् लेखक ने इस कोष के द्वारा वैदिक साहित्य के अध्ययन में एक नया आयाम प्रस्तुत किया है। वैदिक संहिताओं के अध्ययन का यह नूतन प्रयास आगामी शोधार्थियों के लिए जहाँ दिशा निर्देश करने वाला होगा वहीं वैदिक शोध को भी इससे नयी दिशा मिलेगी।

डॉ. कृष्ण कुमार अग्रवाल
भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष
हे.नं.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय,
श्रीनगर (गढ़वाल) उत्तराञ्चल

निश्चय ही वेदों की उपमाओं के विवेचन और संङ्कलन से वैदिक अलंकारशास्त्र को एक आयाम मिला है। यह कोष आगामी शोधार्थियों के लिए वेदों के अलंकार विषयक अध्ययन में मील का पत्थर सिद्ध होगा। इस कोष के रूप में अध्ययन से जहाँ ऐतिहासिक एवं सामाजिक कई मान्यताओं पर नए तरीके से मनीषियों को विचार करने के लिए विवश होना पड़ेगा, वहीं मन्त्रगत देवताओं की विशुद्ध व्याख्या में भी इससे सहायता मिलेगी।

डॉ. महावीर अग्रवाल, डी.लिट्
सदस्य-उत्तराञ्चल संस्कृत अकादमी

वैदिक गवेषक डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री ने प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में वैदुष्यपूर्ण ढंग से वैदिक उपमा का विवेचन एवं प्रस्तुतीकरण किया है। यह शोध ग्रन्थ...उपमा जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

डॉ. रामप्रताप तिवारी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग, हे.नं.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय,
श्रीनगर (गढ़वाल)उत्तराञ्चल